ॐ

माण्डूक्योपनिषद्

गौडपादीय कारिका, शाङ्करभाष्य

तथा

हिन्दी-अनुवादसहित

पता—गीताप्रेस, गोरखपुर

मुद्रक तथा प्रकाशक
हनुमानप्रसाद पोद्दार
गीताप्रेस, गोरखपुर

सं० १९९३ से २०१३ तक २६,२५०
सं० २०१६ सप्तम संस्करण ३,०००
कुल २९,२५०

मूल्य १.०० (एक रुपया)

श्रीहरिः

भूमिका

माण्डूक्योपनिषद् अथर्ववेदीय ब्राह्मणभागके अन्तर्गत है। इसमें कुल बारह मन्त्र हैं। कलेवरकी दृष्टिसे पहली दस उपनिषदोंमें यह सबसे छोटी है। किन्तु इसका महत्त्व किसीसे कम नहीं है। भगवान् गौडपादाचार्यने इसपर कारिकाएँ लिखकर इसका महत्त्व और भी बढ़ा दिया है। कारिका और शाङ्करभाष्यके सहित यह उपनिषद् अद्वैतसिद्धान्तरसिकोंके लिये परम आदरणीया हो गयी है। गौडपादीय कारिकाओंको अद्वैतसिद्धान्तका प्रथम निबन्ध कहा जा सकता है। उसी ग्रन्थरत्नके आधारपर भगवान् शङ्कराचार्यने अद्वैत-मन्दिरकी स्थापना की थी। यों तो अद्वैतसिद्धान्त अनादि है, किन्तु उसे जो साम्प्रदायिक मतवादका रूप प्राप्त हुआ है उसका प्रधान श्रेय आचार्यप्रवर भगवान् शङ्करको है और उसका मूल ग्रन्थ गौडपादीय कारिका है।

कारिकाकार भगवान् गौडपादाचार्यके जीवन तथा जीवन-कालके विषयमें विशेष विवरण नहीं दिया जा सकता। बँगलामें 'वेदान्तदर्शनेर इतिहास'के लेखक स्वामी श्रीप्रज्ञानानन्दजी सरस्वतीने उन्हें गौडदेशीय (बंगाली) बतलाया है। इस विषयमें वहाँ नैष्कर्म्य-सिद्धिकार भगवान् सुरेश्वराचार्यका यह श्लोक प्रमाणरूपसे उद्धृत किया गया है—

एवं गौडैर्द्राविडैर्नः पूज्यैरर्थः प्रभाषितः।
अज्ञानमात्रोपाधिः सन्नहमादिदृगीश्वरः ॥*

(४ । ४४)

* इस प्रकार जो साक्षात् भगवान् ही अज्ञानोपाधिक होकर अहङ्कारादिका साक्षी (जीव) हुआ है उस परमार्थ-तत्त्वका हमारे पूजनीय गौडदेशीय और द्रविडदेशीय आचार्योंने वर्णन किया है। [यहाँ गौडदेशीय आचार्य श्रीगौडपादाचार्यको कहा है और द्रविडदेशीय श्रीशङ्कराचार्यजीको।]

श्रीगौडपादाचार्य भी संन्यासी ही थे। उनके शिष्य श्रीगोविन्दपादाचार्य थे और गोविन्दपादाचार्यके शिष्य भगवान् शङ्कराचार्य थे। शाङ्करसम्प्रदायमें जो आचार्यवन्दनात्मक मंगलाचरण प्रसिद्ध है उसमें आरम्भसे लेकर श्रीपद्मपादाचार्य आदि भगवान् शङ्करके शिष्योंपर्यन्त इस सम्प्रदायके आचार्योंकी शिष्य-परम्परा इस प्रकार बतलायी है—

नारायणं पद्मभवं वसिष्ठं शक्तिं च तत्पुत्रपराशरं च।
व्यासं शुकं गौडपदं महान्तं गोविन्दयोगीन्द्रमथास्य शिष्यम्॥
श्रीशङ्कराचार्यमथास्य पद्मपादञ्च हस्तामलकं च शिष्यम्।
तं त्रोटकं वार्तिककारमन्यानस्मद्गुरून्सन्ततमानतोऽस्मि॥*

इससे विदित होता है कि श्रीगौडपादाचार्य भगवान् शुकदेवजीके शिष्य थे।

भगवान् गौडपादाचार्यके ग्रन्थोंमें उनकी कारिकाएँ जगत्प्रसिद्ध हैं। उनका एक ग्रन्थ श्रीउत्तरगीताका भाष्य भी है, जो वाणीविलास प्रेस श्रीरंगम्से प्रकाशित हुआ है। उस भाष्यसे उनका महान् योगी होना सिद्ध होता है। इनके सिवा उनका रचा हुआ एक सांख्यकारिकाओंका भाष्य भी प्रसिद्ध है। परन्तु वह उनका रचा है या नहीं—इस विषयमें विद्वानोंका मतभेद है। अस्तु, हमें तो इस समय उनकी कारिकाओंपर ही कुछ विचार करना है।

कारिकाओंकी रचना बड़ी ही उदात्त और मर्मस्पर्शिनी है। उनकी गणना संसारके सर्वोत्कृष्ट साहित्यमें हो सकती है। यह तो ऊपर कहा ही जा चुका है कि वे अद्वैतसिद्धान्तकी आधारशिला हैं। जिस प्रकार श्रीमद्भगवद्गीताके विषयमें यह प्रसिद्ध है कि 'गीता सुगीता कर्तव्या किमन्यैः शास्त्रविस्तरैः' उसी प्रकार अद्वैतबोधके लिये यह दृढ़तापूर्वक कहा जा सकता है कि एकमात्र इस ग्रन्थरत्नका सावधानतापूर्वक किया हुआ अनुशीलन ही पर्याप्त हो सकता है। इसमें साधन, सिद्धान्त, परमतनिराकरण और स्वमत-

* शाङ्करसम्प्रदायमें शास्त्राध्ययनसे पूर्व आचार्य और शिष्यगण इस मंगलाचरणका उच्चारण किया करते हैं।

संस्थापन—सभीका शास्त्रसम्मत सयुक्तिक वर्णन किया गया है। यह एक ही ग्रन्थ मुमुक्षुओंको परमपदकी प्राप्ति करा सकता है।

इस ग्रन्थमें चार प्रकरण हैं। उनमें क्रमशः २९, ३८, ४८ और १०० इस प्रकार कुल २१५ कारिकाएँ हैं। पहला आगम प्रकरण है। इसमें सम्पूर्ण माण्डूक्योपनिषद् और उसकी व्याख्याभूत कारिकाओंके सिवा जगदुत्पत्तिके अनेकों प्रयोजनोंका वर्णन करके उनका खण्डन किया गया है। कोई भगवान्‌की इच्छामात्रको सृष्टिमें हेतु मानते हैं, कोई कालसे भूतोंकी उत्पत्ति मानते हैं, कोई भोगके लिये सृष्टि स्वीकार करते हैं और कोई क्रीडाके लिये जगत्‌की उत्पत्ति मानते हैं। इन सब पक्षोंको अस्वीकार करते हुए भगवान् कारिकाकार कहते हैं—'देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा' (१ । ९) अर्थात् पूर्णकाम भगवान्‌को सृष्टिका कोई प्रयोजन नहीं है; यह तो उनका स्वभाव ही है। अतः यह जो कुछ प्रपञ्च है बिना हुआ ही भास रहा है। परमार्थदर्शियोंका इसके प्रति आदर नहीं होता।

माण्डूक्योपनिषद्में 'ओंकारकी तीन मात्रा अ उ म् के द्वारा स्थूल, सूक्ष्म और कारण शरीरके अभिमानी विश्व, तैजस और प्राज्ञका वर्णन करते हुए उनका समष्टि-अभिमानी वैश्वानर, हिरण्यगर्भ एवं ईश्वरके साथ अभेद किया गया है। इनकी अभिव्यक्तिकी अवस्थाएँ क्रमशः जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति हैं तथा इनके भोग स्थूल, सूक्ष्म और आनन्द हैं। जाग्रदवस्थामें जीव दक्षिण नेत्रमें रहता है, स्वप्नावस्थामें कण्ठमें और सुषुप्तिके समय हृदयमें रहता है। इसीका नाम प्रपञ्च है। परमार्थतत्त्व इस सबसे विलक्षण, इसमें अनुगत तथा इसका अधिष्ठान और साक्षी है। उसे ओंकारके चतुर्थपाद अमात्र तुरीयात्मरूपसे वर्णन किया गया है। कोई भी भ्रम बिना अधिष्ठानके नहीं हो सकता; अतः इस प्रपञ्चभ्रमका भी कोई अधिष्ठान होना चाहिये। वह अधिष्ठान तुरीय ही है। तुरीय नित्य, शुद्ध, ज्ञानस्वरूप, सर्वात्मा और सर्वसाक्षी है। वह प्रकाशस्वरूप है; उसमें अन्यथाग्रहणरूप स्वप्न और तत्त्वाग्रहणरूप सुषुप्तिका सर्वथा अभाव है। जिस समय अनादिमायासे सोया हुआ जीव जगता है उसी समय उसे इस अजन्मा तथा स्वप्न और निद्रासे रहित अद्वैत-

तत्त्वका बोध होता है। इसी बातको आचार्यप्रवर गौडपाद इस प्रकार कहते हैं—

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा॥
(१।१६)

इस प्रकार आगमप्रकरणमें वस्तुका निर्देश कर जीव और ब्रह्मकी एकता तथा प्रपञ्चका मायामयत्व प्रतिपादित करते हुए वैतथ्यप्रकरणमें उसीको युक्ति और उपपत्तिपूर्वक पुष्ट किया है। वहाँ सबसे पहले स्वप्नदृश्यका मिथ्यात्व प्रतिपादन किया है, क्योंकि स्वप्नकी उपलब्धि देहके भीतर किसी नाडीविशेषमें होती है, जिसमें स्थानाभावके कारण पर्वत और हाथी आदिका होना सर्वथा असम्भव है। स्वप्नावस्थामें जीव देहसे बाहर जाकर स्वाप्न पदार्थोंको देखता हो—यह भी सम्भव नहीं है, क्योंकि एक क्षणमें ही सैकड़ों योजन दूरके पदार्थ दिखायी देने लगते हैं और उस अवस्थामें जिन व्यक्तियोंसे वह मिलता है, जाग जानेपर वे ऐसा नहीं कहते कि हमने तुम्हें देखा था। इसी प्रकार तरह-तरहकी युक्तियोंसे स्वप्नका मिथ्यात्व सिद्ध कर उससे दृश्यत्वमें समानता होनेके कारण जाग्रत्कालीन दृश्यका भी मिथ्यात्व प्रतिपादन किया है। वहाँ यह बतलाया गया है कि जिस प्रकार स्वप्नावस्थामें चित्तमें कल्पना किये हुए पदार्थ असत्य और बाहर देखे जानेवाले पदार्थ सत्य जान पड़ते हैं किन्तु वस्तुतः वे दोनों ही असत्य हैं उसी प्रकार जाग्रदवस्थामें भी मानसिक और इन्द्रियग्राह्य दोनों ही प्रकारके पदार्थ असत्य हैं। इस प्रकार जाग्रत् और स्वप्न दोनों ही अवस्थाओंका मिथ्यात्व सिद्ध होनेपर यह प्रश्न होता है कि इन चित्तपरिकल्पित और बाह्य दृश्योंको देखता कौन है? इसके उत्तरमें कारिकाकार कहते हैं—

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः॥
(२।१२)

इस प्रकार भगवान् गौडपादाचार्यके मतमें प्रपञ्चकी प्रतीति मायाके ही कारण है। 'मायाकी महिमासे ही आत्मदेव अव्यक्त

वासनारूपसे स्थित भेदसमूहको व्यक्त करता है। यह माया न सत् है, न असत् है और न सदसत् है; न भिन्न है, न अभिन्न है और न भिन्नाभिन्न है; यह न सावयव है, न निरवयव है और न उभयरूप है। वस्तुतः स्वरूपविस्मृति ही माया है; अतः स्वरूपज्ञानसे ही उसकी निवृत्ति होती है। जिस प्रकार मन्द अन्धकारमें रज्जुतत्त्वका निश्चय न होनेपर उसमें सर्प, धारा, भूच्छिद्र आदि अनेक प्रकारके विकल्प हो जाते हैं किन्तु रज्जुका ज्ञान होनेपर एकमात्र रज्जु ही रह जाती है उसी प्रकार मायामोहित जीवको ही भेदप्रपञ्चकी भ्रान्ति हो रही है; मायाका पर्दा हटते ही एकमात्र अखण्ड, अद्वैत वस्तु ही अवशिष्ट रह जाती है।

इसके आगे आचार्यने प्राणात्मवाद, भूतात्मवाद, गुणात्मवाद, तत्त्वात्मवाद, पादात्मवाद, विषयात्मवाद, लोकात्मवाद, देवात्मवाद, वेदात्मवाद और यज्ञात्मवाद आदि अनेकों मतवादोंका उल्लेख किया है। वहाँ वे कहते हैं कि लोकमें गुरु जिसको जिस भावकी शिक्षा दे देते हैं वह तन्मय भावसे उसी भावका आग्रह करने लगता है और अन्तमें उसे उसी भावकी प्राप्ति हो जाती है; किन्तु जो इन विभिन्न भावोंसे लक्षित इनके अधिष्ठानभूत अद्वितीय आत्मतत्त्वको जानता है वह निःशङ्क होकर वेदार्थकी कल्पना कर सकता है, अर्थात् इन सब भावोंकी संगति लगा सकता है। वस्तुतः तो जैसे स्वप्न, माया और गन्धर्वनगर होते हैं वैसा ही विज्ञजन इस प्रपञ्चको देखते हैं तो फिर परमार्थ क्या है ? इसका उत्तर आचार्यने इस कारिकासे दिया है।

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥

(२।३२)

तात्पर्य यह कि एक अखण्ड चिद्घन वस्तुको छोड़कर उत्पत्ति, प्रलय, बद्ध, साधक, मुमुक्षु और मुक्त किसी भी प्रकारका व्यवहार नहीं है। यह तत्त्व अत्यन्त दुर्दर्श है, क्योंकि निरन्तर व्यवहारमें ही रहनेवाले व्यावहारिक जीवकी दृष्टि इस व्यवहारातीत वस्तुतक पहुँचनी बहुत ही कठिन है। जिन वेदके पारगामी मुनि-

जनोंके राग, भय और क्रोधादि विकार सर्वथा निवृत्त हो गये हैं उन्हींको इस प्रपञ्चातीत अद्वय पदका बोध होता है। इसका बोध हो जानेपर वह महात्मा सर्वथा निर्द्वन्द्व और निर्भय हो जाता है तथा स्तुति, नमस्कार और स्वधाकारादि व्यवहारकोटिसे ऊँचा उठकर वह देह और आत्मामें ही विश्राम करनेवाला एवं यदृच्छालाभ-सन्तुष्ट हो जाता है। फिर बाहर-भीतर इसी तत्त्वको ओतप्रोत देख वह तत्त्वमय हो जानेसे उसीमें रमण करता हुआ कभी तत्त्वच्युत नहीं होता।

इस प्रकार वैतथ्यप्रकरणमें युक्तिपूर्वक द्वैताभावका प्रतिपादन कर फिर आगमप्रकरणमें शास्त्रप्रमाणसे सिद्ध हुए अद्वैततत्त्वको युक्तिद्वारा सिद्ध करनेके लिये अद्वैतप्रकरणका आरम्भ किया गया है। वहाँ आरम्भमें ही यह बतलाया गया है कि 'मेरा उपास्य अन्य है और मैं अन्य हूँ' इस प्रकारका उपासनाश्रित धर्म जातब्रह्म (कार्यब्रह्म) में है; किन्तु उत्पत्तिसे पूर्व यह सारा जगत् अजन्मा ब्रह्म ही है। अतः कार्यब्रह्मपरायण होनेके कारण यह उपासक कृपण ही है। केनोपनिषद्में भी कई पर्यायोंमें मन, वाणी और प्राणादिके साक्षीको ही ब्रह्म बतलाकर 'नेदं यदिदमुपासते' इस वाक्यसे उपास्यका अब्रह्मत्व प्रतिपादन किया गया है। इस प्रकार कार्पण्यका निर्देश कर 'अजातिसमतां गतम्' अर्थात् समभावमें स्थित अजाति—अजन्मा वस्तु ही अकार्पण्य है—ऐसा कहा है। इसके पश्चात् घटाकाशादिके दृष्टान्तसे औपाधिक भेदका उल्लेख करते हुए आकाशस्थानीय आत्मतत्त्वकी अनुत्पत्ति और असंगताका प्रतिपादन किया है। वहाँ यह बतलाया है कि जिस प्रकार एक घटाकाशके धूम और धूलि आदिसे व्याप्त होनेपर अन्य समस्त घटाकाश उससे विकृत नहीं होते उसी प्रकार एक जीवके सुख-दुःखसे समस्त जीव सुखी या दुखी नहीं होते; और वस्तुतः तो धूलि आदि आकाशका संसर्ग ही नहीं होता। इसी प्रकार आत्मा-का भी सुख-दुःखादिसे कभी सम्पर्क नहीं होता। जीवके मरण, उत्पत्ति, गमन, आगमन और स्थिति आदिसे भी आत्मामें कोई विलक्षणता नहीं होती; क्योंकि सारे संघात स्वप्नके समान आत्माकी

मायासे ही कल्पित हैं। अतः आत्मा एक, अखण्ड, अजन्मा और निर्लेप है, इसीसे 'एकमेवाद्वितीयम्' 'इदं सर्वं यदयमात्मा' तथा 'द्वितीयाद्वै भयं भवति' 'उदरमन्तरं कुरुते अथ तस्य भयं भवति' आदि श्रुतियोंसे अभेददृष्टिकी प्रशंसा और भेददृष्टिकी निन्दा की गयी है। छान्दोग्योपनिषद्में मृत्तिका-घट, अग्नि-विस्फुलिङ्ग और लोह-नखनिकृन्तनादि दृष्टान्तोंसे जो सृष्टिका वर्णन किया गया है वह जिज्ञासुकी बुद्धिमें प्रपञ्चका ब्रह्मके साथ अभेद बिठानेके लिये है; वस्तुतः प्रपञ्चभेद सिद्ध करनेके लिये नहीं है। अतः सिद्धान्त यही है कि जो कुछ भेद है वह व्यवहारदृष्टिसे है, परमार्थतः उसकी गन्ध भी नहीं है। यदि वास्तविक भेद माना जाय तो परमार्थतत्त्व उत्पत्तिशील सिद्ध होगा और इस प्रकार परिणामी होनेके कारण वह नित्य नहीं हो सकता। इसके सिवा यदि विचार किया जाय तो न तो सद्वस्तुका जन्म हो सकता है और न असत्का ही, क्योंकि जो है ही उसका जन्म क्या होगा और जो शशशृङ्गके समान असत् है उसकी भी कैसे उत्पत्ति हो सकती है। अतः यह सारा द्वैत मनोदृश्यमात्र है। मनके अमनीभावको प्राप्त होते ही द्वैतकी तनिक भी उपलब्धि नहीं होती।

इस प्रकार आत्मसत्यका बोध होनेपर जिस समय चित्त संकल्प नहीं करता उसी समय मन अमनस्ताको प्राप्त हो जाता है। उसका यह अग्रह निरोधजनित नहीं होता बल्कि ग्राह्य वस्तुका अभाव होनेके कारण होता है। इसीको ब्रह्माकारवृत्ति या वृत्ति-व्याप्ति भी कहते हैं। उस अवस्थाका कारिकाकारने तैंतीससे लेकर अड़तीसवीं कारिकातक बड़ा ही मार्मिक वर्णन किया है। यही बोध-स्थिति है, इसीके लिये जिज्ञासुका सारा प्रयत्न होता है और इसी स्थितिको प्राप्त होनेपर मनुष्य कृतकृत्य होता है। कारिकाकारने इसे 'अस्पर्शयोग' कहा है। इस अभयस्थितिसे अन्य योगिजन भय मानते हैं क्योंकि यहाँ अहंकारका अत्यन्ताभाव होनेके कारण उन्हें आत्मनाश दिखायी देता है। यह योग केवल उत्तम अधिकारियोंके लिये है; जिनका इसमें प्रवेश नहीं है उनकी अभयस्थिति, दुःखक्षय, बोध और अक्षयशान्ति मनोनिग्रहके अधीन हैं। वह मनोनिग्रह

भी बड़े धीर-वीरका काम है। उसके लिये अत्यन्त उत्साह, अनवरत अध्यवसाय और परम धैर्यकी आवश्यकता है। उसमें नाना प्रकारके विघ्न आते हैं। भगवान् कारिकाकारने बयालीससे लेकर पैंतालीसवीं कारिकातक उन विघ्नोंकी निवृत्तिके उपाय बतलाये हैं। उनके अनुसार साधन करते-करते जब चित्त निरुद्ध हो जाता है तो बोध-का उदय होता है। उस स्थितिका वर्णन आचार्यने श्लोक ४६ और ४७ में किया है। इस प्रकार अद्वैततत्त्व और उसकी उपलब्धिके साधनोंका विवेचन कर उन्होंने निम्नलिखित श्लोकसे इस प्रकरणका उपसंहार करते हुए अपना सिद्धान्त स्थापित किया है—

न कश्चिज्जायते जीवः सम्भवोऽस्य न विद्यते।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते॥
(३।४८)

इसके पश्चात् अलातशान्ति नामक चौथे प्रकरणमें आचार्यने अन्य मतावलम्बियोंके पारस्परिक मतभेद दिखलाते हुए उन्हींकी युक्तियोंसे उनका खण्डन किया है। 'अलात' शब्दका अर्थ उल्का या मसाल है। मसालको घुमानेपर अग्निकी तरह-तरहकी आकृतियाँ दिखायी देती हैं और उसका घुमाना बंद करते ही उनका दिखायी देना बंद हो जाता है। यदि विचार किया जाय तो वस्तुतः वे मसालसे न तो निकलती हैं, न उसमें लीन होती हैं और न कहीं अन्यत्रसे ही उनका आना-जाना होता है। उनकी प्रतीति केवल मसालके स्पन्दनका ही फल है, वस्तुतः उनकी सत्ता नहीं है। इसी प्रकार यह दृश्य-प्रपञ्च केवल मनके स्पन्दनके कारण प्रतीत होता है और मनके अमनीभावको प्राप्त होते ही न जाने कहाँ चला जाता है। किन्तु ये प्रपञ्चकी प्रतीति और अप्रतीति दोनों ही भ्रान्तिजनित हैं; परमार्थदृष्टिसे न उसकी उत्पत्ति होती है और न लय। इस भ्रान्तिका आधार परब्रह्म है; क्योंकि कोई भी भ्रान्ति निराधार नहीं हो सकती। अतः रज्जुमें सर्प अथवा शुक्तिमें रजतके समान परब्रह्म-में ही इस प्रपञ्चभ्रमकी प्रतीति हो रही है। यही इस प्रकरणका संक्षिप्त तात्पर्य है। इस प्रकरणमें आचार्यने सद्वाद, असद्वाद, बीजा-ङ्कुरसन्ततिवाद, विज्ञानवाद एवं शून्यवाद आदि सभी विपक्षी मतों-

का खण्डन करके अजातवादकी स्थापना की है। वे एक ही कारिकामें सारे पक्षोंकी अनुपपत्ति दिखलाते हुए कहते हैं—

स्वतो वा परतो वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते।
सदसत्सदसद्वापि न किञ्चिद्वस्तु जायते॥
(४।२२)

अर्थात् कोई भी वस्तु न तो अपनेसे उत्पन्न हो सकती है और न किसी अन्यसे ही। जो घट अभीतक तैयार नहीं हुआ उससे वही घट कैसे उत्पन्न होगा? तथा तैयार हुए घटसे भी कोई अन्य घट अथवा पट कैसे उत्पन्न होगा? यही नहीं, सत्-असत् अथवा सदसत्-रूपसे भी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं हो सकती। जो वस्तु है उसकी उत्पत्ति क्या होगी और जिसका अत्यन्ताभाव है उसकी भी कहाँसे उत्पत्ति होगी? तथा जो है और नहीं भी है ऐसी तो कोई वस्तु ही होनी सम्भव नहीं है अतः किसी भी प्रकार किसी वस्तुकी उत्पत्ति सिद्ध नहीं होती। इसी प्रकार, कुछ आगे चलकर वे सब प्रकारके कार्यकारणभावकी अनुपपत्ति दिखलानेके लिये कहते हैं—

नास्त्यसद्धेतुकमसत्सदसद्धेतुकं तथा।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुतः॥
(४।४०)

अर्थात् न तो आकाशकुसुमादि असत् कारणवाला कोई आकाशकुसुमादि असत् पदार्थ हो सकता है और न ऐसे असत्कारणसे कोई सद्वस्तु ही उत्पन्न हो सकती है। इसी प्रकार घटादि सत्पदार्थ भी किसी अन्य सत्पदार्थके कारण नहीं हो सकते; फिर उनसे कोई असत्पदार्थ उत्पन्न होगा—ऐसी तो सम्भावना ही कहाँ है?

इस प्रकार अनेकों युक्तियोंसे जिसे जन्मके निमित्तभूत द्वैतका अत्यन्ताभाव अनुभव हो गया है और जिसने कार्य-कारणभावशून्य परमार्थतत्त्वको जान लिया है वही सब प्रकारके शोक और संकल्पसे मुक्त होकर अभयपद प्राप्त करता है। उसकी स्थितिका वर्णन करते हुए आचार्य कहते हैं—

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम् ॥
(४ । ८०)

अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम् ।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुस्वभावतः ॥
(४ । ८१)

इस प्रकार उस निरालम्ब स्थितिका वर्णन कर भगवान् गौडपादाचार्य कहते हैं कि जिस-जिस धर्मका आग्रह हो जानेसे वह सर्वविशेषशून्य परमार्थतत्त्व अनायास ही आच्छादित हो जाता है और फिर वह पर्दा बड़ी कठिनतासे हटता है। इसीसे यह भगवान् अत्यन्त दुर्दर्श है। इसे आच्छादित करनेवाली कौन-कौन-सी कोटियाँ हैं—उनका दिग्दर्शन करानेके लिये वे कहते हैं—

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥
(४ । ८३)

अर्थात् कोई कहते हैं भगवान् 'है,' कोई कहते हैं 'नहीं है', किन्हींका मत है 'है और नहीं भी है' और कोई कहते हैं 'नहीं है, नहीं है' इनमें अस्तिभाव चल है, क्योंकि वह घटादि अनित्य पदार्थोंसे विलक्षण है: नास्तिभाव स्थिर है, कारण उसमें कोई विशेषता नहीं है, अस्ति-नास्तिभाव (सदसद्वाद) उभयरूप है और नास्तिनास्तिभाव अभावरूप है। भगवान् इन सभी भावोंसे विलक्षण हैं, क्योंकि ये सभी व्यवहारकोटिके अन्तर्गत हैं। उस सर्वभावातीत भगवान्को जो जानता है वही सर्वज्ञ है—सर्वज्ञ इसलिये, कि वह सारे प्रपञ्चके अधिष्ठानको जानता है और जो अधिष्ठानको जानता है उसे अध्यस्तवर्गकी असलियतका ज्ञान है ही। जिसे ऐसा ज्ञान है उस अद्वयब्राह्मपदमें स्थित हुए महात्माके लिये फिर कुछ भी कर्तव्य शेष नहीं रहता। उसका शम-दम आदि सात्त्विक व्यवहार भी लोकसंग्रहके लिये केवल लीलामात्र होता है। वस्तुतः उनकी गहनगतिका अवगाहन करनेमें कोई भी समर्थ नहीं है। उन्हींकी अलौकिक स्थितिको लक्ष्यमें रखकर भगवान्ने श्रीमद्भगवद्गीतामें कहा है—

या निशा सर्वभूतानां तस्यां जागर्ति संयमी।
यस्यां जाग्रति भूतानि सा निशा पश्यतो मुनेः ॥

(२।६९)

जो संसार संसारी पुरुषोंकी दृष्टिमें ध्रुवसत्य है उसका वे अत्यन्ताभाव देखते हैं और जिस अखण्ड चिद्घनसत्तामें उनकी अविचल स्थिति रहती है उसतक बहिर्दर्शी अविवेकियोंकी दृष्टि नहीं पहुँच सकती। इसीसे उनकी दृष्टिमें दिन-रातका अन्तर बतलाया गया है।

इस प्रकार समस्त वादियोंकी कुदृष्टियोंका खण्डन कर आचार्यने एक अद्वय अखण्ड तत्त्वको स्थापित किया है, और अन्तमें उसीकी वन्दना करते हुए ग्रन्थका उपसंहार किया है। वहाँ वे कहते हैं—

दुर्दर्शमतिगम्भीरमजं साम्यं विशारदम्।
बुद्ध्वा पदमनानात्वं नमस्कुर्मो यथाबलम् ॥

(४।१००)

इन कारिकाओंके द्वारा भगवान् गौडपादाचार्यने अजातवादकी स्थापना की है। इस सिद्धान्तको ग्रहण करनेके लिये बहुत ऊँचे अधिकारकी आवश्यकता है। जो सब प्रकार साधनसम्पन्न हैं वे उच्चाधिकारी ही इसे ठीक-ठीक हृदयङ्गम कर सकते हैं। जिनके चित्त कुछ भी विषयप्रवण हैं वे इससे अधिक लाभ न उठा सकेंगे—इतना ही नहीं अपि तु उन्हें हानि होनेकी भी सम्भावना है, यह तत्त्व अत्यन्त दुर्बोध है—ऐसा तो स्वयं आचार्यचरणने ही कह दिया है—'दुर्दर्शमतिगम्भीरम्'। किन्तु जिस महाभाग महापुरुषकी दृष्टि इस परमतत्त्वतक पहुँच जाती है उसके लिये फिर कुछ भी कर्तव्य नहीं रहता। वह स्वयं जीवन्मुक्त हो जाता है और दूसरे अधिकारी पुरुषोंको भी भवबन्धनसे मुक्त कर देता है। वह महामुनि सबका वन्दनीय है, सबका गुरु है और सभीका परम सुहृद् है। भगवान् हमें ऐसे महापुरुषोंके चरणकमलोंका आश्रय देकर हमारे संसारतापसन्तप्त अन्तःकरणोंको शान्ति प्रदान करें।

—अनुवादक

श्रीहरिः

विषय-सूची

वैतथ्यप्रकरण

विषय ... पृष्ठ

अद्वैतप्रकरण

अलातशान्तिप्रकरण

आगम-प्रकरण

भाष्यकारका मङ्गलाचरण

प्रज्ञानांशुप्रतानैः स्थिरचरनिकरव्यापिभिर्व्याप्य लोकान्
भुक्त्वा भोगान्स्थविष्ठान्पुनरपि धिषणोद्भासिताान्कामजन्यान्।
पीत्वा सर्वान्विशेषान्स्वपिति मधुरभुङ् मायया भोजयन्नो
मायासंख्यातुरीयं परममृतमजं ब्रह्म यत्तन्नतोऽस्मि ॥ १॥

जो अपनी चराचरव्यापिनी ज्ञानरश्मियोंके विस्तारसे सम्पूर्ण लोकोंको व्याप्त कर [जाग्रत्-अवस्थामें] स्थूल विषयोंका भोग करनेके अनन्तर फिर [स्वप्नावस्थामें] बुद्धिसे प्रकाशित वासनाजनित सम्पूर्ण भोगोंका पानकर मायासे हम सब जीवोंको भोग कराता हुआ [स्वयं] आनन्दका भोक्ता होकर शयन करता है तथा जो परम अमृत और अजन्मा ब्रह्म मायासे 'तुरीय' (चौथी) संख्यावाला है, उसे हम नमस्कार करते हैं ॥ १ ॥

यो विश्वात्मा विधिजविषयान् प्राश्य भोगान्स्थविष्ठान्
पश्चाच्चान्यान्स्वमतिविभवान् ज्योतिषा स्वेन सूक्ष्मान्।
सर्वानेतान्पुनरपि शनैः स्वात्मनि स्थापयित्वा
हित्वा सर्वान्विशेषान्विगतगुणगणः पात्वसौ नस्तुरीयः॥ २ ॥

जो सर्वात्मा [जाग्रत्-अवस्थामें] शुभाशुभ कर्मजनित स्थूल भोगोंको भोगकर फिर [स्वप्नकालमें] अपनी बुद्धिसे परिकल्पित सूक्ष्म विषयोंको [सूर्य आदि बाह्य ज्योतियोंका अभाव होनेके कारण] अपने ही प्रकाश-से भोगता है और फिर धीरे-धीरे इन सभीको अपनेमें स्थापितकर सम्पूर्ण विषयोंको छोड़कर निर्गुणरूपसे स्थित हो जाता है, वह तुरीय परमात्मा हमारी रक्षा करे ॥ २ ॥

सम्बन्धभाष्य

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वम् ।

तस्योपव्याख्यानं

अनुबन्ध-विमर्शः

वेदान्तार्थसारसंग्रहभूतमिदं प्रकरणचतुष्टयमोमित्येतदक्षरमित्याद्यारभ्यते । अत एव न पृथक्सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि वक्तव्यानि । यान्येव तु वेदान्ते सम्बन्धाभिधेयप्रयोजनानि तान्येवेह भवितुमर्हन्ति । तथापि प्रकरणव्याचिख्यासुना संक्षेपतो वक्तव्यानि।

तत्र प्रयोजनवत्साधनाभिव्यञ्जकत्वेनाभिधेयसम्बद्धं शास्त्रं पारम्पर्येण विशिष्टसम्बन्धाभिधेयप्रयोजनवद्भवति । किं पुनस्तत्प्रयोजनमित्युच्यते ? रोगार्तस्येव रोगनिवृत्तौ स्वस्थता । तथा दुःखात्मकस्यात्मनो द्वैत-

'ॐ' यह अक्षर ही यह सब कुछ है । उसका व्याख्यानरूप तथा वेदान्तार्थका सारसंग्रहभूत यह चार प्रकरणोंवाला ग्रन्थ 'ओमित्येतदक्षरमिदम्' आदि मन्त्रद्वारा आरम्भ किया जाता है । इसीलिये इसके सम्बन्ध, विषय और प्रयोजनका पृथक् वर्णन करनेकी आवश्यकता नहीं है । वेदान्तशास्त्रमें जो-जो सम्बन्ध, विषय और प्रयोजन हुआ करते हैं वे ही इस ग्रन्थमें भी हो सकते हैं । तो भी [व्याख्याकार ऐसा मानते हैं कि] जिन्हें किसी प्रकरण ग्रन्थकी व्याख्या करनेकी इच्छा हो उन्हें संक्षेपसे उनका वर्णन कर ही देना चाहिये ।

यहाँ, प्रयोजनसिद्धिके अनुकूल साधन अभिव्यक्त करनेके कारण अपने प्रतिपाद्य विषयसे सम्बन्ध रखनेवाला शास्त्र परम्परासे विशिष्ट सम्बन्ध, विषय और प्रयोजनवाला हुआ करता है । अच्छा तो, [इस शास्त्रका] वह क्या प्रयोजन है ? सो बतलाया जाता है—जिस प्रकार रोगी पुरुषको रोगकी निवृत्ति होनेपर स्वस्थता होती है उसी प्रकार दुःखाभिमानी आत्माको द्वैत-

प्रपञ्चोपशमे स्वस्थता । अद्वैतभावः प्रयोजनम् ।

प्रपञ्चकी निवृत्ति होनेपर स्वस्थता मिलती है । अतः अद्वैतभाव ही इसका प्रयोजन है ।

द्वैतप्रपञ्चस्याविद्याकृतत्वाद्विद्यया तदुपशमः स्यादिति ब्रह्मविद्याप्रकाशनायास्यारम्भः क्रियते । "यत्र हि द्वैतमिव भवति" (बृ० उ० २ । ४ । १४) "यत्र वान्यदिव स्यात्तत्रान्योऽन्यत्पश्येदन्योऽन्यद्विजानीयात्" (बृ० उ० ४ । ३ । ३१) "यत्र वास्य सर्वमात्मैवाभूत्तत्केन कं पश्येत्केन कं विजानीयात्" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इत्यादिश्रुतिभ्योऽस्यार्थस्य सिद्धिः ।

द्वैतप्रपञ्च अविद्याजनित है इसलिये उसकी निवृत्ति विद्यासे ही हो सकती है । अतः ब्रह्मविद्याको प्रकाशित करनेके लिये ही इसका आरम्भ किया जाता है । "जहाँ द्वैतके समान होता है" "जहाँ भिन्नके समान हो वहाँ कोई दूसरा दूसरेको देख सकता है अथवा दूसरा दूसरेको जानता है" "जहाँ इसके लिये सब कुछ आत्मा ही हो गया है वहाँ यह किसके द्वारा किसे देखे ? और किसके द्वारा किसे जाने ?" इत्यादि श्रुतियोंसे इसी बातकी सिद्धि होती है ।

प्रकरण-चतुष्टय-प्रतिपाद्यार्थ-निरूपणम्

तत्र तावदोङ्कारनिर्णयाय प्रथमं प्रकरणमागमप्रधानम्, आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायभूतम् । यस्य द्वैतप्रपञ्चस्योपशमेऽद्वैतप्रतिपत्ती रज्ज्वामिव सर्पादिविकल्पोपशमे रज्जुतत्त्वप्रतिपत्तिस्तस्य द्वैतस्य हेतुतो

उन (चारों प्रकरणों) में पहला प्रकरण तो ओङ्कारके स्वरूपका निर्णय करनेके लिये है । वह आगम-(श्रुति) प्रधान और आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका उपायभूत है । रज्जुमें सर्पादि विकल्पकी निवृत्ति होनेपर जिस प्रकार रज्जुके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है इसी प्रकार जिस द्वैतप्रपञ्चकी निवृत्ति होनेपर अद्वैततत्त्वका बोध होता है उसी द्वैतका

वैतथ्यप्रतिपादनाय द्वितीयं प्रकरणम् । तथाद्वैतस्यापि वैतथ्यप्रसङ्गप्राप्तौ युक्तितस्तथात्वदर्शनाय तृतीयं प्रकरणम् । अद्वैतस्य तथात्वप्रतिपत्तिप्रतिपक्षभूतानि यानि वादान्तराण्यवैदिकानि तेषामन्योन्यविरोधित्वादतथार्थत्वेन तदुपपत्तिभिरेव निराकरणाय चतुर्थं प्रकरणम् ।

युक्तिपूर्वक मिथ्यात्व प्रतिपादन करनेके लिये [वैतथ्यनामक] द्वितीय प्रकरण है । इसी प्रकार अद्वैतके भी मिथ्यात्वका प्रसङ्ग उपस्थित न हो जाय इसलिये युक्तिद्वारा उसका सत्यत्व प्रतिपादन करनेके लिये तृतीय (अद्वैत) प्रकरण है । तथा अद्वैतके सत्यत्व-निश्चयके विपक्षी जो अन्य अवैदिक मतान्तर हैं वे परस्परविरोधी होनेके कारण मिथ्या हैं, अतः उन्हींकी युक्तियोंसे उनका खण्डन करनेके लिये चतुर्थ (अलातशान्ति) प्रकरण है ।

ओङ्कारस्य आत्मप्रतिपत्ति-साधनत्वम्

कथं पुनरोङ्कारनिर्णय आत्मतत्त्वप्रतिपत्त्युपायत्वं प्रतिपद्यत इत्युच्यते—"ओमित्येतत्" (क० उ० १ । २ । १५) "एतदालम्बनम्" (क० उ० १ । २ । १७) "एतद्वै सत्यकाम" (प्र० उ० ५ । २) "ओमित्यात्मानं युञ्जीत" (मैत्र्यु० ६ । ३) "ओमिति ब्रह्म" (तै० उ० १ । ८ । १) "ओङ्कार एवेदं सर्वम्" (छा० उ० २ । २३ । ३) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

ओङ्कारका निर्णय किस प्रकार आत्मतत्त्वकी प्राप्तिका उपाय होता है, सो अब बतलाया जाता है—"ॐ यही [वह पद] है" "यही आलम्बन है" "हे सत्यकाम ! यह [जो ओङ्कार है वही पर और अपर ब्रह्म है]" "आत्माका ॐ इस प्रकार ध्यान करे" "ॐ यही ब्रह्म है" "यह सब ओङ्कार ही है" इत्यादि श्रुतियोंसे यही बात जानी जाती है ।

ओङ्कारस्य सर्वास्पदत्वम्

रज्ज्वादिरिव सर्पादिविकल्पस्यास्पदोऽद्वय आत्मा परमार्थः सन्प्राणादिविकल्पस्या-

सर्पादि विकल्पकी अधिष्ठानभूत रज्जु आदिके समान जिस प्रकार अद्वितीय आत्मा परमार्थ सत्य होनेपर भी प्राणादि विकल्पका आश्रय

स्पदो यथा तथा सर्वोऽपि वाक्प्रपञ्चः प्राणाद्यात्मविकल्पविषय ओङ्कार एव । स चात्मस्वरूपमेव, तदभिधायकत्वात्। ओङ्कारविकारशब्दाभिधेयश्च सर्वः प्राणादिरात्मविकल्पोऽभिधानव्यतिरेकेण नास्ति । "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) "तदस्येदं वाचा तन्त्या नामभिर्दामभिः सर्वं सितम्" "सर्वं हीदं नामनि" इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

अत आह—

है इसी प्रकार प्राणादि विकल्पको विषय करनेवाला सम्पूर्ण वाग्विलास ओंकार ही है। और वह (ओंकार) आत्माका प्रतिपादन करनेवाला होनेसे उसका स्वरूप ही है तथा ओंकारके विकाररूप शब्दोंके प्रतिपाद्य आत्माके विकल्परूप समस्त प्राणादि भी अपने प्रतिपादक शब्दोंसे भिन्न नहीं हैं, जैसा कि "विकार केवल वाणीका विलास और नाममात्र है" "उस ब्रह्मका यह सम्पूर्ण जगत् वाणीरूप सूत्रद्वारा नाममयी डोरीसे व्याप्त है" "यह सब नाममय ही है" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ।

इसीलिये कहते हैं—

ॐ ही सब कुछ है

ओमित्येतदक्षरमिदꣳ सर्वं तस्योपव्याख्यानं भूतं भवद्भविष्यदिति सर्वमोङ्कार एव । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है । यह जो कुछ भूत, भविष्यत् और वर्तमान है उसीकी व्याख्या है; इसलिये यह सब ओंकार ही है । इसके सिवा जो अन्य त्रिकालातीत वस्तु है वह भी ओंकार ही है ॥ १ ॥

ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमिति । यदिदमर्थजातमभिधेयभूतं तस्याभिधानाव्यतिरेकात्,

ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है। यह अभिधेय (प्रतिपाद्य) रूप जितना पदार्थसमूह है वह अपने

अभिधानस्य चोङ्काराव्यतिरेकादोङ्कार एवेदं सर्वम् । परं च ब्रह्माभिधानाभिधेयोपायपूर्वकमेव गम्यत इत्योङ्कार एव ।

अभिधान (प्रतिपादक) से अभिन्न होनेके कारण और सम्पूर्ण अभिधान भी ओंकारसे अभिन्न होनेके कारण यह सब कुछ ओंकार ही है । पर-ब्रह्म भी अभिधान-अभिधेय (वाच्य-वाचक) रूप उपायके द्वारा ही जाना जाता है, इसलिये वह भी ओंकार ही है ।

तस्यैतस्य परापरब्रह्मरूपस्याक्षरस्योमित्येतस्योपव्याख्यानम्; ब्रह्मप्रतिपत्त्युपायत्वाद्ब्रह्मसमीपतया विस्पष्टं प्रकथनमुपव्याख्यानं प्रस्तुतं वेदितव्यमिति वाक्यशेषः।

यह जो परापर ब्रह्मरूप अक्षर ॐ है, उसका उपव्याख्यान—ब्रह्मकी प्राप्तिका उपाय होनेके कारण उसके समीपतासे स्पष्ट कथनका नाम उपव्याख्यान है- वही यहाँ प्रस्तुत जानना चाहिये । इस वाक्यमें 'प्रस्तुतं वेदितव्यम् (प्रस्तुत जानना चाहिये)' यह वाक्यशेष है ।

भूतं भवद्भविष्यदिति कालत्रयपरिच्छेद्यं यत्तदप्योङ्कार एवोक्तन्यायतः । यच्चान्यत्त्रिकालातीतं कार्याधिगम्यं कालापरिच्छेद्यमव्याकृतादि तदप्योङ्कार एव ॥ १ ॥

भूत, वर्तमान और भविष्यत् इन तीनों कालोंसे जो कुछ परिच्छेद्य है वह भी उपर्युक्त न्यायसे ओंकार ही है । इसके सिवा जो तीनों कालोंसे परे, अपने कार्यसे ही विदित होनेवाला और कालसे अपरिच्छेद्य अव्याकृत आदि है वह भी ओंकार ही है ॥ १ ॥

ओंकारवाच्य ब्रह्मकी सर्वात्मकता

अभिधानाभिधेययोरेकत्वेऽप्यभिधानप्राधान्येन निर्देशः कृतः । ओमित्येतदक्षरमिदं सर्वमित्यादि।

वाचक और वाच्यका अभेद होनेपर भी वाचककी प्रधानतासे ही ॐ यह अक्षर ही सब कुछ है

अभिधानप्राधान्येन निर्दिष्टस्य पुनरभिधेयप्राधान्येन निर्देशोऽभिधानाभिधेययोरेकत्वप्रतिपत्त्यर्थः । इतरथा ह्यभिधानतन्त्राभिधेयप्रतिपत्तिरित्यभिधेयस्याभिधानत्वं गौणमित्याशङ्का स्यात् । एकत्वप्रतिपत्तेश्च प्रयोजनमभिधानाभिधेययोरेकेनैव प्रयत्नेन युगपत्प्रविलापयंस्तद्विलक्षणं ब्रह्म प्रतिपद्येतेति । तथा च वक्ष्यति "पादा मात्रा मात्राश्च पादाः" (मा० उ० ८) इति । तदाह—

इत्यादि रूपसे निर्देश किया गया है । वाचककी प्रधानतासे निर्दिष्ट वस्तुका फिर वाच्यकी प्रधानतासे किया हुआ निर्देश वाचक और वाच्यका एकत्व प्रदिपादन करनेके लिये है; अन्यथा वाच्यकी प्रतिपत्ति वाचकके अधीन होनेके कारण वाच्यका वाचकरूप होना गौण ही होगा—ऐसी आशंका हो सकती है । किन्तु वाच्य (ब्रह्म) और वाचक (ओंकार) की एकत्व-प्रतिपत्तिका तो यही प्रयोजन है कि उन दोनोंको एक ही प्रयत्नसे एक साथ लीन करके उनसे विलक्षण ब्रह्मको प्राप्त किया जाय । ऐसा ही "पाद ही मात्रा हैं और मात्रा ही पाद हैं" इस श्रुतिसे कहेंगे भी । अब वही बात कहते हैं—

सर्वꣳ ह्येतद् ब्रह्मायमात्मा ब्रह्म सोऽयमात्मा चतुष्पात् ॥ २ ॥

यह सब ब्रह्म ही है । यह आत्मा ही ब्रह्म है । वह यह आत्मा चार पादों (अंशों) वाला है ॥ २ ॥

सर्वं ह्येतद्ब्रह्मेति । सर्वं यदुक्तमोङ्कारमात्रमिति तदेतद्ब्रह्म । तच्च ब्रह्म परोक्षाभिहितं प्रत्यक्षतो विशेषेण निर्दिशति—अयमात्मा

यह सब ब्रह्म ही है । अर्थात् यह सब, जो ओंकारमात्र कहा गया है, ब्रह्म है । अबतक परोक्षरूपसे बतलाये हुए उस ब्रह्मको विशेषरूपसे प्रत्यक्षतया 'यह आत्मा ब्रह्म है'

ब्रह्मेति । अयमिति चतुष्पात्त्वेन प्रविभज्यमानं प्रत्यगात्मतयाभिनयेन निर्दिशति—अयमात्मेति । सोऽयमात्मोङ्काराभिधेयः परापरत्वेन व्यवस्थितश्चतुष्पात्कार्षापणवन्न गौरिवेति । त्रयाणां विश्वादीनां पूर्वपूर्वप्रविलापनेन तुरीयस्य प्रतिपत्तिरिति करणसाधनः पादशब्दः । तुरीयस्य पद्यत इति कर्मसाधनः पादशब्दः ॥ २ ॥

ऐसा कहकर निर्देश करते हैं । यहाँ 'अयम्' शब्दद्वारा चतुष्पादरूपसे विभक्त किये जानेवाले आत्माको अपने अन्तरात्मस्वरूपसे अभिनय (अंगुलिनिर्देश) पूर्वक 'अयमात्मा ब्रह्म' ऐसा कहकर बतलाते हैं । ओंकार नामसे कहा जानेवाला तथा पर और अपररूपसे व्यवस्थित वह यह आत्मा कार्षापणके* समान चार पाद (अंश) वाला है, गौके समान नहीं । विश्व आदि तीन पादोंमेंसे क्रमशः पूर्व-पूर्वका लय करते हुए अन्तमें तुरीयब्रह्मकी उपलब्धि होती है । अतः पहले तीन पादोंमें 'पाद' शब्द करणवाच्य है और तुरीयमें 'जो प्राप्त किया जाय' इस प्रकार कर्मवाच्य है ॥ २ ॥

कथं चतुष्पात्त्वमित्याह—

वह किस प्रकार चार पादोंवाला है सो बतलाते हैं—

आत्माका प्रथम पाद—वैश्वानर

जागरितस्थानो बहिष्प्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः स्थूलभुग्वैश्वानरः प्रथमः पादः ॥ ३ ॥

जाग्रत्-अवस्था जिस [की अभिव्यक्ति] का स्थान है, जो बहिःप्रज्ञ (बाह्य विषयोंको प्रकाशित करनेवाला) सात अङ्गोंवाला, उन्नीस मुखोंवाला और स्थूल विषयोंका भोक्ता है वह वैश्वानर पहला पाद है ॥ ३ ॥

* किसी देशविशेषमें प्रचलित सिक्केका नाम कार्षापण है । यह सोलह पणका होता है । जिस प्रकार रुपयेमें चार चवन्नी अथवा सेरमें चार पौवे होते हैं उसी प्रकार उसमें चार पाद माने गये हैं ।

जागरितं स्थानमस्येति जागरितस्थानः । बहिष्प्रज्ञः स्वात्मव्यतिरिक्ते विषये प्रज्ञा यस्य स बहिष्प्रज्ञो बहिर्विषयेव प्रज्ञाविद्याकृतावभासत इत्यर्थः । तथा सप्ताङ्गान्यस्य "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाश्चक्षुर्विश्वरूपः प्राणः पृथग्वर्त्मात्मा संदेहो बहुलो बस्तिरेव रयिः पृथिव्येव पादौ" (छा० उ० ५ । १८ । २) इत्यग्निहोत्रकल्पनाशेषत्वेनाहवनीयोऽग्निरस्य मुखत्वेनोक्त इत्येवं सप्ताङ्गानि यस्य स सप्ताङ्गः ।

तथैकोनविंशतिर्मुखान्यस्य बुद्धीन्द्रियाणि कर्मेन्द्रियाणि च दश वायवश्च प्राणादयः पञ्च मनो बुद्धिरहङ्कारश्चित्तमिति मुखानीव मुखानि तान्युपलब्धिद्वाराणीत्यर्थः, स एवंविशिष्टो वैश्वानरो यथोक्तैर्द्वारैः शब्दादीन्स्थूलान्विषयान्भुङ्क्त इति स्थूलभुक् । विश्वेषां नराणामनेकधा नयनाद्वैश्वानरः ।

जाग्रत्-अवस्था जिसका स्थान है उसे जागरितस्थान कहते हैं। जिसकी अपनेसे भिन्न विषयोंमें प्रज्ञा है उसे बहिष्प्रज्ञ कहते हैं अर्थात् जिसकी अविद्याकृत बुद्धि बाह्य विषयोंसे सम्बद्ध-सी भासती है। इसी प्रकार जिसके सात अङ्ग हैं अर्थात् "इस उस वैश्वानर आत्माका द्युलोक सिर है, सूर्य नेत्र है, वायु प्राण है, आकाश मध्यस्थान (देह) है, अन्न (अन्नका कारणरूप जल) ही मूत्र-स्थान है और पृथिवी ही चरण है" इस श्रुतिके अनुसार अग्निहोत्रकल्पनामें अङ्गभूत होनेके कारण आहवनीय अग्नि उसके मुखरूपसे बतलाया गया है। इस प्रकार जिसके सात अङ्ग हैं उसे ही सप्ताङ्ग कहते हैं।

तथा जिसके उन्नीस मुख हैं, दश तो ज्ञानेन्द्रिय और कर्मेन्द्रिय, पाँच प्राणादि वायु तथा मन, बुद्धि, अहङ्कार और चित्त—ये जिसके मुखके समान मुख अर्थात् उपलब्धिके द्वार हैं, वह ऐसे विशेषणोंवाला वैश्वानर उपर्युक्त द्वारोंसे शब्द आदि स्थूल विषयोंको भोगता है इसलिये वह स्थूलभुक् है। सम्पूर्ण नरोंको [अनेक प्रकारकी योनियोंमें] नयन (वहन) करनेके कारण वह 'वैश्वानर' कहलाता है, अथवा वह विश्व

यद्वा विश्वश्चासौ नरश्चेति विश्वानरः । विश्वानर एव वैश्वानरः । सर्वपिण्डात्मानन्यत्वात् स प्रथमः पादः । एतत्पूर्वकत्वादुत्तरपादाधिगमस्य प्राथम्यमस्य ।

(समस्त) नररूप है इसलिये विश्वानर है । विश्वानर ही [स्वार्थमें तद्धित अण्प्रत्यय होनेसे] वैश्वानर कहलाता है । समस्त देहोंसे अभिन्न होनेके कारण वही पहला पाद है । परवर्ती पादोंका ज्ञान पहले इसका ज्ञान होनेपर ही होता है, इसलिये यह प्रथम है ।

कथमयमात्मा ब्रह्मेति प्रत्यगात्मनोऽस्य चतुष्पात्त्वे प्रकृते द्युलोकादीनां मूर्धाद्यङ्गत्वमिति ।

शङ्का—"अयमात्मा ब्रह्म" इस श्रुतिके अनुसार यहाँ प्रत्यगात्माको चार पादोंवाला बतलानेका प्रसङ्ग था । उसमें द्युलोकादिको उसके मूर्धा आदि अङ्गरूपसे कैसे बतलाने लगे ?

वैश्वानरस्य सप्ताङ्गत्वादिप्रतिपादने हेतुः

नैष दोषः । सर्वस्य प्रपञ्चस्य साधिदैविकस्यानेनात्मना चतुष्पात्त्वस्य विवक्षितत्वात् । एवं च सति सर्वप्रपञ्चोपशमेऽद्वैतसिद्धिः । सर्वभूतस्थश्चात्मैको दृष्टः स्यात् सर्वभूतानि चात्मनि । "यस्तु सर्वाणि भूतानि" (ई० उ० ६) इत्यादिश्रुत्यर्थ उपसंहृतश्चैवं स्यात् । अन्यथा हि स्वदेहपरिच्छिन्न एव प्रत्यगात्मा सांख्यादिभिरिव दृष्टः स्यात्तथा च

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि इस आत्माके द्वारा ही अधिदैवसहित सम्पूर्ण प्रपञ्चके चतुष्पात्त्वका प्रतिपादन करना इष्ट है । ऐसा होनेपर ही सारे प्रपञ्चके निषेधपूर्वक अद्वैतकी सिद्धि हो सकेगी । समस्त भूतोंमें स्थित एक आत्मा और आत्मामें सम्पूर्ण भूतोंका साक्षात्कार हो सकेगा और इसी प्रकार "जो सारे भूतोंको [आत्मामें ही देखता है]" इत्यादि श्रुतियोंके अर्थका उपसंहार हो सकेगा । नहीं तो सांख्यदर्शन आदिके समान अपने देहमें परिच्छिन्न अन्तरात्माका ही दर्शन होगा । ऐसा होनेपर

सत्यद्वैतमिति श्रुतिकृतो विशेषो न स्यात्, सांख्यादिदर्शनेनाविशेषात् । इष्यते च सर्वोपनिषदां सर्वात्मैक्यप्रतिपादकत्वम् । अतो युक्तमेवास्याध्यात्मिकस्य पिण्डात्मनो द्युलोकाद्यङ्गत्वेन विराडात्मनाधिदैविकेनैकत्वमभिप्रेत्य सप्ताङ्गत्ववचनम् । "मूर्धा ते व्यपतिष्यत्" (छा० उ० ५ । १२ । २) इत्यादिलिङ्गदर्शनाच्च ।

'अद्वैत है' इस श्रुतिप्रतिपादित विशेष भावकी सिद्धि नहीं होगी; क्योंकि सांख्यादि दर्शनोंकी अपेक्षा इसमें कुछ विशेषता नहीं रहेगी । परन्तु सम्पूर्ण उपनिषदोंको आत्माके एकत्वका प्रतिपादन तो इष्ट ही है । इसलिये इस आध्यात्मिक पिण्डात्माका द्युलोक आदिके अङ्गरूपसे आधिदैविक पिण्डात्माके साथ एकत्व प्रतिपादन करनेके अभिप्रायसे उसका सप्ताङ्गत्व प्रतिपादन उचित ही है । इसके सिवा [आत्माकी व्यस्तोपासनाके निन्दक] "तेरा शिर गिर जाता" आदि वाक्य भी इसमें हेतु हैं ।

विराजैकत्वमुपलक्षणार्थं हिरण्यगर्भाव्याकृतात्मनोः । उक्तं चैतन्मधुब्राह्मणे "यश्चायमस्यां पृथिव्यां तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषो यश्चायमध्यात्मम्" (बृ० उ० २ । ५ । १) इत्यादि । सुषुप्ताव्याकृतयोस्त्वेकत्वं सिद्धमेव निर्विशेषत्वात् । एवं च सत्येतत्सिद्धं भविष्यति सर्वद्वैतोपशमे चाद्वैतमिति ॥ ३ ॥

यहाँ जो विराट्के साथ एकत्व प्रतिपादन किया है वह हिरण्यगर्भ और अव्याकृतके एकत्वको उपलक्षित करानेके लिये है । मधुब्राह्मणमें ऐसा कहा भी है—"यह जो इस पृथ्वीमें तेजोमय एवं अमृतमय पुरुष है तथा यह जो अध्यात्मपुरुष है [वे दोनों एक हैं]" इत्यादि । कोई विशेषता न रहनेके कारण सोये हुए पुरुष और अव्याकृतका एकत्व तो सिद्ध ही है । ऐसा होनेपर ही यह सिद्ध होगा कि सम्पूर्ण द्वैतकी निवृत्ति होनेपर अद्वैत ही है ॥ ३ ॥

आत्माका द्वितीय पाद—तैजस

१ **स्वप्नस्थानोऽन्तःप्रज्ञः सप्ताङ्ग एकोनविंशतिमुखः प्रविविक्तभुक्तैजसो द्वितीयः पादः ॥ ४ ॥**

स्वप्न जिसका स्थान है तथा जो अन्तःप्रज्ञ, सात अङ्गोंवाला, उन्नीस मुखवाला और सूक्ष्म विषयोंका भोक्ता है वह तैजस [इसका] दूसरा पाद है।

स्वप्नः स्थानमस्य तैजसस्य स्वप्नस्थानः । जाग्रत्प्रज्ञानेकसाधना बहिर्विषयेवावभासमाना मनःस्पन्दनमात्रा सती तथाभूतं संस्कारं मनस्याधत्ते। तन्मनस्तथा संस्कृतं चित्रित इव पटो बाह्यसाधनानपेक्षमविद्याकामकर्मभिः प्रेर्यमाणं जाग्रद्वदवभासते । तथा चोक्तम्—"अस्य लोकस्य सर्वावतो मात्रामपादाय" (बृ० उ० ४ । ३ । ९) इति। तथा "परे देवे मनस्येकीभवति" (प्र० उ० ४ । २) इति प्रस्तुत्य "अत्रैष देवः स्वप्ने महिमानमनुभवति" (प्र० उ० ४ । ५) इत्याथर्वणे ।

स्वप्न इस तैजसका स्थान है इसलिये यह स्वप्नस्थानवाला [कहा जाता] है । अनेक साधनवती जाग्रत्कालीना बुद्धि मनका स्फुरणमात्र होनेपर भी बाह्यविषयसम्बन्धिनी-सी प्रतीत होती हुई मनमें वैसा ही संस्कार उत्पन्न करती है । चित्रित वस्त्रके समान इस प्रकारके संस्कारोंसे युक्त हुआ वह मन अविद्या, कामना और कर्मके कारण बाह्यसाधनकी अपेक्षाके बिना ही प्रेरित होकर जाग्रत्-सा भासने लगता है । ऐसा ही कहा भी है—"इस सर्वसाधनसम्पन्न लोकके संस्कार ग्रहण करके [स्वप्न देखता है]" इत्यादि । तथा आथर्वण श्रुतिमें भी [समस्त इन्द्रियाँ] "परम (इन्द्रियादिसे उत्कृष्ट) देव (प्रकाशनशील) मनमें एकरूप हो जाती हैं" इस प्रकार प्रस्तावना कर कहा है "यहाँ—स्वप्नावस्थामें यह देव अपनी महिमाका अनुभव करता है।"

इन्द्रियापेक्षयान्तःस्थत्वान्मनसस्तद्वासनारूपा च स्वप्ने प्रज्ञा यस्येत्यन्तःप्रज्ञः। विषयशून्यायां प्रज्ञायां केवलप्रकाशस्वरूपायां विषयित्वेन भवतीति तैजसः। विश्वस्य सविषयत्वेन प्रज्ञायाः स्थूलाया भोज्यत्वम्। इह पुनः केवला वासनामात्रा प्रज्ञा भोज्येति प्रविविक्तो भोग इति। समानमन्यत् द्वितीयःपादस्तैजसः॥४॥

अन्य इन्द्रियोंकी अपेक्षा मन अधिक अन्तःस्थ है, स्वप्नावस्थामें जिसकी प्रज्ञा उस (मन) की वासनाके अनुरूप रहती है उसे अन्तःप्रज्ञ कहते हैं; वह अपनी विषयशून्य और केवल प्रकाशस्वरूप प्रज्ञाका विषयी (अनुभव करनेवाला) होनेके कारण 'तैजस' कहा जाता है। विश्व बाह्यविषययुक्त होता है, इसलिये जागरित अवस्थामें स्थूल प्रज्ञा उसकी भोज्य है। किन्तु तैजसके लिये केवल वासनामात्र प्रज्ञा भोजनीया है; इसलिये इसका भोग सूक्ष्म है। शेष अर्थ पहलेहीके समान है। यह तैजस ही दूसरा पाद है ॥ ४ ॥

दर्शनादर्शनवृत्त्योस्तत्त्वाप्रबोधलक्षणस्य स्वापस्य तुल्यत्वात् सुषुप्तिग्रहणार्थं यत्र सुप्त इत्यादि विशेषणम्। अथ वा त्रिष्वपि स्थानेषु तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणः स्वापोऽविशिष्ट इति पूर्वाभ्यां सुषुप्तं विभजते—

[तत्त्वज्ञानका अभावरूप] स्वापावस्थाके दर्शन (जाग्रत्स्थान) और अदर्शन (स्वप्नस्थान) इन दोनों ही वृत्तियोंमें समान होनेके कारण सुषुप्ति-अवस्थाको [उससे पृथक्] ग्रहण करनेके लिये 'यत्र सुप्तः' इत्यादि विशेषण दिये जाते हैं। अथवा तीनों ही अवस्थाओंमें तत्त्वका अज्ञानरूप निद्रा समान ही है इसलिये पहले दो स्थानोंसे सुषुप्तिका विभाग करते हैं—

आत्माका तृतीय पाद—प्राज्ञ

यत्र सुप्तो न कञ्चन कामं कामयते न कञ्चन स्वप्नं पश्यति तत्सुषुप्तम् । सुषुप्तस्थान एकीभूतः प्रज्ञानघन एवानन्दमयो ह्यानन्दभुक्चेतोमुखः प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

जिस अवस्थामें सोया हुआ पुरुष किसी भोगकी इच्छा नहीं करता और न कोई स्वप्न ही देखता है उसे सुषुप्ति कहते हैं । वह सुषुप्ति जिसका स्थान है तथा जो एकीभूत प्रकृष्ट ज्ञानस्वरूप होता हुआ ही आनन्दमय, आनन्दका भोक्ता और चेतनारूप मुखवाला है वह प्राज्ञ ही तीसरा पाद है ॥ ५ ॥

यत्र यस्मिन्स्थाने काले वा सुप्तो न कञ्चन स्वप्नं पश्यति न कञ्चन कामं कामयते । न हि सुषुप्ते पूर्वयोरिवान्यथाग्रहणलक्षणं स्वप्नदर्शनं कामो वा कश्चन विद्यते । तदेतत्सुषुप्तं स्थानमस्येति सुषुप्तस्थानः ।

जहाँ यानी जिस स्थान अथवा समयमें सोया हुआ पुरुष न कोई स्वप्न देखता और न किसी भोगकी ही इच्छा करता है, क्योंकि सुषुप्तावस्थामें पहली दोनों अवस्थाओंके समान अन्यथा ग्रहणरूप स्वप्नदर्शन अथवा किसी प्रकारकी कामना नहीं होती, वह यह सुषुप्त अवस्था ही जिसका स्थान है उसे सुषुप्तस्थान कहते हैं ।

स्थानद्वयप्रविभक्तं मनःस्पन्दितं द्वैतजातं तथारूपापरित्यागेनाविवेकापन्नं नैशतमोग्रस्तमिवाहः सप्रपञ्चमेकीभूतमित्युच्यते । अत एव स्वप्नजाग्रन्मनःस्पन्दनानि

जिस प्रकार रात्रिके अन्धकारसे दिन आच्छादित हो जाता है उसी प्रकार पूर्वोक्त दोनों स्थानोंमें विभिन्न रूपसे प्रतीत होनेवाला मनका स्फुरणरूप द्वैतसमूह [इस अवस्थामें] प्रपञ्चके सहित अपने उस (विशिष्ट) स्वरूपका त्याग न कर अज्ञानसे आच्छादित हो जाता है; इसलिये इसे 'एकीभूत'

प्रज्ञानानि घनीभूतानीव सेयमवस्थाविवेकरूपत्वात्प्रज्ञानघन उच्यते । यथा रात्रौ नैशेन तमसाविभज्यमानं सर्वं घनमिव तद्वत्प्रज्ञानघन एव । एवशब्दान्न जात्यन्तरं प्रज्ञानव्यतिरेकेणास्तीत्यर्थः ।

ऐसा कहा जाता है । अतः जिस अवस्थामें स्वप्न और जाग्रत्--ये मनके स्फुरणरूप प्रज्ञान घनीभूत-से हो जाते हैं, वह यह अवस्था अविवेकरूपा होनेके कारण प्रज्ञानघन कही जाती है । जिस प्रकार रात्रिमें रात्रिके अन्धकारसे पृथक्त्वकी प्रतीति न होनेके कारण सम्पूर्ण प्रपञ्च घनीभूत-सा जान पड़ता है उसी प्रकार यह प्रज्ञानघन ही है । 'एव' शब्दसे यह तात्पर्य है कि उस समय प्रज्ञानके सिवा कोई अन्य जाति नहीं रहती ।

मनसो विषयविषय्याकारस्पन्दनायासदुःखाभावादानन्दमय आनन्दप्रायो नानन्द एव । अनात्यन्तिकत्वात् । यथा लोके निरायासस्थितः सुख्यानन्दभुगुच्यते, अत्यन्तानायासरूपा हीयं स्थितिरनेनानुभूयत इत्यानन्दभुक्, "एषोऽस्य परम आनन्दः" (बृ० उ० ४ । ३ । ३२) इति श्रुतेः ।

मनका जो विषय और विषयीरूपसे स्फुरित होनेके आयासका दुःख है उसका अभाव होनेके कारण यह आनन्दमय अर्थात् आनन्दबहुल है; केवल आनन्दमात्र ही नहीं है, क्योंकि इस अवस्थामें आनन्दकी आत्यन्तिकता नहीं है; जिस प्रकार लोकमें अनायासरूपसे स्थित पुरुष सुखी या आनन्द भोग करनेवाला कहा जाता है, उसी प्रकार, क्योंकि इस अवस्थामें यह आत्मा इस अत्यन्त अनायासरूपा स्थितिका अनुभव करता है, इसलिये यह आनन्दभुक् कहा जाता है; जैसा कि "यह इसका परम आनन्द है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

स्वप्नादिप्रतिबोधचेतः प्रति द्वारीभूतत्वाच्चेतोमुखः । बोध-लक्षणं वा चेतो द्वारं मुखमस्य स्वप्नाद्यागमनं प्रतीति चेतोमुखः। भूतभविष्यज्ज्ञातृत्वं सर्वविषय-ज्ञातृत्वमस्यैवेति प्राज्ञः। सुषुप्तोऽपि हि भूतपूर्वगत्या प्राज्ञ उच्यते। अथ वा प्रज्ञप्तिमात्रमस्यैवासा-धारणं रूपमिति प्राज्ञः, इतरयो-र्विशिष्टमपि विज्ञानमस्ति। सोऽयं प्राज्ञस्तृतीयः पादः ॥ ५ ॥

स्वप्नादिज्ञानरूप चेतनाके प्रति द्वारस्वरूप होनेके कारण यह चेतोमुख है। अथवा स्वप्नादिकी प्राप्तिके लिये ज्ञानस्वरूप चित्त ही इसका द्वार यानी मुख है, इसलिये यह चेतोमुख है। भूत-भविष्यत्का तथा सम्पूर्ण विषयोंका ज्ञाता यही है, इसलिये यह प्राज्ञ है। सुषुप्त होनेपर भी इसे भूतपूर्वगतिसे 'प्राज्ञ' कहा जाता है। अथवा केवल प्रज्ञप्ति (ज्ञान) मात्र इसीका असाधारणरूप है, इसलिये यह प्राज्ञ है, क्योंकि दूसरोंको (विश्व और तैजसको) तो विशिष्ट विज्ञान भी होता है। वह यह प्राज्ञ ही तीसरा पाद है ॥ ५ ॥

प्राज्ञका सर्वकारणत्व

एष सर्वेश्वर एष सर्वज्ञ एषोऽन्तर्याम्येष योनिः सर्वस्य प्रभवाप्ययौ हि भूतानाम् ॥ ६ ॥

यह सबका ईश्वर है, यह सर्वज्ञ है, यह अन्तर्यामी है और समस्त जीवोंकी उत्पत्ति तथा लयका स्थान होनेके कारण यह सबका कारण भी है ॥ ६ ॥

एष हि स्वरूपावस्थः सर्वेश्वरः साधिदैविकस्य भेदजातस्य सर्वस्येशिता नैतस्माज्जात्यन्तरभूतो-ऽन्येषामिव । "प्राणबन्धनं हि

अपने स्वरूपमें स्थित यह (प्राज्ञ) ही सर्वेश्वर है, अर्थात् अधिदैवके सहित सम्पूर्ण भेदसमूहका ईश्वर—ईशन (शासन) करनेवाला है। "हे सोम्य ! यह मन (जीव) प्राण

सोम्य मनः" (छा० उ० ६ । ८ । २) इति श्रुतेः । अयमेव हि सर्वस्य सर्वभेदावस्थो ज्ञातेत्येष सर्वज्ञः । एषोऽन्तर्याम्यन्तरनुप्रविश्य सर्वेषां भूतानां नियन्ताप्येष एव । अत एव यथोक्तं सभेदं जगत्प्रसूयत इत्येष योनिः सर्वस्य । यत एवं प्रभवश्चाप्ययश्च प्रभवाप्ययौ हि भूतानामेष एव ॥ ६ ॥

(प्राणसंज्ञक ब्रह्म) रूप बन्धनवाला है" इस श्रुतिसे अन्य मतावलम्बियोंके सिद्धान्तानुसार [सर्वज्ञ परमेश्वर] इस प्राज्ञसे कोई विजातीय पदार्थ नहीं है । सम्पूर्ण भेदमें स्थित हुआ यही सबका ज्ञाता है; इसलिये यह सर्वज्ञ है । [अतएव] यह अन्तर्यामी है अर्थात् समस्त प्राणियोंके भीतर अनुप्रविष्ट होकर उनका नियमन करनेवाला भी यही है । इसीसे पूर्वोक्त भेदके सहित सारा जगत् उत्पन्न होता है; इसलिये यही सबका कारण है । क्योंकि ऐसा है इसलिये यही समस्त प्राणियोंका उत्पत्ति और लयस्थान भी है ॥ ६ ॥

एक ही आत्माके तीन भेद

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इसी अर्थमें ये श्लोक हैं—

अत्रैतस्मिन् यथोक्तेऽर्थ एते श्लोका भवन्ति—

यहाँ इस पूर्वोक्त अर्थमें ये श्लोक हैं—

बहिष्प्रज्ञो विभुर्विश्वो ह्यन्तःप्रज्ञस्तु तैजसः ।
घनप्रज्ञस्तथा प्राज्ञ एक एव त्रिधा स्मृतः ॥ १ ॥

विभु विश्व बहिष्प्रज्ञ है, तैजस अन्तःप्रज्ञ है तथा प्राज्ञ घनप्रज्ञ (प्रज्ञानघन) है । इस प्रकार एक ही आत्मा तीन प्रकारसे कहा जाता है ॥ १ ॥

बहिष्प्रज्ञ इति । पर्यायेण त्रिस्थानत्वात्सोऽहमिति स्मृत्या

बहिष्प्रज्ञ इत्यादि । इस श्लोकका तात्पर्य यह है कि क्रमशः तीन

प्रतिसन्धानाच्च स्थानत्रयव्यतिरिक्तत्वमेकत्वं शुद्धत्वमसङ्गत्वं च सिद्धमित्यभिप्रायः। महामत्स्यादिदृष्टान्तश्रुतेः ॥ १ ॥

स्थानोंवाला होनेसे और 'मैं वही हूँ' इस प्रकारकी स्मृतिद्वारा अनुसन्धान किया जानेके कारण आत्माका तीनों स्थानोंसे पृथक्त्व, एकत्व, शुद्धत्व और असङ्गत्व सिद्ध होता है, जैसा कि महामत्स्यादि दृष्टान्तका वर्णन करनेवाली श्रुति* बतलाती है ॥ १ ॥

विश्वादिके विभिन्न स्थान

जागरितावस्थायामेव विश्वादीनां त्रयाणामनुभवप्रदर्शनार्थोऽयं श्लोकः—

जाग्रत्-अवस्थामें ही विश्व आदि तीनोंका अनुभव दिखलानेके लिये यह श्लोक कहा जाता है—

दक्षिणाक्षिमुखे विश्वो मनस्यन्तस्तु तैजसः ।
आकाशे च हृदि प्राज्ञस्त्रिधा देहे व्यवस्थितः ॥ २ ॥

दक्षिणनेत्ररूप द्वारमें विश्व रहता है, तैजस मनके भीतर रहता है, प्राज्ञ हृदयाकाशमें उपलब्ध होता है। इस प्रकार यह [एक ही आत्मा] शरीरमें तीन प्रकारसे स्थित है ॥ २ ॥

दक्षिणमक्ष्येव मुखं तस्मिन् प्राधान्येन द्रष्टा स्थूलानां विश्वोऽनुभूयते। "इन्धो ह वै नामैष

दक्षिण नेत्र ही मुख (उपलब्धिका स्थान) है; उसीमें प्रधानतासे स्थूल पदार्थोंके साक्षी विश्वका अनुभव होता है। यह जो दक्षिण

---

* जिस प्रकार किसी नदीमें रहनेवाला कोई बलवान् मत्स्य उसके प्रवाहसे विचलित न होकर उसके दोनों तटोंपर आता-जाता रहता है; किन्तु उन तटोंसे पृथक् होनेके कारण उनके गुण-दोषोंसे युक्त नहीं होता तथा जिस प्रकार कोई बड़ा पक्षी आकाशमें स्वच्छन्दगतिसे उड़ता रहता है उसी प्रकार स्वप्न और जाग्रत् दोनों स्थानोंमें सञ्चार करनेवाला आत्मा एक, असङ्ग और शुद्ध है—ऐसा मानना उचित ही है। (देखिये बृ० उ० ४ । ३ । १८-१९)

योऽयं दक्षिणेऽक्षन्पुरुषः" (बृ० उ० ४ । २ । २) इति श्रुतेः । इन्धो दीप्तिगुणो वैश्वानरः । आदित्यान्तर्गतो वैराज आत्मा चक्षुषि च द्रष्टैकः ।

नन्वन्यो हिरण्यगर्भः क्षेत्रज्ञो दक्षिणेऽक्षण्यक्ष्णोर्नियन्ता द्रष्टा चान्यो देहस्वामी ।

न, स्वतो भेदानभ्युपगमात् । "एको देवः सर्वभूतेषु गूढः" (श्वे० उ० ६ । ११) इति श्रुतेः । "क्षेत्रज्ञं चापि मां विद्धि सर्वक्षेत्रेषु भारत" (गीता १३ । २) "अविभक्तं च भूतेषु विभक्तमिव च स्थितम्" (गीता १३ । १६) इति स्मृतेः । सर्वेषु करणेष्वविशेषेऽपि दक्षिणाक्षण्युपलब्धिपाटवदर्शनात्तत्र विशेषेण निर्देशो विश्वस्य ।

दक्षिणाक्षिगतो रूपं दृष्ट्वा निमीलिताक्षस्तदेव स्मरन्मनस्यन्तः-

नेत्रमें स्थित पुरुष है 'इन्ध'[1] नामसे प्रसिद्ध है" इस श्रुतिसे भी यही प्रमाणित होता है। दीप्तिगुणविशिष्ट वैश्वानरको 'इन्ध' कहते हैं। आदित्यान्तर्गत वैराजसंज्ञक आत्मा और नेत्रोंमें स्थित साक्षी—ये दोनों एक ही हैं।

शङ्का—हिरण्यगर्भ अन्य है तथा दक्षिण नेत्रमें स्थित नेत्रेन्द्रियका नियन्ता और साक्षी देहका स्वामी क्षेत्रज्ञ अन्य है। [उन दोनोंकी एकता कैसे हो सकती है ?]

समाधान—नहीं [ऐसी बात नहीं है], क्योंकि उनका स्वाभाविक भेद नहीं माना गया, क्योंकि "सम्पूर्ण भूतोंमें एक ही देव छिपा हुआ है" इस श्रुतिसे तथा "हे भारत ! समस्त क्षेत्रोंमें क्षेत्रज्ञ मुझे ही जान" "[वह वस्तुतः] विभक्त न होकर भी विभक्तके समान स्थित है" इत्यादि स्मृतियोंसे भी [यही बात सिद्ध होती है]। सम्पूर्ण इन्द्रियोंमें समान रूपसे स्थित होनेपर भी दक्षिण नेत्रमें उसकी उपलब्धिकी स्पष्टता देखनेसे वहाँ विश्वका विशेषरूपसे निर्देश किया जाता है।

दक्षिणनेत्रस्थित जीवात्मा रूपको देखकर फिर नेत्र मूँद मनमें

१. जो जागरित अवस्थामें स्थूल पदार्थोंका भोक्ता होनेके कारण इद्ध—दीप्त होता है।

स्वप्न इव तदेव वासनारूपाभिव्यक्तं पश्यति । यथात्र तथा स्वप्ने । अतो मनस्यन्तस्तु तैजसोऽपि विश्व एव ।

आकाशे च हृदि स्मरणाख्यव्यापारोपरमे प्राज्ञ एकीभूतो घनप्रज्ञ एव भवति; मनोव्यापाराभावात् । दर्शनस्मरणे एव हि मनःस्पन्दिते; तदभावे हृद्येवाविशेषेण प्राणात्मनावस्थानम् । "प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते" (छा० उ० ४ । ३ । ३) इति श्रुतेः । तैजसो हिरण्यगर्भो मनःस्थत्वात् । "लिङ्गं मनः" (बृ० उ० ४ । ४ । ६) । "मनोमयोऽयं पुरुषः" (बृ० उ० ५ । ६ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

उसीका स्मरण करता हुआ वासनारूपसे अभिव्यक्त उसी रूपका स्वप्नमें उपलब्धकी तरह दर्शन करता है । जिस प्रकार इस अवस्थामें होता है, ठीक वैसा ही स्वप्नमें होता है । [इसलिये यह जाग्रत्‌में स्वप्न ही है] अतः मनके भीतर स्थित तैजस भी विश्व ही है ।

तथा स्मरणरूप व्यापारके निवृत्त हो जानेपर हृदयाकाशमें स्थित प्राज्ञ मनोव्यापारका अभाव हो जानेके कारण एकीभूत और घनप्रज्ञ ही हो जाता है । दर्शन और स्मरण ही मनके स्फुरण हैं, उनका अभाव हो जानेपर जो जीवका हृदयके भीतर ही निर्विशेष प्राणरूपसे स्थित होना है [वही जाग्रत्‌में सुषुप्ति है] । "प्राण ही इन सबको अपनेमें लीन कर लेता है" इस श्रुतिसे यही प्रमाणित होता है । मनःस्थित होनेके कारण तैजस ही हिरण्यगर्भ है ।* "[सत्रह अवयववाला] लिङ्गरूप मन" "यह पुरुष[1] मनोमय है" इत्यादि श्रुतियोंसे भी [तैजस और हिरण्यगर्भकी एकता सिद्ध होती है] ।

* क्योंकि तैजसकी उपाधि व्यष्टि मन है और हिरण्यगर्भकी समष्टि; समष्टि-व्यष्टिका परस्पर अभेद है ।

१. यहाँ हिरण्यगर्भको ही 'पुरुष' कहा गया है ।

ननु व्याकृतः प्राणः सुषुप्ते । तदात्मकानि करणानि भवन्ति । कथमव्याकृतता ?

नैष दोषः, अव्याकृतस्य सुषुप्तौ देशकालविशेषाभावात् । यद्यपि प्राणानाम् प्राणाभिमाने सति अव्याकृतत्वम् व्याकृतैव प्राणस्य तथापि पिण्डपरिच्छिन्नविशेषाभिमाननिरोधः प्राणे भवतीत्यव्याकृत एव प्राणः सुषुप्ते परिच्छिन्नाभिमानवताम् । यथा प्राणलये परिच्छिन्नाभिमानिनां प्राणोऽव्याकृतस्तथा प्राणाभिमानिनोऽप्यविशेषापत्तावव्याकृतता समाना प्रसवबीजात्मकत्वं च तदध्यक्षश्चैकोऽव्याकृता-

शङ्का—सुषुप्तिमें भी प्राण तो व्याकृत (विशेषभावापन्न) ही होता है* तथा ['प्राणो ह्येवैतान्सर्वान्संवृङ्क्ते' इस श्रुतिके अनुसार] इन्द्रियाँ भी प्राणरूप ही हो जाती हैं। फिर उसकी अव्याकृतता कैसे कही गयी ?

समाधान—यह कोई दोष नहीं है, क्योंकि अव्याकृत पदार्थमें देश-कालरूप विशेष भावका अभाव होता है । यद्यपि [जैसा कि स्वप्नावस्थामें होता है] प्राणका अभिमान रहते हुए तो उसकी व्याकृतता है ही तथापि सुषुप्तावस्थामें प्राणमें पिण्डपरिच्छिन्न-विशेषका अभिमान [अर्थात् यह मेरे शरीरसे परिच्छिन्न प्राण है— ऐसा अभिमान] नहीं रहता; अतः परिच्छिन्नदेहाभिमानियोंके लिये भी उस समय वह अव्याकृत ही है ।

जिस प्रकार प्राणका लय [अर्थात् मृत्यु] होनेपर परिच्छिन्न देहा-भिमानियोंका प्राण अव्याकृतरूपमें रहता है उसी प्रकार प्राणाभिमानियों-को भी प्राणकी अविशेषता प्राप्त होनेपर उसकी अव्याकृतता और प्रसव-बीजरूपता वैसी ही है । अतः [अव्याकृत और सुषुप्ति] इन दोनों

* क्योंकि सोये हुए पुरुषके पास बैठे हुए लोगोंको वह ऐसा ही दिखायी देता है ।

वस्थः । परिच्छिन्नाभिमानिनामध्यक्षाणां च तेनैकत्वमिति पूर्वोक्तं विशेषणमेकीभूतः प्रज्ञानघन इत्याद्युपपन्नम् । तस्मिन्नुक्तहेतुत्वाच्च ।

अवस्थाओंका साक्षी भी अव्याकृत अवस्थामें रहनेवाला एक ही [चेतन आत्मा] है । परिच्छिन्न देहोंके अभिमानी और उनके साक्षियोंकी उसके साथ एकता है; अतः [प्राज्ञके लिये] 'एकीभूतः प्रज्ञानघनः' आदि पूर्वोक्त विशेषण उचित ही हैं; विशेषतः इसलिये भी, क्योंकि इसमें [अधिदैव, अव्याकृत और अध्यात्म प्राज्ञकी एकतारूप] उपर्युक्त हेतु भी विद्यमान है ।

कथं प्राणशब्दत्वमव्याकृतस्य ।

शङ्का–किन्तु अव्याकृत 'प्राण' शब्दवाच्य कैसे हुआ ?

"प्राणबन्धनं हि सोम्य मनः" (छा० उ० ६ । ८ । २) इति श्रुतेः ।

समाधान–"हे सोम्य ! मन प्राणके ही अधीन है" इस श्रुतिके अनुसार ।

ननु तत्र "सदेव सोम्य" (छा० उ० ६ । २ । १) इति प्रकृतं सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यम् ।

शङ्का–किन्तु वहाँ तो "सदेव सोम्य" इस श्रुतिके अनुसार प्रसङ्गप्राप्त सद्ब्रह्म ही 'प्राण' शब्दका वाच्य है ।

प्राणशब्दस्य बीजब्रह्मपरत्वम्

नैष दोषः, बीजात्मकत्वाभ्युपगमात्सतः । यद्यपि सद्ब्रह्म प्राणशब्दवाच्यं तत्र तथापि जीवप्रसवबीजात्मकत्वमपरित्यज्यैव प्राणशब्दत्वं सतः सच्छब्दवाच्यता च । यदि हि निर्बीजरूपं विवक्षितं ब्रह्माभविष्यत् "नेति

समाधान–वहाँ यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि [उस प्रसङ्गमें] सद्ब्रह्मकी बीजात्मकता स्वीकार की है । यद्यपि वहाँ 'प्राण' शब्दका वाच्य सद्ब्रह्म है तथापि जीवोंकी उत्पत्तिकी बीजात्मकताका त्याग न करते हुए ही उस सद्ब्रह्ममें प्राणशब्दत्व और 'सत्' शब्दका वाच्यत्व माना गया है । यदि वहाँ

नेति" (बृ० उ० ४ । ४ । २ । २, ४ । ५ । १५) "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २ । ९) "अन्यदेव तद्विदितादथो अविदितात्" (के० उ० १ । ३) इत्यवक्ष्यत "न सत्तन्नासदुच्यते" (गीता १३ । १२) इति स्मृतेः।

'सत्' शब्दसे निर्बीजब्रह्म कहना इष्ट हो तो उसे "यह नहीं है, यह नहीं है" "जहाँसे वाणी लौट आती है" "यह विदितसे अन्य है और अविदितसे भी ऊपर है" इत्यादि प्रकारसे कहा जायगा, जैसा कि "वह न सत् कहा जाता है और न असत्" इस स्मृतिसे भी सिद्ध होता है।

निर्बीजतयैव चेत्सति लीनानां सुषुप्तप्रलययोः पुनरुत्थानानुपपत्तिः स्यात् । मुक्तानां च पुनरुत्पत्तिप्रसङ्गः, बीजाभावाविशेषात् । ज्ञानदाह्यबीजाभावे च ज्ञानानर्थक्यप्रसङ्गः।तस्मात्सबीजत्वाभ्युपगमेनैव सतः प्राणत्वव्यपदेशःसर्वश्रुतिषु च कारणत्वव्यपदेशः ।

और यदि वहाँ ['सत्' शब्दसे] ब्रह्मका निर्बीजरूपसे ही निर्देश करना इष्ट हो तो सुषुप्ति और प्रलय (मरण) अवस्थामें सत्में लीन हुए पुरुषोंका फिर उठना [अर्थात् उत्पन्न होना] सम्भव नहीं होगा तथा मुक्त पुरुषोंके पुनः उत्पन्न होनेका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा,* क्योंकि [मुक्त और सत्में लीन हुए पुरुषोंमें] बीजत्वका अभाव समान ही है। तथा ज्ञानसे दग्ध होनेवाले बीजका अभाव होनेपर ज्ञानकी व्यर्थताका भी प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा । अतः सद्ब्रह्मकी सबीजता स्वीकार करके ही उसका प्राणरूपसे समस्त श्रुतियोंमें कारणरूपसे उल्लेख किया गया है।

* क्योंकि निर्बीज ब्रह्ममें लीन हुए मुक्तोंका पुनर्जन्म माना नहीं गया और यदि उस अवस्थामें भी पुनर्जन्म स्वीकार किया जाय तो मुक्ति हो जानेके बाद भी पुनर्जन्म मानना पड़ेगा।

अत एव "अक्षरात्परतः परः" (मु० उ० २ । १ । २)। "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २ । १ । २) । "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २ । ९) । "नेति नेति" (बृ० उ० ४ । ४ । २२) इत्यादिना बीजवत्त्वापनयनेन व्यपदेशः । तामबीजावस्थां तस्यैव प्राज्ञशब्दवाच्यस्य तुरीयत्वेन देहादिसंबन्धजाग्रदादिरहितां पारमार्थिकीं पृथग्वक्ष्यति । बीजावस्थापि न किञ्चिदवेदिषमित्युत्थितस्य प्रत्ययदर्शनाद्देहेऽनुभूयत एवेति त्रिधा देहे व्यवस्थित इत्युच्यते।२।

इसीलिये "वह पर अक्षरसे भी पर है" "वह बाह्य (कार्य) और अभ्यन्तर (कारण) के सहित [उनका अधिष्ठान होनेके कारण] अजन्मा है" "जहाँसे वाणी लौट आती है" "यह नहीं है यह नहीं है" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा शुद्ध ब्रह्मका निर्देश बीजवत्त्वका निरास करके ही किया गया है । उस 'प्राज्ञ' शब्दवाच्य जीवकी, देहादिसम्बन्ध तथा जाग्रत् आदि अवस्थासे रहित उस पारमार्थिकी अबीजावस्थाका तुरीयरूपसे अलग वर्णन करेंगे । बीजावस्थामें भी जाग्रत् होनेपर 'मुझे कुछ भी पता नहीं रहा' ऐसी प्रतीति देखनेसे शरीरमें अनुभव होता ही है । इसीसे 'वह देहमें तीन प्रकारसे स्थित है' ऐसा कहा गया है ॥ २ ॥

विश्वादिका त्रिविध भोग

विश्वो हि स्थूलभुङ्नित्यं तैजसः प्रविविक्तभुक् ।
आनन्दभुक्तथा प्राज्ञस्त्रिधा भोगं निबोधत ॥ ३ ॥

विश्व सर्वदा स्थूल पदार्थोंको ही भोगनेवाला है, तैजस सूक्ष्म पदार्थोंका भोक्ता है तथा प्राज्ञ आनन्दको भोगनेवाला है; इस प्रकार इनका तीन तरहका भोग जानो ॥ ३ ॥

स्थूलं तर्पयते विश्वं प्रविविक्तं तु तैजसम् ।
आनन्दश्च तथा प्राज्ञं त्रिधा तृप्तिं निबोधत ॥ ४ ॥

केनचित् । यथा रज्ज्वां प्राक्सर्पोत्पत्ते रज्ज्वात्मना सर्पः सन्नेवासीत्, एवं सर्वभावानामुत्पत्तेः प्राक्प्राणबीजात्मनैव सत्त्वम् । इत्यतः श्रुतिरपि वक्ति—"ब्रह्मैवेदम्" (मु० उ० २।२।११) "आत्मैवेदमग्र आसीत्" (बृ० उ० १।४।१) इति ।

सर्वं जनयति प्राणश्चेतोंऽशूनंशव इव रवेश्चिदात्मकस्य पुरुषस्य चेतोरूपा जलार्कसमाः प्राज्ञतैजसविश्वभेदेन देवतिर्यगादिदेहभेदेषु विभाव्यमानाश्चेतोंऽशवो ये तान्पुरुषः पृथग्विषयभावविलक्षणानग्निविस्फुलिङ्गवत् सलक्षणाञ्जलार्कवच्च जीवलक्षणांस्त्वितरान् सर्वभावान् प्राणो बीजात्मा जनयति "यथोर्णनाभिः" (मु० उ० १।१।७) "यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः" (बृ० उ० २।१।२०) इत्यादिश्रुतेः ॥ ६ ॥

किसी भी पुरुषने निराश्रय रज्जुसर्प अथवा मृगतृष्णा आदि कभी नहीं देखे । जिस प्रकार सर्पकी उत्पत्तिसे पूर्व वह रज्जुमें रज्जुरूपसे सत् ही था उसी प्रकार समस्त पदार्थ अपनी उत्पत्ति पूर्व प्राणात्मक बीजरूपसे सत् ही थे । इसीसे श्रुति भी कहती है—"यह ब्रह्म ही है" "पहले यह आत्मा ही था" इत्यादि ।

सब पदार्थोंको [बीजरूप] प्राण ही उत्पन्न करता है । तथा जो जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान देव, मनुष्य और तिर्यगादि विभिन्न शरीरोंमें प्राज्ञ, तैजस एवं विश्वरूपसे भासमान चिदात्मक पुरुषके किरणरूप चिदाभास हैं, उन विषयभावसे विलक्षण तथा अग्निकी चिनगारी और जलमें प्रतिबिम्बित सूर्यके समान सजातीय जीवोंको पुरुष अलग ही उत्पन्न करता है । उनके सिवा अन्य समस्त पदार्थोंको बीजात्मक प्राण उत्पन्न करता है, जैसा कि "जिस प्रकार मकड़ी [जाला बनाती है]" तथा "जैसे अग्निसे छोटी-छोटी चिनगारियाँ निकलती हैं" इत्यादि श्रुतियोंसे सिद्ध होता है ॥ ६ ॥

सृष्टिके विषयमें भिन्न-भिन्न विकल्प

विभूतिं प्रसवं त्वन्ये मन्यन्ते सृष्टिचिन्तकाः ।
स्वप्नमायासरूपेति सृष्टिरन्यैर्विकल्पिता ॥ ७ ॥

सृष्टिके विषयमें विचार करनेवाले दूसरे लोग भगवान्‌की विभूतिको ही जगत्‌की उत्पत्ति मानते हैं तथा दूसरे लोगोंद्वारा यह सृष्टि स्वप्न और मायाके समान मानी गयी है ॥ ७ ॥

विभूतिर्विस्तार ईश्वरस्य सृष्टिरिति सृष्टिचिन्तका मन्यन्ते न तु परमार्थचिन्तकानां सृष्टावादर इत्यर्थः । "इन्द्रोमायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० उ० २ । ५ । १९) इति श्रुतेः । न हि मायाविनं सूत्रमाकाशे निक्षिप्य तेन सायुधमारुह्य चक्षुर्गोचरतामतीत्य युद्धेन खण्डशश्छिन्नं पतितं पुनरुत्थितं च पश्यतां तत्कृतमायादिसतत्त्वचिन्तायामादरो भवति । तथैवायं मायाविनः सूत्रप्रसारणसमः सुषुप्तस्वप्नादिविकासस्तदारूढमायाविसमश्च तत्स्थः

यह सृष्टि ईश्वरकी विभूति यानी उसका विस्तार है—ऐसा सृष्टिके विषयमें विचार करनेवाले लोग मानते हैं । तात्पर्य यह है कि परमार्थ-चिन्तन करनेवालोंका सृष्टिके विषयमें आदर नहीं होता; जैसा कि "इन्द्र- (परमात्मा) मायासे अनेक रूपवाला हो जाता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है, [केवल बहिर्मुख पुरुष ही उसकी उत्पत्तिके विषयमें तरह-तरहकी कल्पना किया करते हैं] । आकाशमें सूत फेंककर उसपर शस्त्रोंसहित आरूढ़ हो नेत्रेन्द्रियकी पहुँचसे परे जाकर युद्धके द्वारा अनेकों टुकड़ोंमें विभक्त होकर गिरे हुए मायावीको पुनः उठता देखनेवाले पुरुषोंको उसकी रची हुई माया आदिके स्वरूपके चिन्तनमें आदर नहीं होता । उस मायावीके सूत्र-विस्तारके समान ही ये सुषुप्ति एवं स्वप्नादिके विकास हैं; तथा उस (सूत्र) पर चढ़े हुए मायावीके समान ही उन (सुषुप्ति आदि

प्राज्ञतैजसादिः। सूत्रतदारूढाभ्यामन्यः परमार्थमायावी स एव भूमिष्ठो मायाच्छन्नोऽदृश्यमान एव स्थितो यथा तथा तुरीयाख्यं परमार्थतत्त्वम्। अतस्तच्चिन्तायामेवादरो मुमुक्षूणामार्याणां न निष्प्रयोजनायां सृष्टावादर इत्यतः सृष्टिचिन्तकानामेवैते विकल्पा इत्याह—स्वप्नमायासरूपेति। स्वप्नरूपा मायासरूपा चेति ॥७॥

अवस्थाओं) में स्थित प्राज्ञ एवं तैजस आदि हैं। किन्तु वास्तविक मायावी तो सूत्र और उसपर चढ़े हुए मायावीसे भिन्न है और वही जैसे मायासे आच्छादित रहनेके कारण दिखलायी न देता हुआ ही पृथिवीपर स्थित रहता है वैसा ही तुरीयसंज्ञक परमार्थ तत्त्व भी है। अतः मोक्षकामी आर्य पुरुषोंका उसीके चिन्तनमें आदर होता है। प्रयोजनहीन सृष्टिमें उनका आदर नहीं होता। अतः ये सब विकल्प सृष्टिका चिन्तन करनेवालोंके ही हैं; इसीसे कहा है—'स्वप्नमायासरूपा इति' अर्थात् [दूसरे इसे] स्वप्नरूपा और मायारूपा [बतलाते हैं] ॥७॥

इच्छामात्रं प्रभोः सृष्टिरिति सृष्टौ विनिश्चिताः।
कालात्प्रसूतिं भूतानां मन्यन्ते कालचिन्तकाः॥ ८ ॥

कोई-कोई सृष्टिके विषयमें ऐसा निश्चय रखते हैं कि 'प्रभुकी इच्छा ही सृष्टि है।' तथा कालके विषयमें विचार करनेवाले [ज्योतिषी लोग] कालसे ही जीवोंकी उत्पत्ति मानते हैं ॥ ८ ॥

इच्छामात्रं प्रभोः सत्यसंकल्पत्वात्सृष्टिर्घटादिः संकल्पनामात्रं न संकल्पनातिरिक्तम्। कालादेव सृष्टिरिति केचित् ॥८॥

भगवान् सत्यसंकल्प हैं; अतः घटादिकी सृष्टि प्रभुका संकल्पमात्र है—उनके संकल्पसे भिन्न नहीं है। तथा कोई-कोई 'सृष्टि कालहीसे हुई है' ऐसा कहते हैं ॥ ८॥

भोगार्थं सृष्टिरित्यन्ये क्रीडार्थमिति चापरे ।
देवस्यैष स्वभावोऽयमाप्तकामस्य का स्पृहा ॥ ९ ॥

कुछ लोग 'सृष्टि भोगके लिये है' ऐसा मानते हैं और कुछ 'क्रीडाके लिये है' ऐसा समझते हैं । [परन्तु वास्तवमें तो] यह भगवान्का स्वभाव ही है क्योंकि पूर्णकामको इच्छा ही क्या हो सकती है ? ॥ ९ ॥

भोगार्थं क्रीडार्थमिति चान्ये सृष्टिं मन्यन्ते । अनयोः पक्षयोर्दूषणं देवस्यैष स्वभावोऽयमिति देवस्य स्वभावपक्षमाश्रित्य, सर्वेषां वा पक्षाणामाप्तकामस्य का स्पृहेति। न हि रज्ज्वादीनामविद्यास्वभावव्यतिरेकेण सर्पाद्याभासत्वे कारणं शक्यं वक्तुम् ॥ ९ ॥

दूसरे लोग सृष्टिको 'यह भोगार्थ अथवा क्रीडार्थ है'—ऐसा मानते हैं । 'देवस्यैष स्वभावोऽयम्' इस वाक्यसे देवके स्वभावपक्षका आश्रय लेकर इन दोनों पक्षोंको दोषयुक्त बतलाते हैं । अथवा 'आप्तकामस्य का स्पृहा' यह चौथा पाद सभी पक्षोंको दोषयुक्त बतलानेवाला है; क्योंकि अविद्यारूप अपने स्वभावके बिना रज्जु आदिका सर्पादिकी अभिव्यक्तिमें कारणत्व नहीं बतलाया जा सकता ॥ ९ ॥

चतुर्थ पादका विवरण

चतुर्थः पादः क्रमप्राप्तो वक्तव्य इत्याह—नान्तःप्रज्ञमित्यादिना। सर्वशब्दप्रवृत्तिनिमित्तशून्यत्वात्तस्य शब्दानभिधेयत्वमिति

अब क्रमसे प्राप्त हुआ चौथा पाद भी बतलाया है, अतः यही बात 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि मन्त्रसे कहते हैं । वह (चौथा पाद) सम्पूर्ण शब्दप्रवृत्तिके निमित्तसे रहित है, अतः शब्दसे उसका वर्णन नहीं किया जा सकता । इसलिये श्रुति [अन्तःप्रज्ञत्व आदि] विशेष भावके

विशेषप्रतिषेधेनैव च तुरीयं निर्दिदिक्षति ।

प्रतिषेध करके ही उस तुरीयका निर्देश करनेमें प्रवृत्त होती है ।

शून्यमेव तर्हि तत् ।

पूर्व०—तब तो वह शून्यरूप ही हुआ ।

न; मिथ्याविकल्पस्य निर्निमित्तत्वानुपपत्तेः । न हि रजतसर्पपुरुषमृगतृष्णिकादिविकल्पाः शुक्तिकारज्जुस्थाणूषरादिव्यतिरेकेणावस्त्वास्पदाः शक्याः कल्पयितुम् ।

सिद्धान्ती—नहीं; क्योंकि मिथ्या विकल्पका बिना किसी निमित्तके होना सम्भव नहीं है । चाँदी, सर्प, पुरुष और मृगतृष्णा आदि विकल्प [क्रमशः] सीपी, रस्सी, ठूँठ और ऊसर आदिके बिना निराश्रय ही कल्पना नहीं किये जा सकते ।

एवं तर्हि प्राणादि सर्वविकल्पास्पदत्वात्तुरीयस्य शब्दवाच्यत्वम् इति न प्रतिषेधैः प्रत्याय्यत्वम् । उदकाधारादेरिव घटादेः ।

पूर्व०—यदि ऐसी बात है तब तो प्राणादि सम्पूर्ण विकल्पका आश्रय होनेके कारण वह तुरीय शब्दका वाच्य सिद्ध होता है; अतः जलके आधारभूत घट आदिके समान [अन्तःप्रज्ञत्वादिके] प्रतिषेधद्वारा उसकी प्रतीति नहीं करायी जा सकती ।

न; प्राणादिविकल्पस्यासत्त्वाच्छुक्तिकादिष्विव रजतादेः । न हि सदसतोः सम्बन्धः शब्दप्रवृत्तिनिमित्तभागवस्तुत्वात् । नापि प्रमाणान्तरविषयत्वं स्वरूपेण गवादिवत्; आत्मनो निरुपाधिकत्वात् । गवादिवन्नापि जाति-

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि शुक्ति आदिमें प्रतीत होनेवाली चाँदी आदिके समान प्राणादि विकल्प असद्रूप है तथा सत् और असत्का सम्बन्ध अवस्तुरूप होनेके कारण शब्दकी प्रवृत्तिका हेतु नहीं हो सकता; और न गौ आदिके समान वह स्वरूपसे किसी अन्य प्रमाणका ही विषय हो सकता है, क्योंकि आत्मा उपाधिरहित है । इसी प्रकार अद्वितीयरूप होनेके

मत्त्वमद्वितीयत्वेन सामान्यविशेषाभावात् । नापि क्रियावत्त्वं पाचकादिवदविक्रियत्वात् । नापि गुणवत्त्वं नीलादिवन्निर्गुणत्वात् । अतो नाभिधानेन निर्देशमर्हति ।

कारण सामान्य अथवा विशेष भावका अभाव होनेसे उसमें गौ आदिके समान जातिमत्त्व भी नहीं है। और न अविकारी होनेके कारण उसमें पाचकादिके समान क्रियावत्त्व तथा निर्गुण होनेके कारण नीलता आदिके समान गुणवत्त्व ही है। इसलिये उसका किसी भी नामसे निर्देश नहीं किया जा सकता।

शशविषाणादिसमत्वान्निरर्थकत्वं तर्हि ।

पूर्व०—तब तो शशशृङ्गादिके समान [असद्रूप होनेके कारण] उसकी निरर्थकता ही सिद्ध होती है।

तुरीयावगमस्य सार्थकत्वम्

न; आत्मत्वावगमे तुरीयस्यानात्मतृष्णाव्यावृत्तिहेतुत्वाच्छुक्तिकावगम इव रजततृष्णायाः । न हि तुरीयस्यात्मत्वावगमे सत्यविद्यातृष्णादिदोषाणां सम्भवोऽस्ति। न च तुरीयस्यात्मत्वानवगमे कारणमस्ति; सर्वोपनिषदां तादर्थ्येनोपक्षयात् । "तत्त्वमसि"(छा० उ० ६।८।१६) "अयमात्मा ब्रह्म" (बृ० उ० २।५।१९)। "तत्सत्यं स आत्मा" (छा० उ० ६।८।१६) "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" (बृ० उ० ३।४।१)। "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २।

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि शुक्तिका ज्ञान होनेपर जिस प्रकार [उसमें आरोपित] चाँदीकी तृष्णा नष्ट हो जाती है उसी प्रकार तुरीय हमारा आत्मा है—ऐसा ज्ञान होनेपर वह अनात्मसम्बन्धिनी तृष्णाको निवृत्त करनेका कारण होता है। तुरीयको अपना आत्मा जान लेनेपर अविद्या एवं तृष्णादि दोषोंकी सम्भावना नहीं रहती। और तुरीयको अपने आत्मस्वरूपसे न जाननेका कोई कारण भी नहीं है, क्योंकि "तत्त्वमसि" "अयमात्मा ब्रह्म" "तत्सत्यं स आत्मा" "यत्साक्षादपरोक्षाद्ब्रह्म" "स-

१ । २)। "आत्मैवेदꣳ सर्वम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) इत्यादीनाम् ।

सोऽयमात्मा परमार्थापरमार्थरूपश्चतुष्पादित्युक्तस्तस्यापरमार्थरूपमविद्याकृतं रज्जुसर्पादिसममुक्तं पादत्रयलक्षणं बीजाङ्कुरस्थानीयम् । अथेदानीमबीजात्मकं परमार्थस्वरूपं रज्जुस्थानीयं सर्पादिस्थानीयोक्तस्थानत्रयनिराकरणेनाह— नान्तःप्रज्ञमित्यादि ।

बाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" "आत्मैवेदꣳ सर्वम्" इत्यादि समस्त उपनिषद्वाक्योंका पर्यवसान इसी अर्थमें हुआ है ।

वह यह आत्मा परमार्थ और अपरमार्थरूपसे चार पादवाला है—ऐसा कहा है । उसका बीजाङ्कुर-स्थानीय पादत्रयस्वरूप अपरमार्थरूप रज्जुसर्पादिके समान अविद्याजनित कहा गया है । अब सर्पादिस्थानीय उक्त तीनों पादोंका निराकरण कर 'नान्तःप्रज्ञम्' इत्यादि रूपसे उसके रज्जुस्थानीय अबीजात्मक परमार्थस्वरूपका वर्णन करते हैं—

तुरीयका स्वरूप

नान्तःप्रज्ञं न बहिष्प्रज्ञं नोभयतःप्रज्ञं न प्रज्ञानघनं न प्रज्ञं नाप्रज्ञम् । अदृश्यमव्यवहार्यमग्राह्यमलक्षणमचिन्त्यमव्यपदेश्यमेकात्मप्रत्ययसारं प्रपञ्चोपशमं शान्तं शिवमद्वैतं चतुर्थं मन्यन्ते स आत्मा स विज्ञेयः ॥ ७ ॥

विवेकीजन तुरीयको ऐसा मानते हैं कि वह न अन्तःप्रज्ञ है, न बहिष्प्रज्ञ है, न उभयतः (अन्तर्बहिः) प्रज्ञ है, न प्रज्ञानघन है, न प्रज्ञ है और न अप्रज्ञ है । बल्कि अदृष्ट, अव्यवहार्य, अग्राह्य, अलक्षण, अचिन्त्य, अव्यपदेश्य, एकात्मप्रत्ययसार, प्रपञ्चका उपशम, शान्त, शिव और अद्वैतरूप है । वही आत्मा है और वही साक्षात् जाननेयोग्य है ॥७॥

नन्वात्मनश्चतुष्पात्त्वं प्रतिज्ञाय पादत्रयकथनेनैव चतुर्थस्यान्तःप्रज्ञादिभ्योऽन्यत्वे सिद्धे नान्तःप्रज्ञमित्यादिप्रतिषेधोऽनर्थकः ।

पूर्व०—किन्तु आत्मा चार पादोंवाला है—ऐसी प्रतिज्ञाकर उसके तीन पादोंका वर्णन कर देनेसे ही चौथे पादका अन्तःप्रज्ञादि विशेषणोंसे भिन्न होना तो सिद्ध ही है; अतः यह "नान्तःप्रज्ञम्" इत्यादि प्रतिषेध तो व्यर्थ ही है ।

आत्मावगतौ अनात्मप्रतिषेध एव प्रमाणम्

न; सर्पादिविकल्पप्रतिषेधेनैव रज्जुस्वरूपप्रतिपत्तिवत्त्र्यवस्थस्यैवात्मनस्तुरीयत्वेन प्रतिपिपादयिषितत्वात्; "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८ । १६) इतिवत् । यदि हि त्र्यवस्थात्मविलक्षणं तुरीयमन्यत्तत्प्रतिपत्तिद्वाराभावाच्छास्त्रोपदेशानर्थक्यं शून्यतापत्तिर्वा । रज्जुरिव सर्पादिभिर्विकल्प्यमाना स्थानत्रयेऽप्यात्मैक एवान्तःप्रज्ञादित्वेन विकल्प्यते यदा तदान्तःप्रज्ञत्वादिप्रतिषेधविज्ञान-

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि जिस प्रकार सर्पादि विकल्पका प्रतिषेध करनेसे ही रज्जुके स्वरूपका ज्ञान हो जाता है उसी प्रकार, जैसा कि "तत्त्वमसि" इत्यादि वाक्यमें देखा जाता है, यहाँ [जाग्रदादि] तीनों अवस्थाओंमें स्थित आत्माका ही तुरीयरूपसे प्रतिपादन करना इष्ट है । यदि तुरीय आत्मा अवस्थात्रयविशिष्ट आत्मासे सर्वथा भिन्न होता तो उसकी उपलब्धिका कोई उपाय न रहनेके कारण शास्त्रोपदेशकी व्यर्थता अथवा शून्यवादकी प्राप्ति हो जाती । जब कि सर्पादि (सर्प, धारा, भूच्छिद्रादि) रूपसे विकल्पित रज्जुके समान [जाग्रदादि] तीनों स्थानोंमें एक ही आत्मा अन्तःप्रज्ञादिरूपसे विकल्पित हो रहा है तब तो अन्तःप्रज्ञत्वादिके प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाणकी उत्पत्तिके समकाल ही आत्मामें अनर्थ-

प्रमाणसमकालमेवात्मन्यनर्थप्रपञ्च-निवृत्तिलक्षणफलं परिसमाप्तम्, इति तुरीयाधिगमे प्रमाणान्तरं साधनान्तरं वा न मृग्यम्। रज्जुसर्पविवेकसमकाल इव रज्ज्वां सर्पनिवृत्तिफले सति रज्ज्वधिगमस्य।

प्रपञ्चकी निवृत्तिरूप फल सिद्ध हो जाता है; अतः तुरीयका साक्षात्कार करनेके लिये इसके सिवा किसी अन्य प्रमाण अथवा साधनकी खोज करनेकी आवश्यकता नहीं है; जैसे कि रज्जु और सर्पका विवेक होनेके समानकालमें ही रज्जुमें सर्पनिवृत्ति-रूप फलकी प्राप्ति होते ही रज्जुका ज्ञान हो जाता है [उसी प्रकार यहाँ समझना चाहिये]।

येषां पुनस्तमोऽपनयव्यतिरेकेण घटाधिगमे प्रमाणं व्याप्रियते तेषां छेद्यावयवसम्बन्धवियोग-व्यतिरेकेणान्यतरावयवेऽपि-च्छिदिर्व्याप्रियत इत्युक्तं स्यात्।

किन्तु जिनके मतमें घटज्ञानमें अन्धकारकी निवृत्तिके सिवा किसी और कार्यमें भी प्रमाणकी प्रवृत्ति होती है उनका तो मानो ऐसा कथन है कि छेद्य पदार्थोंके अवयवोंका सम्बन्धविच्छेद करनेके अतिरिक्त भी छेदनक्रियाका वस्तुके किसी एक अवयवमें कोई व्यापार होता है।*

यदा पुनर्घटतमसोर्विवेककरणे प्रवृत्तं प्रमाणमनुपादित्सिततमो-

छेद्य अवयवोंका सम्बन्धच्छेद करनेमें प्रवृत्त छेदनक्रिया जिस

* तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार अन्धकारमें रहते हुए घटका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये अन्धकारकी निवृत्तिमात्र ही आवश्यक है, अन्य किसी क्रियाकी अपेक्षा नहीं है उसी प्रकार तुरीयका ज्ञान प्राप्त करनेके लिये उसमें आरोपित अन्तःप्रज्ञत्वादिका निषेध ही कर्त्तव्य है। जो लोग घटज्ञानमें अन्धकार-निवृत्तिके सिवा उसके उत्पादक-प्रमाणका कोई और व्यापार भी स्वीकार करते हैं वे मानो ऐसा कहते हैं कि छेदनक्रिया छेद्यपदार्थके अवयवोंका सम्बन्धच्छेद करनेके सिवा उसके किसी भी अवयवमें कोई अन्य कार्य भी कर देती है। परन्तु यह बात सर्वसम्मत है कि छेदनक्रियाका अवयवविश्लेषणके सिवा कोई अन्य व्यापार नहीं होता। इसीलिये उनका कथन माननीय नहीं है।

१. यदि प्रमाण अज्ञानका ही निवर्तक है तो विषयके स्फुरण होनेका तो

निवृत्तिफलावसानं छिदिरिवच्छेद्यावयवसम्बन्धविवेककरणे प्रवृत्ता तदवयवद्वैधीभावफलावसाना तदा नान्तरीयकं घटविज्ञानं न तत्प्रमाणफलम् ।

न च तद्वदप्यात्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वादिविवेककरणे प्रवृत्तस्य प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणस्य अनुपादित्सितान्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिव्यतिरेकेण तुरीये व्यापारोपपत्तिः । अन्तःप्रज्ञत्वादिनिवृत्तिसमकालमेव प्रमातृत्वादिभेदनिवृत्तेः । तथा च वक्ष्यति—"ज्ञाते द्वैतं न विद्यते" (माण्डू० का० १ । १८) इति । ज्ञानस्य द्वैतनिवृत्तिक्षणव्यतिरेकेण क्षणा-

प्रकार उसके अवयवोंके विभक्त हो जानेमें समाप्त होनेवाली है उसी प्रकार जब कि घट और अन्धकारका पार्थक्य करनेमें प्रवृत्त प्रमाण अनिष्ट अन्धकारकी निवृत्तिरूप फलमें ही समाप्त हो जानेवाला है तब घटज्ञान तो अवश्यम्भावी है, वह प्रमाणका फल नहीं है ।

उसीके समान आत्मामें आरोपित अन्तःप्रज्ञत्वादिके विवेक करनेमें प्रवृत्त प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाणका, अनुपादित्सित (जिसका स्वीकार करना इष्ट नहीं है उस)अन्तःप्रज्ञत्वादिकी निवृत्तिके सिवा तुरीय आत्मामें कोई अन्य व्यापार होना सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्तःप्रज्ञत्वादिकी निवृत्तिके समकालमें ही प्रमातृत्वादि भेदकी निवृत्ति हो जाती है । ऐसा ही "ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता" इत्यादि वाक्यद्वारा आगे कहेंगे भी; क्योंकि वृत्तिज्ञानकी भी स्थिति द्वैतनिवृत्तिके क्षणके सिवा दूसरे क्षणमें नहीं रहती; और यदि स्थिति मानी जाय तो अनवस्थाका प्रसङ्ग*

कोई कारण दिखायी नहीं देता; अतः विषयज्ञान होना ही नहीं चाहिये—ऐसी आशङ्का करके आगेकी बात कहते हैं ।

* अद्वैत-बोधके लिये जिन-जिन प्रमाणोंका आश्रय लिया जाता है वे सब द्वैतप्रपञ्चके ही अन्तर्गत हैं । निखिलद्वैतकी निवृत्ति करनेवाला वृत्तिज्ञान भी वृत्तिरूप होनेके कारण द्वैतके ही अन्तर्गत है । यदि वह सम्पूर्ण द्वैतकी निवृत्ति करके भी बना रहे तो उसकी निवृत्तिके लिये किसी अन्य वृत्तिकी अपेक्षा होगी

न्तरानवस्थानात् । अवस्थाने चानवस्थाप्रसङ्गाद्द्वैतानिवृत्तिः । तस्मात्प्रतिषेधविज्ञानप्रमाणव्यापारसमकालैवात्मन्यध्यारोपितान्तःप्रज्ञत्वाद्यनर्थनिवृत्तिरिति सिद्धम् ।

नान्तःप्रज्ञमिति तैजसप्रतिषेधः । न बहिष्प्रज्ञमिति विश्वप्रतिषेधः । नोभयतःप्रज्ञमिति जाग्रत्स्वप्नयोरन्तरालावस्थाप्रतिषेधः । न प्रज्ञानघनमिति सुषुप्तावस्थाप्रतिषेधः । बीजभावाविवेकरूपत्वात् । न प्रज्ञमिति युगपत्सर्वविषयप्रज्ञातृत्वप्रतिषेधः । नाप्रज्ञमित्यचैतन्यप्रतिषेधः ।

कथं पुनरन्तःप्रज्ञत्वादीनामात्मनि गम्यमानानां रज्ज्वादौ

उपस्थित हो जानेसे द्वैतकी निवृत्ति ही नहीं होगी । अतः यह सिद्ध हुआ कि प्रतिषेधविज्ञानरूप प्रमाणके प्रवृत्त होनेके समकालमें ही आत्मामें आरोपित अन्तःप्रज्ञत्वादि अनर्थकी निवृत्ति हो जाती है ।

'अन्तःप्रज्ञ नहीं है' ऐसा कहकर तैजसका प्रतिषेध किया है; 'बहिष्प्रज्ञ नहीं है' इससे विश्वका निषेध किया है; 'उभयतःप्रज्ञ नहीं है' इस वाक्यसे जाग्रत् और स्वप्नके बीचकी अवस्थाका प्रतिषेध किया है; 'प्रज्ञानघन नहीं है' इससे सुषुप्तिका प्रतिषेध हुआ है, क्योंकि वह बीजभावमय-अविवेकस्वरूपा है; 'प्रज्ञ नहीं है' इससे एक साथ सब विषयोंके ज्ञातृत्वका प्रतिषेध किया है; तथा 'अप्रज्ञ नहीं है' इससे अचेतनताका निषेध किया है ।

किन्तु जब कि अन्तःप्रज्ञत्वादि धर्म आत्मामें प्रत्यक्ष उपलब्ध होते हैं तो केवल प्रतिषेधके ही कारण उनका रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्पादिके समान असत्यत्व कैसे सिद्ध

और उसके लिये किसी तीसरीकी । इस प्रकार अनवस्था दोष उपस्थित हो जायगा और द्वैतकी निवृत्ति कभी न हो पावेगी । इसलिये निखिलद्वैतकी निवृत्ति करनेके उत्तर-क्षणमें ही वृत्तिज्ञान स्वयं भी निवृत्त हो जाता है—यही मत समीचीन है ।

सर्पादिवत्प्रतिषेधादसत्त्वं गम्यत इत्युच्यते । ज्ञस्वरूपाविशेषेऽपि इतरेतरव्यभिचाराद्रज्ज्वादाविव सर्पधारादिविकल्पितभेदवत् सर्वत्राव्यभिचाराज्ज्ञस्वरूपस्य सत्यत्वम् ।

सुषुप्ते व्यभिचरतीति चेन्न । सुषुप्तस्यानुभूयमानत्वात् । "न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४ । ३ । ३०) इति श्रुतेः ।

अत एवादृष्टम् । यस्माद्दृष्टं तस्माद्व्यवहार्यम् । अग्राह्यं कर्मेन्द्रियैः । अलक्षणमलिङ्गमित्येतदननुमेयमित्यर्थः । अत एवाचिन्त्यम् । अत एवाव्यपदेश्यं शब्दैः । एकात्मप्रत्ययसारं जाग्रदादिस्थानेष्वेकोऽयमात्मेत्यव्यभिचारी यः प्रत्ययस्तेनानुसरणीयम् । अथवैक आत्मप्रत्ययः सारं प्रमाणं यस्य तुरीयस्याधिगमे

हो सकता है ? इसपर कहते हैं—रज्जु आदिमें प्रतीत होनेवाले सर्प, धारा आदि विकल्पभेदोंके समान उनके चित्स्वरूपमें कोई भेद न होनेपर भी परस्पर एक-दूसरेका व्यभिचार होनेके कारण वे असद्रूप हैं । किन्तु चित्स्वरूपका कहीं भी व्यभिचार नहीं है; इसलिये वह सत्य है ।

यदि कहो कि सुषुप्तिमें उसका व्यभिचार होता है तो ऐसा कहना भी ठीक नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिका भी अनुभव हुआ करता है; जैसा कि "विज्ञाताकी विज्ञातिका लोप नहीं होता" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

इसीलिये यह अदृश्य है । और क्योंकि अदृश्य है इसलिये अव्यवहार्य है तथा कर्मेन्द्रियोंसे अग्राह्य और अलक्षण यानी लिङ्गरहित है । तात्पर्य यह है कि उसका अनुमान नहीं किया जा सकता । इसीसे वह अचिन्त्य है अतएव शब्दोंद्वारा अकथनीय है । वह एकात्मप्रत्ययसार है अर्थात् जाग्रत् आदि स्थानोंमें एक ही आत्मा है—ऐसा जो अव्यभिचारी प्रत्यय है उससे अनुसरण किये जाने योग्य है । अथवा आत्मा है—इस प्रकार ही

तत्तुरीयमेकात्मप्रत्ययसारम् । "आत्मेत्येवोपासीत" (बृ० उ० १ । ४ । ७) इति श्रुतेः । अन्तःप्रज्ञत्वादिस्थानिधर्मप्रतिषेधः कृतः । प्रपञ्चोपशममिति जाग्रदादिस्थानधर्माभाव उच्यते । अत एव शान्तमविक्रियम्, शिवं यतोऽद्वैतं भेदविकल्परहितम् । चतुर्थं तुरीयं मन्यन्ते; प्रतीयमानपादत्रयरूपवैलक्षण्यात् । स आत्मा स विज्ञेय इति प्रतीयमानसर्पभूच्छिद्रदण्डादिव्यतिरिक्ता यथा रज्जुस्तथा तत्त्वमसीत्यादिवाक्यार्थ आत्मा "अदृष्टो द्रष्टा" (बृ० उ० ३ । ७ । २३) "न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४ । ३ । २३) इत्यादिभिरुक्तो यः । स विज्ञेय इति भूतपूर्वगत्या, ज्ञाते द्वैताभावः ॥ ७ ॥

उपासना करे" इस श्रुतिके अनुसार जिस तुरीयका ज्ञान प्राप्त करनेमें एक आत्मप्रत्यय ही सार यानी प्रमाण है वह तुरीय एकात्मप्रत्ययसार है ।

अन्तःप्रज्ञत्वादि स्थानियों (जाग्रत् आदि अवस्थाओंके अभिमानियों) के धर्मोंका प्रतिषेध किया गया, अब 'प्रपञ्चोपशमम्' इत्यादिसे जाग्रत् आदि स्थानों (अवस्थाओं) के धर्मोंका अभाव बतलाया जाता है । इसीलिये वह शान्त यानी अविकारी है और क्योंकि वह अद्वैत अर्थात् भेदरूप विकल्पसे रहित है, इसलिये शिव है । उसे चतुर्थ यानी तुरीय मानते हैं, क्योंकि यह प्रतीत होनेवाले पूर्वोक्त तीन पादोंसे विलक्षण है । वही आत्मा है और वही ज्ञातव्य है । अतः जिस प्रकार रज्जु अपनेमें प्रतीत होनेवाले सर्प, दण्ड और भूच्छिद्र आदिसे सर्वथा भिन्न है उसी प्रकार 'तत्त्वमसि' इत्यादि वाक्योंका अर्थस्वरूप आत्मा, जिसका कि "अदृश्य होकर भी देखनेवाला है" "द्रष्टाकी दृष्टिका लोप नहीं होता" इत्यादि श्रुतियोंने प्रतिपादन किया है, [अपनेमें अध्यस्त जाग्रदादि अवस्थाओंसे सर्वथा भिन्न है] । वही ज्ञातव्य है—ऐसा भूतपूर्वगतिसे* कहा जाता है, क्योंकि उसका ज्ञान होनेपर द्वैतका अभाव हो जाता है ॥ ७ ॥

* अर्थात् अविद्यावस्थामें आत्मामें जो ज्ञेयत्व मान रखा था उसीका आश्रय लेकर तुरीयको 'ज्ञातव्य' कहा जाता है । वास्तवमें तो जो अव्यवहार्य और अप्रमेय है उसे ज्ञातव्य भी नहीं कहा जा सकता ।

तुरीयका प्रभाव

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इसी अर्थमें ये श्लोक हैं—

निवृत्तेः सर्वदुःखानामीशानः प्रभुरव्ययः ।
अद्वैतः सर्वभावानां देवस्तुर्यो विभुः स्मृतः ॥ १० ॥

तुरीय आत्मा सब प्रकारके दुःखोंकी निवृत्तिमें ईशान—प्रभु (समर्थ) है । वह अविकारी, सब पदार्थोंका अद्वैतरूप, देव, तुरीय और व्यापक माना गया है ॥ १० ॥

प्राज्ञतैजसविश्वलक्षणानां सर्वदुःखानां निवृत्तेरीशानस्तुरीय आत्मा । ईशान इत्यस्य पदस्य व्याख्यानं प्रभुरिति । दुःखनिवृत्तिं प्रति प्रभुर्भवतीत्यर्थः । तद्विज्ञाननिमित्तत्वाद् दुःखनिवृत्तेः ।

अव्ययो न व्येति स्वरूपान्न व्यभिचरतीति यावत् एतत्कुतः यस्मादद्वैतः सर्वभावानां रज्जुसर्पवन्मृषात्वात्स एष देवो द्योतनातुरीयश्चतुर्थो विभुर्व्यापी स्मृतः ॥ १० ॥

तुरीय आत्मा प्राज्ञ, तैजस और विश्वरूप समस्त दुःखोंकी निवृत्तिमें ईशान है । 'ईशान' इस पदकी व्याख्या 'प्रभु' है । तात्पर्य यह है कि वह दुःखनिवृत्तिमें समर्थ है, क्योंकि उसका विज्ञान दुःखनिवृत्तिका कारण है ।

अव्यय—जो व्यय (विकार) को प्राप्त नहीं होता; अर्थात् जो स्वरूपसे व्यभिचरित यानी च्युत नहीं होता । क्यों च्युत नहीं होता ? क्योंकि वह अद्वैत है । अन्य सब पदार्थ रज्जुमें अध्यस्त सर्पके समान मिथ्या है; इसलिये प्रकाशनशील होनेके कारण वह यह देव तुर्य यानी चतुर्थ और विभु यानी व्यापक माना गया है ॥ १० ॥

विश्व और तैजससे तुरीयका भेद

विश्वादीनां सामान्यविशेषभावो निरूप्यते तुर्ययाथात्म्यावधारणार्थम्—

तुरीयका यथार्थ स्वरूप समझनेके लिये विश्व आदिके सामान्य और विशेष भावका निरूपण किया जाता है—

कार्यकारणबद्धौ ताविष्येते विश्वतैजसौ ।
प्राज्ञः कारणबद्धस्तु द्वौ तौ तुर्ये न सिध्यतः ॥ ११ ॥

विश्व और तैजस—ये दोनों कार्य (फलावस्था) और कारण (बीजावस्था) से बँधे हुए माने जाते हैं; किन्तु प्राज्ञ केवल कारणावस्थासे ही बद्ध है । तथा तुरीयमें तो ये दोनों ही नहीं हैं ॥ ११ ॥

कार्यं क्रियत इति फलभावः । कारणं करोतीति बीजभावः । तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणाभ्यां बीजफलभावाभ्यां तौ यथोक्तौ विश्वतैजसौ बद्धौ संगृहीताविष्येते । प्राज्ञस्तु बीजभावेनैव बद्धः । तत्त्वाप्रतिबोधमात्रमेव हि बीजं प्राज्ञत्वे निमित्तम् । ततो द्वौ तौ बीजफलभावौ तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणे तुर्ये न सिध्यतो न विद्येते न सम्भवत इत्यर्थः ॥ ११ ॥

जो किया जाय उसे कार्य कहते हैं; वह फलभाव है । और जो करता है उसे कारण कहते हैं; वह बीजभाव है । ये उपर्युक्त विश्व और तैजस तत्त्वके अग्रहण एवं अन्यथाग्रहणरूप बीजभाव और फलभावसे बँधे अर्थात् सम्यक् प्रकारसे पकड़े हुए माने जाते हैं । किन्तु प्राज्ञ केवल बीजभावसे ही बँधा हुआ है । तत्त्वका अप्रतिबोधरूप बीज ही उसके प्राज्ञत्वमें कारण है । इससे तात्पर्य यह है कि तुरीयमें वे बीज और फलभावरूप तत्त्वका अग्रहण एवं अन्यथाग्रहण दोनों ही नहीं रहते; उनकी तो वहाँ रहनेकी सम्भावना ही नहीं है ॥ ११ ॥

प्राज्ञसे तुरीयका भेद

कथं पुनः कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्य तुरीये वा तत्त्वाग्रहणान्यथाग्रहणलक्षणौ बन्धौ न सिध्यत इति । यस्मात्—

किन्तु प्राज्ञकी कारणबद्धता किस प्रकार है ? तथा तुरीयमें तत्त्वका अग्रहण और अन्यथाग्रहणरूप बन्धन कैसे सिद्ध नहीं होते ? इसपर कहते हैं, क्योंकि—

नात्मानं न परांश्चैव न सत्यं नापि चानृतम् ।
प्राज्ञः किञ्चन संवेत्ति तुर्यं तत्सर्वदृक्सदा ॥ १२ ॥

प्राज्ञ तो न अपनेको, न परायेको और न सत्यको अथवा अनृतको ही जानता है किन्तु वह तुरीय सर्वदा सर्वदृक् है ॥ १२ ॥

आत्मविलक्षणमविद्याबीजप्रसूतं बाह्यं द्वैतं प्राज्ञो न किञ्चन संवेत्ति तथा विश्वतैजसौ । ततश्चासौ तत्त्वाग्रहणेन तमसान्यथाग्रहणबीजभूतेन बद्धो भवति । यस्मात्तुरीयं तत्सर्वदृक्सदा तुरीयादन्यस्याभावात्सर्वदा सर्वं वेत्ति सर्वं च तद्दृक्चेति सर्वदृक्तस्मान्न तत्त्वाग्रहणलक्षणं बीजं तत्र । तत्प्रसूतस्यान्यथाग्रहणस्याप्यत एवाभावो न हि सवितरि सदा प्रकाशात्मके तद्विरुद्धमप्रकाशनमन्यथाप्रकाशनं वा सम्भवति ।

प्राज्ञ आत्मासे भिन्न अविद्यारूप बीजसे उत्पन्न हुए बहिःस्थित वेद्यपदार्थरूप द्वैतको कुछ भी नहीं जानता, जैसा कि विश्व और तैजस उसे जानते हैं । इसीलिये यह अन्यथाग्रहणके बीजभूत तत्त्वाग्रहणरूप अन्धकारसे बँधा रहता है । और क्योंकि तुरीयसे भिन्न पदार्थका सर्वथा अभाव होनेके कारण वह सदा-सर्वदा सर्वदृक्स्वरूप ही है—जो सर्वरूप और उसका साक्षी भी हो उसे 'सर्वदृक्' कहते हैं—इसलिये उसमें तत्त्वका अग्रहणरूप बीजावस्था नहीं है और इसीलिये उसमें उससे उत्पन्न होनेवाले अन्यथाग्रहणका भी अभाव है, क्योंकि सदा प्रकाशस्वरूप सूर्यमें उसके विपरीत अप्रकाशन अथवा

"न हि द्रष्टुर्दृष्टेर्विपरिलोपो विद्यते" (बृ० उ० ४ । ३ । २३) इति श्रुतेः ।

अथ वा जाग्रत्स्वप्नयोः सर्वभूतावस्थः सर्ववस्तुदृगाभासस्तुरीय एवेति सर्वदृक्सदा "नान्यदतोऽस्ति द्रष्टृ" (बृ० उ० ३ । ८ । ११) इत्यादि श्रुतेः ॥ १२ ॥

अन्यथा-प्रकाशन सम्भव नहीं है, जैसा कि "द्रष्टाकी दृष्टिका विपरिलोप नहीं होता" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

अथवा जाग्रत् एवं स्वप्नावस्थाके सम्पूर्ण भूतोंमें स्थित और समस्त पदार्थोंके साक्षीरूपसे तुरीय ही भासमान है इसलिये वह सर्वदा सर्वसाक्षी है, जैसा कि "इससे भिन्न और कोई द्रष्टा नहीं है" इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है ॥ १२ ॥

द्वैतस्याग्रहणं तुल्यमुभयोः प्राज्ञतुर्ययोः ।
बीजनिद्रायुतः प्राज्ञः सा च तुर्ये न विद्यते ॥ १३ ॥

द्वैतका अग्रहण तो प्राज्ञ और तुरीय दोनोंहीको समान है, किन्तु प्राज्ञ बीजस्वरूपा निद्रासे युक्त है और तुरीयमें वह निद्रा है नहीं ॥ १३ ॥

निमित्तान्तरप्राप्ताशङ्कानिवृत्त्यर्थोऽयं श्लोकः । कथं द्वैताग्रहणस्य तुल्यत्वात्कारणबद्धत्वं प्राज्ञस्यैव न तुरीयस्येति प्राप्ताशङ्का निवर्त्यते ।

यस्माद्बीजनिद्रायुतस्तत्त्वाप्रतिबोधो निद्रा, सैव च विशेषप्रतिबोधप्रसवस्य बीजम्; सा

यह श्लोक निमित्तान्तरसे प्राप्त आशङ्काकी निवृत्तिके लिये है । भला द्वैताग्रहणकी समानता होनेपर भी प्राज्ञकी ही कारणबद्धता क्यों है ? तुरीयकी क्यों नहीं है ?—इस प्रकार प्राप्त हुई आशङ्काको ही निवृत्त किया जाता है ।

[इसका यह कारण है] क्योंकि वह (प्राज्ञ) बीजनिद्रासे युक्त है—तत्त्वके अज्ञानका नाम निद्रा है, वही विशेष विज्ञानकी उत्पत्तिका

बीजनिद्रा, तया युतः प्राज्ञः । सदा दृक्स्वभावत्वात्तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणा निद्रा तुरीये न विद्यते । अतो न कारणबन्धस्तस्मिन्नित्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

बीज है; अतः उसे 'बीजनिद्रा' कहते हैं—प्राज्ञ उससे युक्त है। किन्तु सर्वदा सर्वदृक्स्वरूप होनेके कारण तुरीयमें वह बीजनिद्रा नहीं है; अतः उसमें कारणबद्धता नहीं है—यह इसका तात्पर्य है ॥१३॥

तुरीयका स्वप्न-निद्राशून्यत्व

स्वप्ननिद्रायुतावाद्यौ प्राज्ञस्त्वस्वप्ननिद्रया ।
न निद्रां नैव च स्वप्नं तुर्ये पश्यन्ति निश्चिताः ॥ १४ ॥

विश्व और तैजस—ये स्वप्न और निद्रासे युक्त हैं तथा प्राज्ञ स्वप्नरहित निद्रासे युक्त है; किन्तु निश्चित पुरुष तुरीयमें न निद्रा ही देखते हैं और न स्वप्न ही ॥ १४ ॥

स्वप्नोऽन्यथाग्रहणं सर्प इव रज्ज्वाम् । निद्रोक्ता तत्त्वाप्रतिबोधलक्षणं तम इति । ताभ्यां स्वप्ननिद्राभ्यां युक्तौ विश्वतैजसौ। अतस्तौ कार्यकारणबद्धावित्युक्तौ। प्राज्ञस्तु स्वप्नवर्जितकेवलयैव निद्रया युत इति कारणबद्ध इत्युक्तम्। नोभयं पश्यन्ति तुरीये निश्चिता ब्रह्मविदो विरुद्धत्वात् सवितरीव तमः। अतो न कार्यकारणबद्ध इत्युक्तस्तुरीयः ॥१४॥

रज्जुमें सर्प-ग्रहणके समान अन्यथाग्रहणका नाम स्वप्न है; तथा तत्त्वके अप्रतिबोधरूप तमको निद्रा कहते हैं। उन स्वप्न और निद्रासे विश्व और तैजस युक्त हैं; अतः वे कार्यकारणबद्ध कहे गये हैं। किन्तु प्राज्ञ तो स्वप्नरहित केवल निद्रासे ही युक्त है; इसलिये उसे कारणबद्ध कहा है। निश्चित यानी ब्रह्मवेत्ता लोग तुरीयमें ये दोनों ही बातें नहीं देखते, क्योंकि सूर्यमें अन्धकारके समान वे उससे विरुद्ध हैं। अतः तुरीय कार्य अथवा कारणसे बँधा हुआ नहीं है—ऐसा कहा गया है ॥ १४ ॥

कदा तुरीये निश्चितो भवतीत्युच्यते—

अब यह बतलाया जाता है कि मनुष्य तुरीयमें कब निश्चित होता है—

अन्यथा गृह्णतः स्वप्नो निद्रा तत्त्वमजानतः।
विपर्यासे तयोः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते ॥ १५ ॥

अन्यथा ग्रहण करनेसे स्वप्न होता है तथा तत्त्वको न जाननेसे निद्रा होती है और इन दोनों विपरीत ज्ञानोंका क्षय हो जानेपर तुरीय पदकी प्राप्ति होती है ॥ १५ ॥

स्वप्नजागरितयोरन्यथा रज्ज्वां सर्प इव गृह्णतस्तत्त्वं स्वप्नो भवति। निद्रा तत्त्वमजानतस्तिसृष्ववस्थासु तुल्या। स्वप्ननिद्रयोस्तुल्यत्वाद्विश्वतैजसयोरेकराशित्वम्। अन्यथाग्रहणप्राधान्याच्च गुणभूता निद्रेति तस्मिन्विपर्यासः स्वप्नः। तृतीये तु स्थाने तत्त्वाज्ञानलक्षणा निद्रैव केवला विपर्यासः।

रज्जुमें सर्पग्रहणके समान स्वप्न और जागरित अवस्थामें तत्त्वके अन्यथाग्रहणसे स्वप्न होता है तथा तत्त्वके न जाननेसे निद्रा होती है, जो तीनों अवस्थाओंमें तुल्य हैं। इस प्रकार स्वप्न और निद्रामें तुल्य होनेके कारण विश्व और तैजसकी एक राशि है। उनमें अन्यथाग्रहणकी प्रधानता होनेके कारण निद्रा गौण है; अतः उन अवस्थाओंमें स्वप्नरूप विपरीत ज्ञान रहता है। किन्तु तृतीय स्थान (सुषुप्ति) में केवल तत्त्वाग्रहणरूप निद्रा ही विपर्यास है।

अतस्तयोः कार्यकारणस्थानयोः अन्यथाग्रहणाग्रहणलक्षणविपर्यासे कार्यकारणबन्धरूपे परमार्थतत्त्वप्रतिबोधतः क्षीणे तुरीयं पदमश्नुते। तदोभयलक्षणं बन्ध-

अतः उन कार्यकारणरूप स्थानोंके अन्यथाग्रहण और तत्त्वाग्रहणरूप विपर्यासोंका परमार्थतत्त्वके बोधसे क्षय हो जानेपर तुरीय पदकी प्राप्ति होती है। तब उस अवस्थामें दोनों प्रकारका बन्धन न देखनेसे

रूपं तत्रापश्यंस्तुरीये निश्चितो भवतीत्यर्थः ॥ १५ ॥

पुरुष तुरीयमें निश्चित हो जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १५ ॥

बोध कब होता है ?

अनादिमायया सुप्तो यदा जीवः प्रबुध्यते ।
अजमनिद्रमस्वप्नमद्वैतं बुध्यते तदा ॥ १६ ॥

जिस समय अनादि मायासे सोया हुआ जीव जागता है [अर्थात् तत्त्वज्ञान लाभ करता है] उसी समय उसे अज, अनिद्र और स्वप्नरहित अद्वैत आत्मतत्त्वका बोध प्राप्त होता है ॥ १६ ॥

योऽयं संसारी जीवः स उभयलक्षणेन तत्त्वाप्रतिबोधरूपेण बीजात्मनान्यथाग्रहणलक्षणेन च अनादिकालप्रवृत्तेन मायालक्षणेन स्वप्नेन ममायं पिता पुत्रोऽयं नप्ता क्षेत्रं पशवोऽहमेषां स्वामी सुखी दुःखी क्षयितोऽहमनेन वर्धितश्चानेनेत्येवंप्रकारान्स्वप्नान् स्थानद्वयेऽपि पश्यन्सुप्तः ।

यह जो संसारी जीव है वह तत्त्वाप्रतिबोधरूप बीजात्मिका एवं अन्यथाग्रहणरूप अनादिकालसे प्रवृत्त मायारूप निद्राके कारण [स्वप्न और जागरित] दोनों ही अवस्थाओंमें 'यह मेरा पिता है, यह पुत्र है, यह नाती है, ये मेरे क्षेत्र, गृह और पशु हैं, मैं इनका स्वामी हूँ तथा इनके कारण सुखी-दुःखी, क्षीण और वृद्धिको प्राप्त होता हूँ, इत्यादि प्रकारके स्वप्न देखता हुआ सो रहा है ।

यदा वेदान्तार्थतत्त्वाभिज्ञेन परमकारुणिकेन गुरुणा नास्त्येवं त्वं हेतुफलात्मकः किं तु तत्त्वमसीति प्रतिबोध्यमानः, तदैवं प्रतिबुध्यते—

जिस समय वेदान्तार्थके तत्त्वको जाननेवाले किसी परम कारुणिक गुरुके द्वारा 'तू इस प्रकार हेतु एवं फलस्वरूप नहीं है, किन्तु तू वही है' इस प्रकार जगाया जाता है उस समय उसे ऐसा बोध प्राप्त होता है—

कथम्? नास्मिन्बाह्यमाभ्यन्तरं वा जन्मादिभावविकारोऽस्त्यतोऽजं सबाह्याभ्यन्तरसर्वभावविकारवर्जितमित्यर्थः। यस्माज्जन्मादिकारणभूतं नास्मिन्नविद्यातमोबीजं निद्रा विद्यत इत्यनिद्रम्। अनिद्रं हि तत्तुरीयमत एवास्वप्नम्। तन्निमित्तत्वादन्यथाग्रहणस्य। यस्माच्चानिद्रमस्वप्नं तस्मादजमद्वैतं तुरीयमात्मानं बुध्यते तदा॥ १६॥

किस प्रकारका बोध होता है? [सो बतलाते हैं—] इसमें बाह्य अथवा आभ्यन्तर जन्मादि विकार नहीं है, इसलिये यह अजन्मा यानी सम्पूर्ण भाव-विकारोंसे रहित है। और क्योंकि इसमें जन्मादिकी कारणभूत तथा अविद्यारूप अन्धकारकी बीजभूत अविद्या नहीं है इसलिये यह अनिद्र है। वह तुरीय अनिद्र है, इसीलिये अस्वप्न भी है; क्योंकि अन्यथाग्रहण तो [तत्त्वाप्रतिबोधरूप] निद्राहीके कारण हुआ करता है। इस प्रकार क्योंकि वह अनिद्र और अस्वप्न है इसलिये ही उस समय अजन्मा और अद्वैत तुरीय आत्माका बोध होता है॥ १६॥

प्रपञ्चनिवृत्त्या चेत्प्रतिबुध्यतेऽनिवृत्ते प्रपञ्चे कथमद्वैतमित्युच्यते—

यदि बोध प्रपञ्चनिवृत्तिसे ही होता है तो जबतक प्रपञ्चकी निवृत्ति न हो तबतक अद्वैत कैसा? इसपर कहा जाता है—

प्रपञ्चका अत्यन्ताभाव

प्रपञ्चो यदि विद्येत निवर्तेत न संशयः।
मायामात्रमिदं द्वैतमद्वैतं परमार्थतः॥ १७॥

प्रपञ्च यदि होता तो निवृत्त हो जाता—इसमें सन्देह नहीं। किन्तु [वास्तवमें] यह द्वैत तो मायामात्र है, परमार्थतः तो अद्वैत ही है॥ १७॥

सत्यमेवं स्यात्प्रपञ्चो यदि विद्येत, रज्ज्वां सर्प इव कल्पितत्वान्न तु स विद्यते। विद्यमानश्चेन्निवर्तेत न संशयः। न हि रज्ज्वां भ्रान्तिबुद्ध्या कल्पितः सर्पो विद्यमानः सन्विवेकतो निवृत्तः। नैव माया मायाविना प्रयुक्ता तद्दर्शिनां चक्षुर्बन्धापगमे विद्यमाना सती निवृत्ता। तथेदं प्रपञ्चाख्यं मायामात्रं द्वैतं रज्जुवन्मायाविवच्चाद्वैतं परमार्थतस्तस्मान्न कश्चित्प्रपञ्चः प्रवृत्तो निवृत्तो वास्तीत्यभिप्रायः ॥१७॥

यदि प्रपञ्च विद्यमान होता तो सचमुच ऐसा ही होता; किन्तु वह तो रज्जुमें सर्पके समान कल्पित होनेके कारण [वस्तुतः] है ही नहीं। यदि वह होता तो, इसमें सन्देह नहीं, निवृत्त भी हो जाता। रज्जुमें भ्रमबुद्धिसे कल्पना किया हुआ सर्प [वस्तुतः] विद्यमान रहते हुए विवेकसे निवृत्त नहीं होता। मायावीद्वारा फैलायी हुई माया, देखनेवालोंके दृष्टिबन्धनके हटाये जानेपर, पहले विद्यमान रहती हुई निवृत्त नहीं होती। इसी प्रकार यह प्रपञ्चसंज्ञक द्वैत भी मायामात्र ही है; परमार्थतः तो रज्जु अथवा मायावीके समान अद्वैत ही है। अतः तात्पर्य यह है कि कोई भी प्रपञ्च प्रवृत्त अथवा निवृत्त होनेवाला नहीं है ॥ १७ ॥

गुरु-शिष्यादि विकल्प व्यावहारिक है

ननु शास्ता शास्त्रं शिष्य इति विकल्पः कथं निवर्तत इत्युच्यते—

यदि कहो कि शासक, शास्त्र और शिष्य—इस प्रकारका विकल्प किस प्रकार निवृत्त हो सकता है ? तो इसपर कहा जाता है—

विकल्पो विनिवर्तेत कल्पितो यदि केनचित्।
उपदेशादयं वादो ज्ञाते द्वैतं न विद्यते ॥ १८ ॥

इस [गुरु-शिष्यादि] विकल्पकी यदि किसीने कल्पना की होती तो यह निवृत्त भी हो जाता । यह [गुरु-शिष्यादि] वाद तो उपदेशके ही लिये है । आत्मज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता ॥ १८ ॥

विकल्पो विनिवर्तेत यदि केनचित्कल्पितः स्यात् । यथायं प्रपञ्चो मायारज्जुसर्पवत्तथायं शिष्यादि भेदविकल्पोऽपि प्राक् प्रतिबोधादेवोपदेशनिमित्तोऽत उपदेशादयं वादः शिष्यः शास्ता शास्त्रमिति । उपदेशकार्ये तु ज्ञाने निर्वृत्ते ज्ञाते परमार्थतत्त्वे द्वैतं न विद्यते ॥ १८ ॥

यदि किसीने इसकी कल्पना की होती तो यह विकल्प निवृत्त हो जाता । जिस प्रकार यह प्रपञ्च माया और रज्जुसर्पके सदृश है उसी प्रकार यह शिष्यादि भेदविकल्प भी आत्मज्ञानसे पूर्व ही उपदेशके निमित्तसे हैं । अतः शिष्य, शासक और शास्त्र—यह वाद उपदेशके ही लिये है । उपदेशके कार्यस्वरूप ज्ञानके निष्पन्न होनेपर, अर्थात् परमार्थतत्त्वका ज्ञान हो जानेपर द्वैतकी सत्ता नहीं रहती ॥ १८ ॥

आत्मा और उसके पादोंके साथ ओङ्कार और उसकी मात्राओंका तादात्म्य

अभिधेयप्रधान ओङ्कारश्चतुष्पादात्मेति व्याख्यातो यः—

अबतक जिस ओङ्काररूप चतुष्पाद आत्माका अभिधेय (वाच्यार्थ) की प्रधानतासे वर्णन किया है—

सोऽयमात्माध्यक्षरमोङ्कारोऽधिमात्रं पादा मात्रा मात्राश्च पादा अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

वह यह आत्मा अक्षरदृष्टिसे ओङ्कार है, वह मात्राओंको विषय करके स्थित है । पाद ही मात्रा हैं और मात्रा ही पाद हैं; वे मात्रा अकार, उकार और मकार हैं ॥ ८ ॥

सोऽयमात्माध्यक्षरमक्षरमधिकृत्याभिधानप्राधान्येन वर्ण्यमानोऽध्यक्षरम् । किं पुनस्तदक्षरमित्याह, ओङ्कारः । सोऽयमोङ्कारः पादशः प्रविभज्यमानः, अधिमात्रं मात्रामधिकृत्य वर्तत इत्यधिमात्रम् । कथम् ? आत्मनो ये पादास्त ओङ्कारस्य मात्राः । कास्ताः ? अकार उकारो मकार इति ॥ ८ ॥

वह यह आत्मा अध्यक्षर है; अक्षरका आश्रय लेकर जिसका अभिधानकी प्रधानतासे वर्णन किया जाय उसे अध्यक्षर कहते हैं । किन्तु वह अक्षर है क्या ? इसपर कहते हैं—वह ओङ्कार है । वह यह ओङ्कार पादरूपसे विभक्त किये जानेपर अधिमात्र यानी मात्राको आश्रय करके वर्तमान रहता है, इसलिये इसे 'अधिमात्र' कहते हैं । सो किस प्रकार ? क्योंकि आत्माके जो पाद हैं वे ही ओङ्कारकी मात्राएँ हैं । वे मात्राएँ कौन-सी हैं ? अकार, उकार और मकार—ये ही [वे मात्राएँ हैं] ॥ ८ ॥

अकार और विश्वका तादात्म्य

तत्र विशेषनियमः क्रियते—

अब उनमें विशेष नियम किया जाता है—

जागरितस्थानो वैश्वानरोऽकारः प्रथमा मात्राप्तेरादिमत्त्वाद्वाप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिश्च भवति य एवं वेद ॥ ९ ॥

जिसका जागरित स्थान है वह वैश्वानर व्याप्ति और आदिमत्त्वके कारण [ओङ्कारकी] पहली मात्रा अकार है । जो उपासक इस प्रकार जानता है वह सम्पूर्ण कामनाओंको प्राप्त कर लेता है और [महापुरुषोंमें] आदि (प्रधान) होता है ॥ ९ ॥

जागरितस्थानो वैश्वानरो यः स ओङ्कारस्याकारः प्रथमा मात्रा ।

जो जागरित स्थानवाला वैश्वानर है वही ओङ्कारकी पहली मात्रा

केन सामान्येनेत्याह—आप्तेराप्ति र्व्याप्तिरकारेण सर्वा वाग्व्याप्ता "अकारो वै सर्वा वाक्" (ऐ० आ० २ । ३ । ६) इति श्रुतेः । तथा वैश्वानरेण जगत्; "तस्य ह वा एतस्यात्मनो वैश्वानरस्य मूर्धैव सुतेजाः" (छा० उ० ५ । १८ । २) इत्यादिश्रुतेः ।

अभिधानाविधेययोरेकत्वं चावोचाम । आदिरस्य विद्यत इत्यादिमद्यथैवादिमदकाराख्यमक्षरं तथैव वैश्वानरस्तस्माद्वा सामान्यादकारत्वं वैश्वानरस्य । तदेकत्वविदः फलमाह—आप्नोति ह वै सर्वान्कामानादिः प्रथमश्च भवति महतां य एवं वेद, यथोक्तमेकत्वं वेदेत्यर्थः ॥ ९ ॥

अकार है । किस समानताके कारण पहली मात्रा है—इसपर कहते हैं—आप्तिके कारण, आप्तिका अर्थ व्याप्ति है । "अकार निश्चय ही सम्पूर्ण वाणी है" इस श्रुतिके अनुसार अकारसे समस्त वाणी व्याप्त है । तथा "उस इस वैश्वानर आत्माका मस्तक ही द्युलोक है" इस श्रुतिके अनुसार वैश्वानरसे सारा जगत् व्याप्त है ।

अभिधान (वाचक) और अभिधेय (वाच्य) की एकता तो हम कह ही चुके हैं । जिसमें आदि (प्रथमता) हो उसे आदिमत् कहते हैं । जिस प्रकार अकार नामक अक्षर आदिमान् है उसी प्रकार वैश्वानर भी है । उसी समानताके कारण वैश्वानरकी अकाररूपता है । उनकी एकता जाननेवालेके लिये फल बतलाया जाता है—'जो पुरुष ऐसा जानता है अर्थात् उपर्युक्त एकत्वको जाननेवाला है वह समस्त कामनाओंको प्राप्त कर लेता है तथा महापुरुषोंमें आदि—प्रथम होता है' ॥ ९ ॥

उकार और तैजसका तादात्म्य

स्वप्नस्थानस्तैजस उकारो द्वितीया मात्रोत्कर्षादुभयत्वाद्वोत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिं समानश्च भवति नास्याब्रह्मवित्कुले भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

स्वप्न जिसका स्थान है वह तैजस उत्कर्ष तथा मध्यवर्तित्वके कारण ओङ्कारकी द्वितीय मात्रा उकार है । जो उपासक ऐसा जानता है वह अपनी ज्ञानसन्तानका उत्कर्ष करता है, सबके प्रति समान होता है और उसके वंशमें कोई ब्रह्मज्ञानहीन पुरुष नहीं होता ॥ १० ॥

स्वप्नस्थानस्तैजसो यः स ओङ्कारस्योकारो द्वितीया मात्रा । केन सामान्येनेत्याह—उत्कर्षात् । अकारादुत्कृष्ट इव ह्युकारस्तथा तैजसो विश्वादुभयत्वाद्वाकारमकारयोर्मध्यस्थ उकारस्तथा विश्वप्राज्ञयोर्मध्ये तैजसोऽत उभयभाक्त्वसामान्यात् ।

विद्वत्फलमुच्यते—उत्कर्षति ह वै ज्ञानसन्ततिम् । विज्ञानसन्ततिं वर्धयतीत्यर्थः । समानस्तुल्यश्च मित्रपक्षस्येव शत्रुपक्षाणामप्यप्रद्वेष्यो भवति । अब्रह्मविदस्य कुले न भवति य एवं वेद ॥ १० ॥

जो स्वप्नस्थानवाला तैजस है वह ओङ्कारकी दूसरी मात्रा उकार है । किस समानताके कारण दूसरी मात्रा है—इसपर कहते हैं—उत्कर्षके कारण । जिस प्रकार अकारसे उकार उत्कृष्ट-सा है उसी प्रकार विश्वसे तैजस उत्कृष्ट है । अथवा मध्यवर्तित्वके कारण [उन दोनोंमें समानता है] । जिस प्रकार उकार अकार और मकारके मध्यमें स्थित है उसी प्रकार विश्व और प्राज्ञके मध्यमें तैजस है । अतः उभयपरत्वरूप समानताके कारण भी [उनमें अभिन्नता है] ।

अब इस प्रकार जाननेवालेको जो फल मिलता है वह बतलाया जाता है—जो इस प्रकार जानता है वह ज्ञानसन्तति अर्थात् विज्ञान सन्तानका उत्कर्ष यानी वृद्धि करता है, सबके प्रति समान—तुल्य होता है अर्थात् मित्रपक्षके समान शत्रुपक्षका भी अद्वेष्य होता है तथा उसके कुलमें कोई ब्रह्मज्ञानहीन पुरुष नहीं होता ॥ १० ॥

मकार और प्राज्ञका तादात्म्य

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो मकारस्तृतीया मात्रा मितेरपीतेर्वा मिनोति ह वा इदं सर्वमपीतिश्च भवति य एवं वेद ॥ ११ ॥

सुषुप्ति जिसका स्थान है वह प्राज्ञ मान और लयके कारण ओङ्कारकी तीसरी मात्रा मकार है। जो उपासक ऐसा जानता है वह इस सम्पूर्ण जगत्का मान—प्रमाण कर लेता है और उसका लयस्थान हो जाता है ॥ ११ ॥

सुषुप्तस्थानः प्राज्ञो यः स ओङ्कारस्य मकारस्तृतीया मात्रा। केन सामान्येनेत्याह सामान्यमिदमत्र; मितेर्मितिर्मानं मीयते इव हि विश्वतैजसौ प्राज्ञेन प्रलयोत्पत्त्योः प्रवेशनिर्गमाभ्यां प्रस्थेनेव यवाः। यथोङ्कारसमाप्तौ पुनः प्रयोगे च प्रविश्य निर्गच्छत इवाकारोकारौ मकारे।

सुषुप्तिस्थानवाला जो प्राज्ञ है वह ओङ्कारकी तीसरी मात्रा मकार है। किस समानताके कारण? सो बतलाते हैं—यहाँ इनमें यह समानता है—ये मितिके कारण [समान हैं]। मिति मानको कहते हैं; जिस प्रकार प्रस्थ (एक प्रकारके बाट) से जौ तौले जाते हैं उसी प्रकार प्रलय और उत्पत्तिके समय मानो प्रवेश और निर्गमनके द्वारा प्राज्ञसे विश्व और तैजस मापे जाते हैं; क्योंकि ओङ्कारकी समाप्तिपर उसका पुनः प्रयोग किये जानेपर मानो अकार और उकार मकारमें प्रवेश करके उससे पुनः निकलते हैं।

अपीतेर्वा। अपीतिरप्यय एकीभावः। ओङ्कारोच्चारणे ह्यन्त्येऽक्षर एकीभूताविवाकारोकारौ।

अथवा अपीतिके कारण भी उनमें एकता है। अपीति अप्यय अर्थात् एकीभावको कहते हैं। क्योंकि [जिस प्रकार] ओङ्कारका उच्चारण करनेपर अकार और उकार अन्तिम अक्षरमें एकीभूत-से हो जाते हैं

तथा विश्वतैजसौ सुषुप्तकाले प्राज्ञे । अतो वा सामान्यादेकत्वं प्राज्ञमकारयोः ।

विद्वत्फलमाह; मिनोति ह वा इदं सर्वं जगद्याथात्म्यं जानातीत्यर्थः । अपीतिश्च जगत्कारणात्मा भवतीत्यर्थः । अत्रावान्तरफलवचनं प्रधान-साधनस्तुत्यर्थम् ॥ ११ ॥

उसी प्रकार सुषुप्तिके समय विश्व और तैजस प्राज्ञमें लीन हो जाते हैं । सो, इस समानताके कारण भी प्राज्ञ और मकारकी एकता है ।

अब इस प्रकार जाननेवालेको जो फल मिलता है वह बतलाते हैं—[जो ऐसा जानता है] वह इस सम्पूर्ण जगत्को माप लेता है, अर्थात् इसका यथार्थ स्वरूप जान लेता है; तथा अपीति यानी जगत्का कारणस्वरूप हो जाता है । यहाँ जो अवान्तर फल बतलाये गये हैं वे प्रधान साधनकी स्तुतिके लिये हैं ॥ ११ ॥

मात्राओंकी विश्वादिरूपता

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इसी अर्थमें ये श्लोक भी हैं—

विश्वस्यात्वविवक्षायामादिसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादाप्तिसामान्यमेव च ॥ १९ ॥

जिस समय विश्वका अत्व—अकारमात्रत्व बतलाना इष्ट हो, अर्थात् वह अकारमात्रारूप है ऐसा जाना जाय तो उनके प्राथमिकत्वकी समानता स्पष्ट ही है तथा उनकी व्याप्तिरूप समानता भी स्फुट ही है ॥ १९ ॥

विश्वस्यात्वमकारमात्रत्वं यदा विवक्ष्यते तदादित्वसामान्य-मुक्तन्यायेनोत्कटमुद्भूतं दृश्यत

जिस समय विश्वका अत्व यानी अकारमात्रत्व कहना इष्ट होता है उस समय पूर्वोक्त न्यायसे उनके प्राथमिकत्वकी समानता उत्कट

इत्यर्थः । अत्वविवक्षायामित्यस्य व्याख्यानं मात्रासंप्रतिपत्ताविति विश्वस्याकारमात्रत्वं यदा संप्रतिपद्यत इत्यर्थः । आप्तिसामान्यमेव चोत्कटमित्यनुवर्तते चशब्दात् ॥ १९ ॥

अर्थात् उद्भूत (प्रकटरूपसे) दिखायी देती है । 'मात्रासंप्रतिपत्तौ'—यह 'अत्वविवक्षायाम्' इस पदकी ही व्याख्या है । तात्पर्य यह है कि जिस समय विश्वके अकारमात्रत्वका ज्ञान होता है उस समय उनकी व्याप्तिकी समानता तो स्पष्ट ही है । यहाँ 'च' शब्दसे 'उत्कटम्' इस पदकी अनुवृत्ति की जाती है ॥ १९ ॥

तैजसस्योत्वविज्ञान उत्कर्षो दृश्यते स्फुटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ स्यादुभयत्वं तथाविधम् ॥ २० ॥

तैजसको उकाररूप जाननेपर अर्थात् तैजस उकारमात्रारूप है ऐसा जाननेपर उनका उत्कर्ष स्पष्ट दिखायी देता है । तथा उनका उभयत्व भी स्पष्ट ही है ॥ २० ॥

तैजसस्योत्वविज्ञान उकारत्वविवक्षायामुत्कर्षो दृश्यते स्फुटं स्पष्ट इत्यर्थः उभयत्वं च स्फुटमेवेति । पूर्ववत्सर्वम् ॥ २० ॥

तैजसके उत्व-विज्ञानमें अर्थात् उसका उकाररूपसे प्रतिपादन करनेमें उसका उत्कर्ष तो स्पष्ट ही दिखलायी देता है । इसी प्रकार उभयत्व भी स्पष्ट ही है । शेष सब पूर्ववत् है ॥ २० ॥

मकारभावे प्राज्ञस्य मानसामान्यमुत्कटम् ।
मात्रासंप्रतिपत्तौ तु लयसामान्यमेव च ॥ २१ ॥

प्राज्ञकी मकाररूपतामें अर्थात् प्राज्ञ मकारमात्रारूप है—ऐसा जाननेमें उनकी मान करनेकी समानता स्पष्ट है । इसी प्रकार उनमें लयस्थान होनेकी समानता भी स्पष्ट ही है ॥ २१ ॥

मकारत्वे प्राज्ञस्य मितिलयावुत्कृष्टे सामान्ये इत्यर्थः ॥२१॥

प्राज्ञके मकाररूप होनेमें मान और लयरूप समानता स्पष्ट हैं—यह इसका तात्पर्य है ॥ २१ ॥

ओङ्कारोपासकका प्रभाव

त्रिषु धामसु यस्तुल्यं सामान्यं वेत्ति निश्चितः ।
स पूज्यः सर्वभूतानां वन्द्यश्चैव महामुनिः ॥ २२ ॥

जो पुरुष तीनों स्थानोंमें [बतलायी गयी] तुल्यता अथवा समानताको निश्चयपूर्वक जानता है वह महामुनि समस्त प्राणियोंका पूजनीय और वन्दनीय होता है ॥ २२ ॥

यथोक्तस्थानत्रये यस्तुल्यमुक्तं सामान्यं वेत्त्येवमेवैतदिति निश्चितो यः स पूज्यो वन्द्यश्च ब्रह्मविल्लोके भवति ॥ २२ ॥

उपर्युक्त तीनों स्थानोंमें तुल्यरूपसे बतलायी गयी समानताको जो 'यह इसी प्रकार है' ऐसा निश्चयपूर्वक जानता है वह ब्रह्मवेत्ता लोकमें पूजनीय एवं वन्दनीय होता है ॥२२॥

ओङ्कारकी व्यस्तोपासनाके फल

यथोक्तैः सामान्यैरात्मपादानां मात्राभिः सहैकत्वं कृत्वा यथोक्तोङ्कारं प्रतिपद्य यो ध्यायति तम्—

पूर्वोक्त समानताओंसे आत्माके पादोंका मात्राओंके साथ एकत्व करके उपर्युक्त ओंकारको जानते हुए जो उसका ध्यान करता है उसे—

अकारो नयते विश्वमुकारश्चापि तैजसम् ।
मकारश्च पुनः प्राज्ञं नामात्रे विद्यते गतिः ॥ २३ ॥

अकार विश्वको प्राप्त करा देता है तथा उकार तैजसको और मकार प्राज्ञको; किन्तु अमात्रमें किसीकी गति नहीं है ॥ २३ ॥

अकारो नयते विश्वं प्रापयति। अकारालम्बनोङ्कारं विद्वान्वैश्वानरो भवतीत्यर्थः। तथोकारस्तैजसम्। मकारश्चापि पुनः प्राज्ञम्। चशब्दान्नयत इत्यनुवर्तते। क्षीणे तु मकारे बीजभावक्षयादमात्र ओङ्कारे गतिर्न विद्यते क्वचिदित्यर्थः ॥ २३ ॥

अकार विश्वको प्राप्त करा देता है; अर्थात् अकारके आश्रित ओंकारको जाननेवाला पुरुष वैश्वानर होता है। इसी प्रकार उकार तैजसको और मकार पुनः प्राज्ञको प्राप्त करा देता है। 'च' शब्दसे 'नयते' (प्राप्त करा देता है) इस क्रियाकी अनुवृत्ति होती है। तथा मकारका क्षय होनेपर बीजभावका क्षय हो जानेसे मात्राहीन ओंकारमें कोई गति नहीं होती—यह इसका तात्पर्य है ॥ २३ ॥

अमात्र और आत्माका तादात्म्य

अमात्रश्चतुर्थोऽव्यवहार्यः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत एवमोङ्कार आत्मैव संविशत्यात्मनात्मानं य एवं वेद ॥ १२ ॥

मात्रारहित ओङ्कार तुरीय आत्मा ही है। वह अव्यवहार्य, प्रपञ्चोपशम, शिव और अद्वैत है। इस प्रकार ओङ्कार आत्मा ही है। जो उसे इस प्रकार जानता है वह स्वतः अपने आत्मामें ही प्रवेश कर जाता है ॥ १२ ॥

अमात्रो मात्रा यस्य नास्ति सोऽमात्र ओङ्कारश्चतुर्थस्तुरीय आत्मैव केवलोऽभिधानाभिधेयरूपयोर्वाङ्मनसयोः क्षीणत्वादव्यवहार्यः। प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैतः संवृत्त एवं यथोक्त-

अमात्र—जिसकी मात्रा नहीं है वह अमात्र ओङ्कार चौथा अर्थात् तुरीय केवल आत्मा ही है। अभिधानरूप वाणी और अभिधेयरूप मनका क्षय हो जानेके कारण वह अव्यवहार्य है तथा वह प्रपञ्चकी निषेधावधि, मङ्गलमय और अद्वैत-

विज्ञानवता प्रयुक्त ओङ्कारस्त्रिमात्रस्त्रिपाद आत्मैव । संविशत्यात्मना स्वेनैव। स्वं पारमार्थिकमात्मानं य एवं वेद। परमार्थदर्शी ब्रह्मवित् तृतीयं बीजभावं दग्ध्वात्मानं प्रविष्ट इति न पुनर्जायते तुरीयस्याबीजत्वात् ।

न हि रज्जुसर्पयोर्विवेके रज्ज्वां प्रविष्टः सर्पो बुद्धिसंस्कारात्पुनः पूर्ववत्तद्विवेकिनामुत्थास्यति । मन्दमध्यमधियां तु प्रतिपन्नसाधकभावानां सन्मार्गगामिनां संन्यासिनां मात्राणां पादानां च क्लृप्तसामान्यविदां यथावदुपास्यमान ओङ्कारो ब्रह्मप्रतिपत्तय आलम्बनीभवति तथा च वक्ष्यति—"आश्रमास्त्रिविधाः" (माण्डू० का० ३ । १६) इत्यादि ॥ १२ ॥

स्वरूप है । इस प्रकार पूर्वोक्त विज्ञानवान् उपासकद्वारा प्रयोग किया हुआ तीन मात्रावाला ओङ्कार तीन पादवाला आत्मा ही है । जो इस प्रकार जानता है [अर्थात् इस प्रकार उसकी उपासना करता है] वह स्वतः ही अपने पारमार्थिक आत्मामें प्रवेश करता है । परमार्थदर्शी ब्रह्मवेत्ता तीसरे बीजभावको भी दग्ध करके आत्मामें प्रवेश करता है; इसलिये उसका पुनर्जन्म नहीं होता, क्योंकि तुरीय आत्मा अबीजात्मक है ।

रज्जु और सर्पका विवेक हो जानेपर रज्जुमें लीन हुआ सर्प जिन्हें उसका विवेक हो गया है उन पुरुषोंको बुद्धिके संस्कारवश पुनः प्रतीत नहीं हो सकता । किन्तु जो मन्द और मध्यम बुद्धिवाले, साधकभावको प्राप्त, सन्मार्गगामी संन्यासी पूर्वोक्त मात्रा और पादोंके निश्चित सामान्यभावको जाननेवाले हैं उनके लिये तो विधिवत् उपासना किया हुआ ओङ्कार ब्रह्मप्राप्तिके लिये आश्रयस्वरूप होता है । यही बात "तीन प्रकारके आश्रम हैं" इत्यादि वाक्योंसे कहेंगे ॥ १२ ॥

समस्त और व्यस्त ओङ्कारोपासना

पूर्ववत्—

पहलेके समान—

अत्रैते श्लोका भवन्ति—

इसी अर्थमें ये श्लोक भी हैं—

ओङ्कारं पादशो विद्यात्पादा मात्रा न संशयः ।
ओङ्कारं पादशो ज्ञात्वा न किंचिदपि चिन्तयेत् ॥ २४ ॥

ओङ्कारको एक-एक पाद करके जाने; पाद ही मात्राएँ हैं—इसमें सन्देह नहीं। इस प्रकार ओङ्कारको पादक्रमसे जानकर कुछ भी चिन्तन न करे ॥ २४ ॥

यथोक्तैः सामान्यैः पादा एव मात्रा मात्राश्च पादास्तस्मादोङ्कारं पादशो विद्यादित्यर्थः। एवमोङ्कारे ज्ञाते दृष्टार्थमदृष्टार्थं वा न किंचित् प्रयोजनं चिन्तयेत्कृतार्थत्वादित्यर्थः ॥ २४ ॥

पूर्वोक्त समानताओंके कारण पाद ही मात्राएँ हैं और मात्राएँ ही पाद हैं। अतः तात्पर्य यह है कि ओङ्कारको पादक्रमसे जाने। इस प्रकार ओङ्कारका ज्ञान हो जानेपर कृतार्थ हो जानेके कारण किसी भी दृष्टार्थ (ऐहिक) अथवा अदृष्टार्थ (पारलौकिक) प्रयोजनका चिन्तन न करे—यह इसका अभिप्राय है ॥ २४ ॥

युञ्जीत प्रणवे चेतः प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् ।
प्रणवे नित्ययुक्तस्य न भयं विद्यते क्वचित् ॥ २५ ॥

चित्तको ओङ्कारमें समाहित करे; ओङ्कार निर्भय ब्रह्मपद है। ओङ्कारमें नित्य समाहित रहनेवाले पुरुषको कहीं भी भय नहीं होता॥२५॥

युञ्जीत समादध्याद्यथाव्याख्याते परमार्थरूपे प्रणवे चेतो

जिसकी पहले व्याख्या की जा चुकी है उस परमार्थस्वरूप ओङ्कारमें

मनः । यस्मात्प्रणवो ब्रह्म निर्भयम् । न हि तत्र सदा युक्तस्य भयं विद्यते क्वचित् "विद्वान्न बिभेति कुतश्चन" (तै० उ० २ । ९) इति श्रुतेः ॥२५॥

चित्तको युक्त–समाहित करे, क्योंकि ओङ्कार ही निर्भय ब्रह्म है। उसमें नित्य समाहित रहनेवाले पुरुषको कहीं भी भय नहीं होता, जैसा कि "विद्वान् कहीं भी भयको प्राप्त नहीं होता" इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है ॥ २५ ॥

प्रणवो ह्यपरं ब्रह्म प्रणवश्च परः स्मृतः ।
अपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्योऽनपरः प्रणवोऽव्ययः ॥ २६ ॥

ओङ्कार ही परब्रह्म है और ओङ्कार ही अपरब्रह्म माना गया है। वह ओङ्कार अपूर्व (अकारण), अन्तर्बाह्यशून्य, अकार्य तथा अव्यय है ॥ २६ ॥

परापरे ब्रह्मणी प्रणवः । परमार्थतः क्षीणेषु मात्रापादेषु पर एवात्मा ब्रह्मेति न पूर्वं कारणमस्य विद्यत इत्यपूर्वः। नास्यान्तरं भिन्नजातीयं किञ्चिद्विद्यत इत्यनन्तरः। तथा बाह्यमन्यन्न विद्यत इत्यबाह्यः । अपरं कार्यमस्य न विद्यत इत्यनपरः । सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः सैन्धवघनवत् प्रज्ञानघन इत्यर्थः ॥२६॥

पर और अपर ब्रह्म प्रणव हैं। वस्तुतः मात्रारूप पादोंके क्षीण होनेपर पर आत्मा ही ब्रह्म है, इसलिये इसका कोई पूर्व यानी कारण न होनेसे यह अपूर्व है। इसका कोई अन्तर–भिन्नजातीय भी नहीं है, इसलिये यह अनन्तर है तथा इससे बाह्य भी कोई और नहीं है, इसलिये यह अबाह्य है और इसका कोई अपर–कार्य भी नहीं है इसलिये यह अनपर है। तात्पर्य यह है कि यह बाहर-भीतरसे अजन्मा तथा सैन्धवघनके समान प्रज्ञानघन ही है ॥ २६ ॥

सर्वस्य प्रणवो ह्यादिर्मध्यमन्तस्तथैव च ।
एवं हि प्रणवं ज्ञात्वा व्यश्नुते तदनन्तरम् ॥ २७ ॥

प्रणव ही सबका आदि, मध्य और अन्त है । प्रणवको इस प्रकार जाननेके अनन्तर तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है ॥ २७ ॥

आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिप्रलयाः सर्वस्यैव । मायाहस्तिरज्जुसर्पमृगतृष्णिकास्वप्नादिवद् उत्पद्यमानस्य वियदादिप्रपञ्चस्य यथा मायाव्यादयः । एवं हि प्रणवमात्मानं मायाव्यादिस्थानीयं ज्ञात्वा तत्क्षणादेव तदात्मभावं व्यश्नुत इत्यर्थः ॥ २७ ॥

सबका आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और प्रलय प्रणव ही है । जिस प्रकार कि मायामय हाथी, रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्प, मृगतृष्णा और स्वप्नादिके समान उत्पन्न होनेवाले आकाशादिरूप प्रपञ्चके कारण मायावी आदि हैं उसी प्रकार मायावी आदिस्थानीय उस प्रणवरूप आत्माको जानकर विद्वान् तत्काल ही तद्रूपताको प्राप्त हो जाता है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ २७ ॥

प्रणवं हीश्वरं विद्यात्सर्वस्य हृदि संस्थितम् ।
सर्वव्यापिनमोङ्कारं मत्वा धीरो न शोचति ॥ २८ ॥

प्रणवको ही सबके हृदयमें स्थित ईश्वर जाने । इस प्रकार सर्वव्यापी ओङ्कारको जानकर बुद्धिमान् पुरुष शोक नहीं करता ॥ २८ ॥

सर्वप्राणिजातस्य स्मृतिप्रत्ययास्पदे हृदये स्थितमीश्वरं प्रणवं विद्यात्सर्वव्यापिनं व्योमवदोङ्कारमात्मानमसंसारिणं धीरो बुद्धिमान्मत्वा न शोचति

प्रणवको ही समस्त प्राणिसमुदायके स्मृतिप्रत्ययके आश्रयभूत हृदयमें स्थित ईश्वर समझे । बुद्धिमान् पुरुष आकाशके समान सर्वव्यापी ओङ्कारको असंसारी आत्मा [—शुद्ध आत्मतत्त्व] जानकर, शोकके कारण-

शोकनिमित्तानुपपत्तेः । "तरति शोकमात्मवित्" (छा० उ० ७ । १ । ३) इत्यादिश्रुतिभ्यः ॥२८॥

का अभाव हो जानेसे शोक नहीं करता; जैसा कि "आत्मवेत्ता शोकको पार कर जाता है" इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है ॥२८॥

ओंकारार्थज्ञ ही मुनि है

अमात्रोऽनन्तमात्रश्च द्वैतस्योपशमः शिवः ।
ओङ्कारो विदितो येन स मुनिर्नेतरो जनः ॥२९॥

जिसने मात्राहीन, अनन्त मात्रावाले, द्वैतके उपशमस्थान और मङ्गलमय ओंकारको जाना है वही मुनि है; और कोई पुरुष नहीं ॥२९॥

अमात्रस्तुरीय ओङ्कारः । मीयतेऽनयेति मात्रा परिच्छित्तिः सा अनन्ता यस्य सोऽनन्तमात्रः । नैतावत्त्वमस्य परिच्छेत्तुं शक्यत इत्यर्थः । सर्वद्वैतोपशमत्वादेव शिवः । ओङ्कारो यथाव्याख्यातो विदितो येन स परमार्थतत्त्वस्य मननान्मुनिः । नेतरो जनः शास्त्रविदपीत्यर्थः ॥ २९ ॥

अमात्र तुरीय ओङ्कार है । जिससे मान किया जाय उसे 'मात्रा' अर्थात् 'परिच्छित्ति' कहते हैं; वह मात्रा जिसकी अनन्त हो उसे 'अनन्तमात्र' कहा जाता है । तात्पर्य यह है कि इसकी इयत्ताका परिच्छेद नहीं किया जा सकता । सम्पूर्ण द्वैतका उपशमस्थान होनेके कारण ही वह शिव (मङ्गलमय) है । इस प्रकार व्याख्या किया हुआ ओंकार जिसने जाना है वही परमार्थ तत्त्वका मनन करनेवाला होनेसे 'मुनि' है; दूसरा पुरुष शास्त्रज्ञ होनेपर भी मुनि नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ २९ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य शङ्करभगवतः कृतावागमशास्त्रविवरणे गौडपादीयकारिकासहितमाण्डूक्योपनिषद्भाष्ये प्रथममागमप्रकरणम् ॥ १ ॥

ॐ तत्सत् ।

वैतथ्यप्रकरण

ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम्, "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः । आगममात्रं तत् । तत्रोपपत्त्यापि द्वैतस्य वैतथ्यं शक्यतेऽवधारयितुमिति द्वितीयं प्रकरणमारभ्यते—

प्रकरणस्य प्रयोजनम्

"एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार (आगम-प्रकरणकी १८ वीं कारिकामें) यह कहा गया है कि ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता। वह केवल आगम (शास्त्र-वचन) मात्र था। किन्तु द्वैतका मिथ्यात्व युक्तिसे भी निश्चय किया जा सकता है, इसीलिये इस दूसरे प्रकरणका आरम्भ किया जाता है—

स्वप्नदृष्ट पदार्थोंका मिथ्यात्व

वैतथ्यं सर्वभावानां स्वप्न आहुर्मनीषिणः ।
अन्तःस्थानात्तु भावानां संवृतत्वेन हेतुना ॥ १ ॥

[स्वप्नावस्थामें] सब पदार्थ शरीरके भीतर स्थित होते हैं; अतः स्थानके सङ्कोचके कारण मनीषिगण स्वप्नमें सब पदार्थोंका मिथ्यात्व प्रतिपादन करते हैं ॥ १ ॥

वितथस्य भावो वैतथ्यम्, असत्यत्वमित्यर्थः। कस्य ? सर्वेषां बाह्याध्यात्मिकानां भावानां पदार्थानां स्वप्न उपलभ्यमानानाम्, आहुः कथयन्ति, मनीषिणः प्रमाणकुशलाः। वैतथ्ये हेतुमाह—

वितथ (मिथ्या) के भावका नाम 'वैतथ्य' अर्थात् असत्यत्व है। किसका वैतथ्य ? स्वप्नमें प्रतीत होनेवाले सम्पूर्ण बाह्य और आन्तरिक पदार्थोंका मनीषिगण अर्थात् प्रमाण-कुशल पुरुष वैतथ्य बतलाते हैं। उनके मिथ्यात्वमें हेतु बतलाते हैं—

अन्तःस्थानात्, अन्तः शरीरस्य मध्ये स्थानं येषाम् । तत्र हि भावा उपलभ्यन्ते पर्वतहस्त्यादयो न बहिः शरीरात् । तस्मात्ते वितथा भवितुमर्हन्ति । नन्वपवरकाद्यन्तरुपलभ्यमानैर्घटादिभिरनैकान्तिको हेतुरित्याशङ्क्याह—संवृतत्वेन हेतुनेति, अन्तः संवृतस्थानादित्यर्थः । न ह्यन्तः संवृते देहान्तर्नाडीषु पर्वतहस्त्यादीनां सम्भवोऽस्ति, न हि देहे पर्वतोऽस्ति ॥ १ ॥

अन्तःसंवृत-स्थानात्

अन्तःस्थ होनेके कारण, अन्तर अर्थात् शरीरके मध्यमें स्थान है जिनका [ऐसे होनेके कारण]; क्योंकि वहीं पर्वत एवं हस्ती आदि समस्त पदार्थ उपलब्ध होते हैं, शरीरसे बाहर उनकी उपलब्धि नहीं होती; इसलिये वे मिथ्या होने चाहिये । किन्तु [यदि शरीरके भीतर उपलब्ध होनेके कारण ही स्वप्नदृष्ट पदार्थ मिथ्या हैं तो] गृह आदिके भीतर दिखायी देनेवाले घट आदिमें तो यह हेतु व्यभिचरित हो जायगा [क्योंकि वहाँ जो उनकी प्रतीति है वह तो सत्य ही है]—ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—'स्थानके सङ्कोचके कारणसे ।' तात्पर्य यह कि शरीरके भीतर संकुचित स्थान होनेसे [उनका मिथ्यात्व कहा जाता है] । देहके अन्तर्वर्ती संकुचित नाडीजालमें पर्वत या हाथी आदिका होना सम्भव नहीं है । देहके भीतर पर्वत नहीं हो सकता ॥ १ ॥

स्वप्नदृश्यानां भावानामन्तः संवृतस्थानमित्येतदसिद्धम्, यस्मात् प्राच्येषु सुप्त उदक्षु

स्वप्नमें दिखलायी देनेवाले पदार्थोंका शरीरके भीतर संकुचित स्थान है—यह बात सिद्ध नहीं हो सकती, क्योंकि पूर्व दिशामें सोया हुआ पुरुष उत्तर दिशामें स्वप्न देखता-सा देखा जाता है [अतः वह शरीरसे

स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यत इत्येतदाशङ्कयाह—

[बाहर वहाँ जाकर उन्हें देखता होगा] —ऐसी आशङ्का करके कहते हैं—

अदीर्घत्वाच्च कालस्य गत्वा देशान्न पश्यति ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥ २ ॥

समयकी अदीर्घता होनेके कारण वह देहसे बाहर जाकर उन्हें नहीं देखता तथा जागनेपर भी कोई पुरुष उस देशमें विद्यमान नहीं रहता । [इससे भी उसका स्वप्नदृष्ट देशमें न जाना ही सिद्ध होता है] ॥ २ ॥

दीर्घ-कालाभावात् मिथ्यात्वम् **न देहाद्बहिर्देशान्तरं गत्वा स्वप्नान्पश्यति।** यस्मात्सुप्तमात्र एव देहदेशाद्योजनशतान्तरिते मासमात्रप्राप्ये देशे स्वप्नान्पश्यन्निव दृश्यते । न च तद्देशप्राप्तेरागमनस्य च दीर्घः कालोऽस्ति । अतोऽदीर्घत्वाच्च कालस्य न स्वप्नदृग्देशान्तरं गच्छति ।

वह देहसे बाहर देशान्तरमें जाकर स्वप्न नहीं देखता, क्योंकि वह सोया हुआ ही देहके स्थानसे एक मासमें पहुँचने योग्य सौ योजनकी दूरीपर स्वप्न देखता-सा देखा जाता है । [उस समय] उस देशमें पहुँचने और वहाँसे लौटनेयोग्य दीर्घकाल है ही नहीं । अतः कालकी अदीर्घताके कारण वह स्वप्नद्रष्टा किसी देशान्तरमें नहीं जाता ।

किं च प्रतिबुद्धश्च वै सर्वः स्वप्नदृक्स्वप्नदर्शनदेशे न विद्यते। यदि च स्वप्ने देशान्तरं गच्छेद्यस्मिन्देशे स्वप्नान्पश्येत्तत्रैव प्रतिबुध्येत । न चैतदस्ति । रात्रौ सुप्तोऽहनीव भावान्पश्यति; बहुभिः संगतो भवति, यैश्च संगत-

यही नहीं, जागनेपर भी कोई स्वप्नद्रष्टा स्वप्न देखनेके स्थानमें नहीं रहता । यदि वह स्वप्नके समय किसी देशान्तरमें जाता तो जिस देशमें स्वप्न देखता उसीमें जागता । किन्तु ऐसी बात नहीं होती । वह रात्रिमें सोया हुआ मानो दिनमें पदार्थोंको देखता है और बहुतोंसे मिलता है; अतः जिनसे उसका मेल होता है उनके द्वारा वह गृहीत

स्तैर्गृह्येत । न च गृह्यते; गृहीतश्चेत्त्वामद्य तत्रोपलब्धवन्तो वयमिति ब्रूयुः । न चैतदस्ति, तस्मान्न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ॥ २ ॥

होना चाहिये था । परन्तु गृहीत होता नहीं; यदि गृहीत होता तो 'हमने तुझे वहाँ पाया था' ऐसा कहते । परन्तु ऐसी बात है नहीं; अतः स्वप्नमें वह किसी देशान्तरको नहीं जाता ॥ २ ॥

इतश्च स्वप्नदृश्या भावा वितथा यतः—

स्वप्नमें दिखायी देनेवाले पदार्थ इसलिये भी मिथ्या हैं, क्योंकि—

अभावश्च रथादीनां श्रूयते न्यायपूर्वकम् ।
वैतथ्यं तेन वै प्राप्तं स्वप्न आहुः प्रकाशितम् ॥ ३ ॥

श्रुतिमें भी [स्वप्नदृष्ट] रथादिका अभाव युक्तिपूर्वक सुना गया है । अतः [उपर्युक्त युक्तिसे] सिद्ध हुए मिथ्यात्वको ही स्वप्नमें स्पष्ट बतलाते हैं ॥ ३ ॥

अभावश्चैव रथादीनां स्वप्नदृश्यानां श्रूयते न्यायपूर्वकं युक्तितः श्रुतौ "न तत्र रथाः" (बृ० उ० ४ । ३ । १०) इत्यत्र । देहान्तःस्थानसंवृतत्वादिहेतुना प्राप्तं वैतथ्यं तदनुवादिन्या श्रुत्या स्वप्ने स्वयंज्योतिष्ट्वप्रतिपादनपरया प्रकाशितमाहुर्ब्रह्मविदः ॥ ३ ॥

(स्थाद्यभावश्रुते मिथ्यात्वम्)

"इस अवस्थामें रथ नहीं हैं" इत्यादि श्रुतिमें भी स्वप्नदृष्ट रथादिका अभाव युक्तिपूर्वक सुना गया है । अतः अन्तःस्थान तथा स्थानके संकोच आदि हेतुओंसे सिद्ध हुआ मिथ्यात्व, उसका अनुवाद करनेवाली तथा स्वप्नमें आत्माका स्वयंप्रकाशत्व प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिद्वारा ब्रह्मवेत्ता स्पष्ट बतलाते हैं ॥ ३ ॥

जाग्रद्दृश्य पदार्थोंके मिथ्यात्वमें हेतु

अन्तःस्थानात्तु भेदानां तस्माज्जागरिते स्मृतम् ।
यथा तत्र तथा स्वप्ने संवृतत्वेन भिद्यते ॥ ४ ॥

इसीसे जाग्रत्-अवस्थामें भी पदार्थोंका मिथ्यात्व है, क्योंकि जिस प्रकार वे वहाँ स्वप्नावस्थामें [मिथ्या] होते हैं उसी प्रकार जाग्रत्में भी होते हैं। केवल शरीरके भीतर स्थित होने और स्थानके संकुचित होनेमें ही स्वप्नदृष्ट पदार्थोंका भेद है ॥ ४ ॥

जाग्रद्दृश्यानां भावानां वैतथ्यमिति प्रतिज्ञा। (स्वप्नपदार्थवद्) दृश्यत्वादिति हेतुः। (दृश्यत्वेन) स्वप्नदृश्यभाववदिति दृष्टान्तः। (मिथ्यात्वम्) यथा तत्र स्वप्ने दृश्यानां भावानां वैतथ्यं तथा जागरितेऽपि दृश्यत्वमविशिष्टमिति हेतूपनयः। तस्माज्जागरितेऽपि वैतथ्यं स्मृतमिति निगमनम्। अन्तःस्थानात्संवृतत्वेन च स्वप्नदृश्यानां भावानां जाग्रद्दृश्येभ्यो भेदः। दृश्यत्वमसत्यत्वं चाविशिष्टमुभयत्र ॥ ४ ॥

जाग्रत्-अवस्थामें देखे हुए पदार्थ मिथ्या हैं—यह प्रतिज्ञा है। दृश्य होनेके कारण—यह उसका हेतु है। स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंके समान—यह दृष्टान्त है। जिस प्रकार वहाँ स्वप्नमें देखे हुए पदार्थोंका मिथ्यात्व है उसी प्रकार जाग्रत्में भी उनका दृश्यत्व समानरूपसे है—यह हेतूपनय[1] है। अतः जागृतिमें भी उनका मिथ्यात्व माना गया है—यह निगमन है। अन्तःस्थ होने और स्थानका संकोच होनेमें स्वप्नदृष्ट भावोंका जाग्रद्दृष्ट भावोंसे भेद है। दृश्यत्व और असत्यत्व तो दोनों ही अवस्थाओंमें समान हैं ॥ ४ ॥

स्वप्नजागरितस्थाने ह्येकमाहुर्मनीषिणः।
भेदानां हि समत्वेन प्रसिद्धेनैव हेतुना ॥ ५ ॥

इस प्रकार प्रसिद्ध हेतुसे ही पदार्थोंमें समानता होनेके कारण विवेकी पुरुषोंने स्वप्न और जागरित अवस्थाओंको एक ही बतलाया है ॥ ५ ॥

१. व्याप्तिविशिष्ट हेतु पक्षमें है—ऐसा प्रतिपादन करना 'हेतूपनय' कहलाता है।

प्रसिद्धेनैव भेदानां ग्राह्यग्राहकत्वेन हेतुना समत्वेन स्वप्नजागरितस्थानयोरेकत्वमाहुर्विवेकिन इति पूर्वप्रमाणसिद्धस्यैव फलम् ॥ ५ ॥

ग्राह्यग्राहकत्वात्

पदार्थोंके ग्राह्यग्राहकत्वरूप प्रसिद्ध हेतुसे समानता होनेके कारण ही विवेकी पुरुषोंने स्वप्न और जागरित अवस्थाओंका एकत्व प्रतिपादन किया है—इस प्रकार यह पूर्व प्रमाणसे सिद्ध हुए हेतुका ही फल है ॥ ५ ॥

इतश्च वैतथ्यं जाग्रद्दृश्यानां भेदानामाद्यन्तयोरभावात् ।

जाग्रत्-अवस्थामें दिखलायी देनेवाले पदार्थोंका मिथ्यात्व इसलिये भी है, क्योंकि आदि और अन्तमें उनका अभाव है ।

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥ ६ ॥

जो आदि और अन्तमें नहीं है [अर्थात् आदि और अन्तमें असद्रूप है] वह वर्तमानमें भी वैसा ही है । ये पदार्थसमूह असत्‌के समान होकर भी सत्-जैसे दिखायी देते हैं ॥ ६ ॥

यदादावन्ते च नास्ति वस्तु मृगतृष्णिकादि तन्मध्येऽपि नास्तीति निश्चितं लोके तथेमे जाग्रद्दृश्या भेदाः। आद्यन्तयोरभावाद्वितथैरेव मृगतृष्णिकादिभिः सदृशत्वाद्वितथा एव तथाप्यवितथा इव लक्षिता मूढैरनात्मविद्भिः ॥ ६ ॥

आदावन्ते चाभावात्

जो मृगतृष्णादि वस्तु आदि और अन्तमें नहीं है वह मध्यमें भी नहीं होती—यह बात लोकमें निश्चित ही है । इसी प्रकार ये जाग्रत्-अवस्थामें दिखलायी देनेवाले भिन्न-भिन्न पदार्थ भी आदि और अन्तमें न होनेसे मृगतृष्णा आदि असद्वस्तुओंके समान होनेके कारण असत् ही हैं; तथापि मूढ अनात्मज्ञ पुरुषोंद्वारा वे सद्रूप समझे जाते हैं ॥ ६ ॥

स्वप्नदृश्यवज्जागरितदृश्यानामप्यसत्त्वमिति यदुक्तं तदयुक्तम् । यस्माज्जाग्रद्दृश्या अन्नपानवाहनादयः क्षुत्पिपासादिनिवृत्तिं कुर्वन्तो गमनागमनादिकार्यं च सप्रयोजना दृष्टाः । न तु स्वप्नदृश्यानां तदस्ति । तस्मात्स्वप्नदृश्यवज्जाग्रद्दृश्यानामसत्त्वं मनोरथमात्रमिति ।

तन्न । कस्मात् ? यस्मात्—

शङ्का—स्वप्नदृश्योंके समान जागरित अवस्थाके दृश्योंका भी जो असत्यत्व बतलाया गया है वह ठीक नहीं क्योंकि जाग्रद्दृश्य अन्न, पान और वाहन आदि पदार्थ भूख-प्यासकी निवृत्ति तथा गमनागमन आदि कार्योंके करनेके कारण प्रयोजनवाले देखे गये हैं । किन्तु स्वप्नदृश्योंके विषयमें ऐसी बात नहीं है । अतः स्वप्नदृश्योंके समान जाग्रद्दृश्योंकी असत्यता केवल मनोरथमात्र है ।

समाधान—ऐसी बात नहीं है । क्यों नहीं है ? क्योंकि—

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ ७ ॥

स्वप्नमें उन (जाग्रत्-पदार्थों) की सप्रयोजनतामें विपरीतता आ जाती है । अतः आदि-अन्तयुक्त होनेके कारण वे निश्चय मिथ्या ही माने गये हैं ॥ ७ ॥

सप्रयोजनता दृष्टा यान्नपानादीनां स्वप्ने विप्रतिपद्यते । जागरिते हि भुक्त्वा पीत्वा च तृप्तो विनिवर्तिततृट्सुप्तमात्र एव क्षुत्पिपासाद्यार्तमहोरात्रोषितमभुक्तवन्तमात्मानं मन्यते । यथा

[जागरित अवस्थामें] जो अन्न-पानादिकी सप्रयोजनता देखी गयी है वह स्वप्नमें नहीं रहती । जागरित अवस्थामें खा-पीकर तृप्त हुआ पुरुष तृषारहित होकर सोनेपर भी [स्वप्नमें] अपनेको क्षुधा-पिपासा आदिसे आर्त्त, दिन रात उपवास किया हुआ और बिना भोजन किया हुआ मानता है;

स्वप्ने भुक्त्वा पीत्वा चातृप्तोत्थितस्तथा । तस्माज्जाग्रद्दृश्यानां स्वप्ने विप्रतिपत्तिर्दृष्टा । अतो मन्यामहे तेषामप्यसत्त्वं स्वप्नदृश्यवदनाशङ्कनीयमिति । तस्मादाद्यन्तवत्त्वमुभयत्र समानमिति मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥७॥

जिस प्रकार कि स्वप्नमें, खा-पीकर जागा हुआ पुरुष अपनेको अतृप्त अनुभव करता है । अतः स्वप्नावस्थामें जाग्रद्-दृश्योंकी विपरीतता देखी जाती है । इसलिये स्वप्नदृश्योंके समान उनकी असत्यताको भी हम शङ्का न करनेयोग्य मानते हैं । इस प्रकार दोनों ही अवस्थाओंमें आदि-अन्तवत्त्व समान है; अतः वे निश्चय मिथ्या ही माने गये हैं ॥ ७ ॥

स्वप्नजाग्रद्भेदयोः समत्वाज्जाग्रद्भेदानामसत्त्वमिति यदुक्तं तदसत्, कस्मात् ? दृष्टान्तस्यासिद्धत्वात् । कथम् ? न हि जाग्रद्दृष्टा एवैते भेदाः स्वप्ने दृश्यन्ते । किं तर्हि ?

अपूर्वं स्वप्ने पश्यति; चतुर्दन्तगजमारूढमष्टभुजमात्मानं मन्यते। अन्यदप्येवंप्रकारमपूर्वं पश्यति स्वप्ने । तन्नान्येनासता सममिति

स्वप्न और जाग्रत्-पदार्थोंके समान होनेसे जाग्रत्-पदार्थोंकी जो असत्यता बतलायी गयी है वह ठीक नहीं है । क्यों ? क्योंकि यह दृष्टान्त सिद्ध नहीं हो सकता । कैसे सिद्ध नहीं हो सकता ? क्योंकि जो पदार्थ जाग्रत्-अवस्थामें देखे जाते हैं वे ही स्वप्नमें नहीं देखे जाते । तो उस समय और क्या देखा जाता है ?

स्वप्नमें तो यह अपूर्व वस्तुएँ देखता है । अपनेको चार दाँतोंवाले हाथीपर चढ़ा हुआ तथा आठ भुजाओंवाला मानता है । इसी प्रकार स्वप्नमें और भी अपूर्व वस्तुएँ देखा करता है । वे किसी अन्य असत् वस्तुके समान नहीं होतीं; इसलिये वे सत् ही हैं । अतः यह दृष्टान्त सिद्ध

सदेव । अतो दृष्टान्तोऽसिद्धः । तस्मात्स्वप्नवज्जागरितस्यासत्त्वमित्ययुक्तम् ।

तन्न; स्वप्ने दृष्टमपूर्वं यन्मन्यसे न तत्स्वतः सिद्धम् । किं तर्हि ?

नहीं हो सकता । अतः स्वप्नके समान जागरितकी भी असत्यता है—यह कथन ठीक नहीं ।

ऐसी बात नहीं है । स्वप्नमें देखी हुई जिन वस्तुओंको अपूर्व समझता है वे स्वतः सिद्ध नहीं हैं । तो कैसी हैं ?

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि यथा स्वर्गनिवासिनाम् ।
तानयं प्रेक्षते गत्वा यथैवेह सुशिक्षितः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार [इन्द्रादि] स्वर्गनिवासियोंकी [सहस्रनेत्रत्वादि] अलौकिक अवस्थाएँ सुनी जाती हैं उसी प्रकार यह (स्वप्न) भी स्थानी (स्वप्नद्रष्टा आत्मा) का अपूर्व धर्म है । उन स्वाप्न पदार्थोंको यह इसी प्रकार जाकर देखता है जैसे कि इस लोकमें [किसी मार्गविशेषके सम्बन्धमें] सुशिक्षित पुरुष [उस मार्गसे जाकर अपने अभीष्ट लक्ष्यपर पहुँचकर उसे देखता है] ॥ ८ ॥

अपूर्वं स्थानिधर्मो हि स्थानिनो द्रष्टुरेव हि स्वप्नस्थानवतो धर्मः । यथा स्वर्गनिवासिनामिन्द्रादीनां सहस्राक्षत्वादि तथा स्वप्नदृशोऽपूर्वोऽयं धर्मः । न स्वतः सिद्धो द्रष्टुः स्वरूपवत् । तानेवंप्रकारापूर्वान्स्वचित्तविकल्पानयं स्थानी स्वप्नदृक्स्वप्नस्थानं गत्वा प्रेक्षते । यथैवेह लोके सुशिक्षितो देशान्तरमार्गस्तेन

वे स्थानीका अपूर्व धर्म ही हैं; स्थानी अर्थात् स्वप्नस्थानवाले द्रष्टाका ही धर्म हैं । जैसे कि स्वर्गनिवासी इन्द्रादिके सहस्राक्षत्वादि धर्म हैं उसी प्रकार स्वप्नद्रष्टाका यह अपूर्व धर्म है । द्रष्टाके स्वरूपके समान यह स्वतः-सिद्ध नहीं है । इस प्रकारके अपने चित्तद्वारा कल्पना किये हुए उन धर्मोंको यह जो स्वप्न देखनेवाला स्थानी है स्वप्नस्थानमें जाकर देखा करता है; जिस प्रकार इस लोकमें देशान्तरके मार्गके विषयमें सुशिक्षित

मार्गेण देशान्तरं गत्वा तान्पदार्थान्पश्यति तद्वत् । तस्माद्यथा स्थानिधर्माणां रज्जुसर्पमृगतृष्णिकादीनामसत्त्वं तथा स्वप्नदृश्यानामपूर्वाणां स्थानिधर्मत्वमेवेत्यसत्त्वमतो न स्वप्नदृष्टान्तस्यासिद्धत्वम् ॥ ८ ॥

पुरुष उस मार्गसे देशान्तरमें जाकर वहाँके पदार्थोंको देखता है उसी प्रकार [यह भी देखता है] । अतः जिस प्रकार स्थानीके धर्म रज्जु-सर्प और मृगतृष्णा आदिकी असत्यता है उसी प्रकार स्वप्नमें देखे जानेवाले अपूर्व पदार्थोंका भी स्थानिधर्मत्व ही है, अतः वे भी असत् हैं । इसलिये स्वप्नदृष्टान्तकी असिद्धता नहीं है॥ ८॥

स्वप्नमें मनःकल्पित और इन्द्रियग्राह्य दोनों ही प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं

अपूर्वत्वाशङ्का निराकृता स्वप्नदृष्टान्तस्य पुनः स्वप्नतुल्यतां जाग्रद्भेदानां प्रपञ्चयन्नाह—

स्वप्नदृष्टान्तके अपूर्वत्वकी आशङ्काका निराकरण कर दिया । अब पुनः जाग्रत्पदार्थोंकी स्वप्नतुल्यताका विस्तृतरूपसे प्रतिपादन करते हुए कहते हैं—

स्वप्नवृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत् ।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्दृष्टं वैतथ्यमेतयोः ॥ ९ ॥

स्वप्नावस्थामें भी चित्तके भीतर कल्पना किया हुआ पदार्थ असत् और चित्तसे बाहर [इन्द्रियोंद्वारा] ग्रहण किया हुआ पदार्थ सत् जान पड़ता है; किन्तु इन दोनोंका ही मिथ्यात्व देखा गया है ॥ ९ ॥

स्वप्नवृत्तावपि स्वप्नस्थानेऽपि अन्तश्चेतसा मनोरथसङ्कल्पितमसत्। सङ्कल्पानन्तरसमकालमेवा-

स्वप्नकी वृत्ति अर्थात् स्वप्नस्थानमें भी चित्तके भीतर मनोरथसे सङ्कल्प की हुई वस्तु असत् होती है; क्योंकि वह सङ्कल्पके पश्चात् तत्क्षण ही दिखायी नहीं देती । तथा उस

दर्शनात्तत्रैव स्वप्ने बहिश्चेतसा गृहीतं चक्षुरादिद्वारेणोपलब्धं घटादि सत्। इत्येवमसत्यमिति निश्चितेऽपि सदसद्विभागो दृष्टः। उभयोरप्यन्तर्बहिश्चेतःकल्पितयोर्वैतथ्यमेव दृष्टम् ॥ ९ ॥

स्वप्नावस्थामें ही चित्तसे बाहर चक्षु आदिद्वारा ग्रहण किये हुए घट आदि सत् होते हैं। इस प्रकार स्वप्न असत्य है—ऐसा निश्चय हो जानेपर भी उसमें सत्-असत्का विभाग देखा जाता है। किन्तु चित्तसे कल्पना किये हुए इन आन्तरिक और बाह्य दोनों ही प्रकारके पदार्थोंका मिथ्यात्व देखा गया है ॥ ९ ॥

जाग्रत्में भी दोनों प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं

जाग्रद्वृत्तावपि त्वन्तश्चेतसा कल्पितं त्वसत्।
बहिश्चेतोगृहीतं सद्युक्तं वैतथ्यमेतयोः ॥ १० ॥

इसी प्रकार जाग्रदवस्थामें भी चित्तके भीतर कल्पना किया हुआ पदार्थ असत् तथा चित्तसे बाहर ग्रहण किया हुआ पदार्थ सत् समझा जाता है। परन्तु इन दोनोंका ही मिथ्यात्व मानना उचित है ॥ १० ॥

सदसतोर्वैतथ्यं युक्तम्, अन्तर्बहिश्चेतःकल्पितत्वाविशेषादिति व्याख्यातमन्यत् ॥ १० ॥

इन सत् और असत् पदार्थोंका मिथ्यात्व ठीक ही है क्योंकि हृदयके भीतर या बाहर कल्पित होनेसे उनमें कोई विशेषता नहीं होती। शेष सबकी व्याख्या हो चुकी है ॥ १० ॥

इन मिथ्या पदार्थोंकी कल्पना करनेवाला कौन है ?

चोदक आह—

[इसपर] पूर्वपक्षी कहता है—

उभयोरपि वैतथ्यं भेदानां स्थानयोर्यदि।
क एतान्बुध्यते भेदान्को वै तेषां विकल्पकः ॥ ११ ॥

यदि [जागरित और स्वप्न] दोनों ही स्थानोंके पदार्थोंका मिथ्यात्व है तो इन पदार्थोंको जानता कौन है और कौन इनकी कल्पना करनेवाला है ? ॥ ११ ॥

स्वप्नजाग्रत्स्थानयोर्भेदानां यदि वैतथ्यं क एतानन्तर्बहिश्चेतः कल्पितान्बुध्यते । को वै तेषां विकल्पकः । स्मृतिज्ञानयोः क आलम्बनमित्यभिप्रायः; न चेन्निरात्मवाद इष्टः ॥ ११ ॥

यदि स्वप्न और जागरित [दोनों ही स्थानों] के पदार्थोंका मिथ्यात्व है तो चित्तके भीतर या बाहर कल्पना किये हुए इन पदार्थोंको जानता कौन है ? और कौन उनकी कल्पना करनेवाला है ? तात्पर्य यह है कि यदि निरात्मवाद अभीष्ट नहीं है तो [यह बताना चाहिये कि] उक्त स्मरण (स्वप्न) और ज्ञान (जागरित) का आलम्बन कौन है ? ॥ ११ ॥

इनकी कल्पना करनेवाला और इनका साक्षी आत्मा ही है

कल्पयत्यात्मनात्मानमात्मा देवः स्वमायया ।
स एव बुध्यते भेदानिति वेदान्तनिश्चयः ॥ १२ ॥

स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी मायासे स्वयं ही कल्पना करता है और वही सब भेदोंको जानता है—यही वेदान्तका निश्चय है ॥ १२ ॥

स्वयं स्वमायया स्वमात्मानमात्मा देव आत्मन्येव वक्ष्यमाणं भेदाकारं कल्पयति रज्ज्वादाविव सर्पादीन् स्वयमेव च तान्बुध्यते भेदांस्तद्वदेवेत्येवं वेदान्तनिश्चयः।

स्वयंप्रकाश आत्मा अपनी मायासे रज्जुमें सर्पादिके समान अपनेमें आपहीको आगे बतलाये जानेवाले भेदरूपसे कल्पना करता है और स्वयं ही उन भेदोंको जानता है—इस प्रकार यही वेदान्तका निश्चय है । उसके सिवा स्मृति और ज्ञान

नान्योऽस्ति ज्ञानस्मृत्याश्रयः । न च निरास्पदे एव ज्ञानस्मृती वैनाशिकानामिवेत्यभिप्रायः॥१२॥

का कोई और आश्रय नहीं है । तात्पर्य यह कि वैनाशिकों (बौद्धों) के कथनके समान ये ज्ञान और स्मृति निराधार नहीं हैं ॥ १२ ॥

पदार्थकल्पनाकी विधि

सङ्कल्पयन्केन प्रकारेण कल्पयतीत्युच्यते—

वह संकल्प करते हुए किस प्रकार कल्पना करता है ? सो बतलाया जाता है—

विकरोत्यपरान्भावानन्तश्चित्ते व्यवस्थितान् ।
नियतांश्च बहिश्चित्त एवं कल्पयते प्रभुः ॥१३॥

प्रभु आत्मा अपने अन्तःकरणमें [वासनारूपसे] स्थित अन्य (लौकिक) भावोंको नानारूप करता है तथा बहिश्चित्त होकर पृथिवी आदि नियत और अनियत पदार्थोंकी भी इसी प्रकार कल्पना करता है ॥ १३ ॥

विकरोति नाना करोत्यपरान् लौकिकान् भावान् पदार्थान् शब्दादीनन्यांश्चान्तश्चित्ते वासनारूपेण व्यवस्थितानव्याकृतान् नियतांश्च पृथ्व्यादीननियतांश्च कल्पनाकालान्बहिश्चित्तः संस्तथान्तश्चित्तो मनोरथादिलक्षणानित्येवं कल्पयति प्रभुरीश्वर आत्मेत्यर्थः ॥ १३ ॥

वह चित्तके भीतर वासनारूपसे स्थित अव्याकृत लौकिक भावों—शब्दादि पदार्थोंको तथा अन्य पृथ्वी आदि नियत और कल्पनाकालमें ही उत्पन्न होनेवाले अनियत पदार्थोंको बहिश्चित्त होकर एवं मनोरथादिरूप पदार्थोंको अन्तश्चित्त होकर विकृत करता अर्थात् नाना करता है—इस प्रकार प्रभु—ईश्वर अर्थात् आत्मा कल्पना करता है ॥ १३ ॥

आन्तरिक और बाह्य दोनों प्रकारके पदार्थ मिथ्या हैं

स्वप्नवच्चित्तपरिकल्पितं सर्वमित्येतदाशङ्क्यते । यस्माच्चित्त-

स्वप्नके समान सब कुछ चित्तका ही कल्पना किया हुआ है—इस

परिकल्पितैर्मनोरथादिलक्षणैश्चित्त-परिच्छेद्यैर्वैलक्षण्यं बाह्यानामन्योन्यपरिच्छेद्यत्वमिति । सा न युक्ताशङ्का ।

विषयमें यह शङ्का होती है—क्योंकि केवल चित्तपरिकल्पित और चित्तसे ही परिच्छेद्य मनोरथादिसे बाह्य पदार्थोंकी अन्योन्यपरिच्छेद्यत्वरूप विलक्षणता है [अतः स्वप्नके समान ये मिथ्या नहीं हो सकते] ।

समाधान—यह शङ्का ठीक नहीं है, [क्योंकि—]

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु द्वयकालाश्च ये बहिः ।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषो नान्यहेतुकः ॥ १४॥

जो आन्तरिक पदार्थ केवल कल्पनाकालतक ही रहनेवाले हैं और जो बाह्य पदार्थ द्विकालिक [अर्थात् अन्योन्यपरिच्छेद्य] हैं वे सभी कल्पित हैं । उनकी विशेषताका [अर्थात् आन्तरिक पदार्थ असत्य हैं और बाह्य सत्य हैं—इस प्रकारकी भेदकल्पनाका] कोई दूसरा कारण नहीं है ॥ १४ ॥

चित्तकाला हि येऽन्तस्तु चित्तपरिच्छेद्याः; नान्यश्चित्तकालव्यतिरेकेण परिच्छेदकः कालो येषां ते चित्तकालाः । कल्पनाकाल एवोपलभ्यन्त इत्यर्थः । द्वयकालाश्च भेदकाला अन्योन्यपरिच्छेद्याः । यथा-गोदोहनमास्ते; यावदास्ते तावद्गां दोग्धि यावद्गां दोग्धि तावदास्ते । तावानयमेतावानस इति परस्पर-

जो आन्तरिक हैं अर्थात् चित्त-परिच्छेद्य हैं वे चित्तकाल हैं; जिनका चित्तकालके सिवा और कोई काल परिच्छेदक न हो उन्हें चित्तकाल कहते हैं । अर्थात् वे केवल कल्पनाके समय ही उपलब्ध होते हैं । तथा बाह्य पदार्थ दो कालवाले—भेदकालिक यानी अन्योन्यपरिच्छेद्य हैं । जैसे गोदोहनपर्यन्त बैठता है; यानी जबतक बैठता है तबतक गौ दुहता है और जबतक गौ दुहता है तबतक बैठता है । उतने समयतक यह रहता है और इतने समयतक वह रहता है—

परिच्छेद्यपरिच्छेदकत्वं बाह्यानां भेदानां ते द्वयकालाः अन्तश्चित्तकाला बाह्याश्च द्वयकालाः कल्पिता एव ते सर्वे । न बाह्यो द्वयकालत्वविशेषः कल्पितत्वव्यतिरेकेणान्यहेतुकः । अत्रापि हि स्वप्नदृष्टान्तो भवत्येव ॥१४॥

इस प्रकार बाह्य पदार्थोंका परस्पर परिच्छेद्य-परिच्छेदकत्व है; अतः वे दो कालवाले हैं । किन्तु आन्तरिक चित्तकालिक और बाह्य द्विकालिक—ये सब कल्पित ही हैं । बाह्य पदार्थोंकी जो द्विकालिकत्वरूप विशेषता है वह कल्पितत्वके सिवा किसी अन्य कारणसे नहीं है । इस विषयमें भी स्वप्नका दृष्टान्त* है ही ॥ १४ ॥

आन्तरिक और बाह्य पदार्थोंका भेद केवल इन्द्रियजनित है

अव्यक्ता एव येऽन्तस्तु स्फुटा एव च ये बहिः ।
कल्पिता एव ते सर्वे विशेषस्त्विन्द्रियान्तरे ॥ १५ ॥

जो आन्तरिक पदार्थ हैं वे अव्यक्त ही हैं और जो बाह्य हैं वे स्पष्ट प्रतीत होनेवाले हैं । किन्तु वे सब हैं कल्पित ही । उनकी विशेषता तो केवल इन्द्रियोंके ही भेदमें है ॥ १५ ॥

यदप्यन्तरव्यक्तत्वं भावानां मनोवासनामात्राभिव्यक्तानां स्फुटत्वं वा बहिश्चक्षुरादीन्द्रियान्तरे विशेषो नासौ भेदानामस्तित्वकृतः स्वप्नेऽपि तथा दर्शनात् । किं तर्हि ? इन्द्रियान्तरकृत एव । अतः कल्पिता एव

चित्तकी वासनामात्रसे अभिव्यक्त हुए पदार्थोंका जो अन्तःकरणमें अव्यक्तत्व (अस्फुटत्व) और बाह्य चक्षु आदि अन्य इन्द्रियोंमें जो उनका स्फुटत्व है वह विशेषता पदार्थोंकी सत्ताके कारण नहीं है, क्योंकि ऐसा ही स्वप्नमें भी देखा जाता है । तो फिर इसका क्या कारण है ? यह इन्द्रियोंके भेदके ही

* अर्थात् जाग्रत्के समान स्वप्नके भी चित्तपरिकल्पित पदार्थ कल्पनाकालिक और बाह्य पदार्थ द्विकालिक ही होते हैं; परन्तु वे होते दोनों ही मिथ्या हैं । इसी प्रकार जाग्रत्में भी समझो ।

जाग्रद्भावा अपि स्वप्नभाववदिति सिद्धम् ॥ १५ ॥

कारण है । अतः सिद्ध हुआ कि स्वप्नके पदार्थोंके समान जाग्रत्कालीन पदार्थ भी कल्पित ही हैं ॥ १५ ॥

पदार्थकल्पनाकी मूल जीव कल्पना है

बाह्याध्यात्मिकानां भावानामितरेतरनिमित्तनैमित्तिकतया कल्पनायां किं मूलमित्युच्यते—

बाह्य और आन्तरिक पदार्थोंकी परस्पर निमित्त और नैमित्तिकरूपसे कल्पना होनेमें क्या कारण है ? सो बतलाया जाता है—

जीवं कल्पयते पूर्वं ततो भावान्पृथग्विधान् ।
बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव यथाविद्यस्तथास्मृतिः ॥ १६ ॥

[वह प्रभु] सबसे पहले जीवकी कल्पना करता है; फिर तरह-तरहके बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थोंकी कल्पना करता है । उस जीवका जैसा विज्ञान होता है वैसी ही स्मृति भी होती है ॥ १६ ॥

जीवं हेतुफलात्मकम्; अहं करोमि मम सुखदुःखे इत्येवंलक्षणम्; अनेवंलक्षण एव शुद्ध आत्मनि रज्ज्वामिव सर्पं कल्पयते पूर्वम् । ततस्तादर्थ्येन क्रियाकारकफलभेदेन प्राणादीन्नानाविधान्भावान्बाह्यानाध्यात्मिकांश्चैव कल्पयते ।

सबसे पहले 'मैं करता हूँ, मुझे सुख-दुःख हैं' इस प्रकारके हेतु-फलात्मक जीवकी [वह प्रभु] इससे विपरीत लक्षणोंवाले शुद्ध आत्मामें रज्जुमें सर्पके समान कल्पना करता है । फिर उसीके लिये क्रिया, कारक और फलके भेदसे प्राण आदि नाना प्रकारके बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थोंकी कल्पना करता है ।

तत्र कल्पनायां को हेतुरित्युच्यते । योऽसौ स्वयंकल्पितो जीवः सर्वकल्पनायामधिकृतः स

उस कल्पनामें क्या हेतु है—इसपर कहा जाता है—यह जो स्वयं कल्पना किया हुआ जीव सब प्रकारकी कल्पनाका अधिकारी है, वह जैसी

यथाविद्यः, यादृशी विद्या विज्ञानमस्येति यथाविद्यः; तथाविधैव स्मृतिस्तस्येति तथास्मृतिर्भवति स इति । अतो हेतुकल्पनाविज्ञानात्फलविज्ञानं ततो हेतुफलस्मृतिस्ततस्तद्विज्ञानं तदर्थक्रियाकारकतत्फलभेदविज्ञानानि । तेभ्यस्तत्स्मृतिस्तत्स्मृतेश्च पुनस्तद्विज्ञानानीत्येवं बाह्यानाध्यात्मिकांश्चेतरेतरनिमित्तनैमित्तिकभावेनानेकधा कल्पयते ॥ १६ ॥

विद्यावाला होता है अर्थात् उसकी जैसी विद्या यानी विज्ञान होता है वैसी ही स्मृति भी होती है । अतः वह वैसी ही स्मृतिवाला होता है । इस प्रकार [अन्नभक्षणादि] हेतुकी कल्पनाके विज्ञानसे ही [तृप्ति आदि] फलका विज्ञान होता है; उससे [दूसरे दिन भी] उन हेतु और फलकी स्मृति होती है और उस स्मृतिसे उनका ज्ञान तथा उनके लिये होनेवाले [पाकादि] कर्म, [तण्डुलादि] कारक और उनके [तृप्ति आदि] फलभेदके ज्ञान होते हैं। उनसे उनकी स्मृति होती है तथा उस स्मृतिसे फिर उन [हेतु आदि] के विज्ञान होते हैं । इस प्रकार यह जीव बाह्य और आध्यात्मिक पदार्थोंकी पारस्परिक निमित्त-नैमित्तिकभावसे अनेक प्रकार कल्पना करता है ॥ १६ ॥

जीवकल्पनाका हेतु अज्ञान है

तत्र जीवकल्पना सर्वकल्पनामूलमित्युक्तं सैव जीवकल्पना किंनिमित्तेति दृष्टान्तेन प्रतिपादयति—

यहाँतक जीवकल्पना ही सब कल्पनाओंका मूल है—यह कहा गया; किन्तु वह जीव-कल्पना है किस निमित्तसे ?—इस बातका दृष्टान्तसे प्रतिपादन करते हैं—

अनिश्चिता यथा रज्जुरन्धकारे विकल्पिता ।
सर्पधारादिभिर्भावैस्तद्वदात्मा विकल्पितः ॥ १७ ॥

जिस प्रकार [अपने स्वरूपसे] निश्चय न की हुई रज्जु अन्धकारमें सर्प-धारा आदि भावोंसे कल्पना की जाती है, उसी प्रकार आत्मामें भी तरह-तरहकी कल्पनाएँ हो रही हैं ॥ १७ ॥

यथा लोके स्वेन रूपेणानिश्चितानवधारितैवमेवेति रज्जुर्मन्दान्धकारे किं सर्प उदकधारा दण्ड इति वानेकधा विकल्पिता भवति पूर्वं स्वरूपानिश्चयनिमित्तम् यदि हि पूर्वमेव रज्जुः स्वरूपेण निश्चिता स्यात्; न सर्पादिविकल्पोऽभविष्यद् यथा स्वहस्ताङ्गुल्यादिषु, एष दृष्टान्तः । तद्वद्धेतुफलादिसंसारधर्मानर्थविलक्षणतया स्वेन विशुद्धविज्ञप्तिमात्रसत्ताद्वयरूपेणानिश्चितत्वाज्जीवप्राणाद्यनन्तभावभेदैरात्माविकल्पित इत्येष सर्वोपनिषदां सिद्धान्तः ॥ १७ ॥

जिस प्रकार अपने स्वरूपसे अनिश्चित अर्थात् यह ऐसी ही है—इस प्रकार निर्धारण न की हुई रज्जु मन्द अन्धकारमें 'यह सर्प है ?' 'जलकी धारा है ?' अथवा 'दण्ड है ?' इस प्रकार—पहलेसे स्वरूपका निश्चय न होनेके कारण—अनेक प्रकारसे कल्पना की जाती है; यदि रज्जु पहले ही अपने स्वरूपसे निश्चित हो तो उसमें सर्पादिका विकल्प नहीं हो सकता, जैसे कि अपने हाथकी अँगुली आदिमें [ऐसा कोई विकल्प नहीं होता] । यह एक दृष्टान्त है । इसी तरह हेतु-फलादि सांसारिक धर्मरूप अनर्थसे विलक्षण अपने विशुद्ध विज्ञप्तिमात्र अद्वितीय सत्तास्वरूपसे निश्चित न होनेके कारण ही आत्मा जीव एवं प्राण आदि अनन्त विभिन्न भावोंसे विकल्पित हो रहा है—यही सम्पूर्ण उपनिषदोंका सिद्धान्त है॥ १७॥

अज्ञाननिवृत्ति ही आत्मज्ञान है

निश्चितायां यथा रज्ज्वां विकल्पो विनिवर्तते ।
रज्जुरेवेति चाद्वैतं तद्वदात्मविनिश्चयः॥ १८॥

जिस प्रकार रज्जुका निश्चय हो जानेपर उसमें [सर्पादिका] विकल्प निवृत्त हो जाता है तथा 'यह रज्जु ही है' ऐसा अद्वैत निश्चय होता है उसी प्रकार आत्माका निश्चय है ॥ १८ ॥

रज्जुरेवेति निश्चये सर्वविकल्पनिवृत्तौ रज्जुरेवेति चाद्वैतं यथा तथा "नेति नेति" (बृ० उ० ४ । ४ । २२) इति सर्वसंसारधर्मशून्यप्रतिपादकशास्त्रजनितविज्ञानसूर्यालोककृतात्मविनिश्चयः "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) "अपूर्वमनपरमनन्तरमबाह्यम्" (बृ० उ० २ । ५ । १९) "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २ । १ । २) "अजरोऽमरोऽमृतोऽभयः" (बृ० उ० ४ । ४ । २५) "एक एवाद्वयः" इति ॥ १८ ॥

'यह रज्जु ही है' ऐसा निश्चय होनेसे सर्पादि विकल्पकी निवृत्ति हो जानेपर जिस प्रकार 'यह रज्जु ही है' ऐसा अद्वैत-भाव हो जाता है उसी प्रकार "नेति-नेति" इस सर्वसंसारधर्मशून्य आत्माका प्रतिपादन करनेवाले शास्त्रसे उत्पन्न हुए विज्ञानरूप सूर्यके प्रकाशसे आत्माका ऐसा निश्चय होता है कि "यह सब आत्मा ही है" "वह कारण-कार्यसे रहित और अन्तर्बाह्यशून्य है" "बाहर-भीतरसे (कार्य-कारण दोनों दृष्टियोंसे) अजन्मा है" "वह जराशून्य अमर, अमृत और अभय है" तथा "वह एक अद्वितीय ही है" ॥ १८ ॥

यद्यात्मैक एवेति निश्चयः कथं प्राणादिभिरनन्तैर्भावैरेतैः संसारलक्षणैर्विकल्पित इति, उच्यते, शृणु—

यदि यह बात निश्चित है कि आत्मा एक ही है तो वह इन संसाररूप प्राणादि अनन्त भावोंसे कैसे विकल्पित हो रहा है ? सो इस विषयमें कहा जाता है, सुनो—

विकल्पकी मूल माया है

प्राणादिभिरनन्तैश्च भावैरेतैर्विकल्पितः ।
मायैषा तस्य देवस्य यया संमोहितः स्वयम् ॥ १९ ॥

यह जो इन प्राणादि अनन्त भावोंसे विकल्पित हो रहा है सो यह उस प्रकाशमय आत्मदेवकी माया ही है, जिससे कि वह स्वयं ही मोहित हो रहा है ॥ १९ ॥

मायैषा तस्यात्मनो देवस्य । यथा मायाविना विहिता माया गगनमतिविमलं कुसुमितैः सपलाशैस्तरुभिराकीर्णमिव करोति तथेयमपि देवस्य माया यथायं स्वयमपि मोहित इव मोहितो भवति । "मम माया दुरत्यया" (गीता ७।१४) इत्युक्तम् ॥१९॥

यह उस आत्मदेवकी माया है। जिस प्रकार मायावीद्वारा प्रयोग की हुई माया अति निर्मल आकाशको पल्लवयुक्त पुष्पित पादपोंसे परिपूर्ण कर देती है उसी प्रकार यह भी उस देवकी माया है जिससे कि यह स्वयं भी मोहित हुएके समान मोहग्रस्त हो रहा है। "मेरी मायाका पार पाना कठिन है" ऐसा [भगवान्‌ने] कहा भी है ॥ १९ ॥

मूलतत्त्वसम्बन्धी विभिन्न मतवाद

प्राण इति प्राणविदो भूतानीति च तद्विदः ।
गुणा इति गुणविदस्तत्त्वानीति च तद्विदः ॥ २० ॥

प्राणोपासक कहते हैं—'प्राण ही जगत्‌का कारण है।' भूतज्ञों (प्रत्यक्षवादी चार्वाकादि) का कथन है—'[पृथिवी आदि] चार भूत ही परमार्थ हैं।' गुणोंको जाननेवाले [सांख्यवादी] कहते हैं—'गुण ही सृष्टिके हेतु हैं।' तथा तत्त्वज्ञ (शैव) कहते हैं—'[आत्मा, अविद्या और शिव—ये तीन] तत्त्व ही जगत्‌के प्रवर्तक हैं' ॥ २० ॥

पादा इति पादविदो विषया इति तद्विदः ।
लोका इति लोकविदो देवा इति च तद्विदः ॥ २१ ॥

पादवेत्ता कहते हैं—'विश्व आदि पाद ही सम्पूर्ण व्यवहारके हेतु हैं।' [वात्स्यायनादि] विषयज्ञ कहते हैं—'शब्दादि विषय ही सत्य वस्तु हैं।'

लोकवेत्ताओं (पौराणिकों) का कथन है—'लोक ही सत्य हैं ।' तथा देवोपासक कहते हैं—'इन्द्रादि देवता ही सृष्टिके सञ्चालक हैं' ॥ २१ ॥

वेदा इति वेदविदो यज्ञा इति च तद्विदः ।
भोक्तेति च भोक्तृविदो भोज्यमिति च तद्विदः ॥ २२ ॥

वेदज्ञ कहते हैं—'ऋगादि चार वेद ही परमार्थ हैं ।' याज्ञिक कहते हैं—'यज्ञ ही संसारके आदिकारण हैं ।' भोक्ताको जाननेवाले भोक्ताकी ही प्रधानता बतलाते हैं तथा भोज्यके मर्मज्ञ (सूपकारादि) भोज्यपदार्थोंकी ही सारवत्ताका प्रतिपादन करते हैं ॥ २२ ॥

सूक्ष्म इति सूक्ष्मविदः स्थूल इति च तद्विदः ।
मूर्त इति मूर्तविदोऽमूर्त इति च तद्विदः ॥ २३ ॥

सूक्ष्मवेत्ता कहते हैं—'आत्मा सूक्ष्म (अणु-परिमाण) है ।' स्थूलवादी (चार्वाकादि) कहते हैं—'वह स्थूल है ।' मूर्त्तवादी (साकारोपासक) कहते हैं—'परमार्थ वस्तु मूर्तिमान् है ।' तथा अमूर्त्तवादियों (शून्यवादियों) का कथन है कि वह मूर्त्तिहीन है ॥ २३ ॥

काल इति कालविदो दिश इति च तद्विदः ।
वादा इति वादविदो भुवनानीति तद्विदः ॥ २४ ॥

कालज्ञ (ज्योतिषी लोग) कहते हैं—'काल ही परमार्थ है ।' दिशाओंके जाननेवाले (स्वरोदयशास्त्री) कहते हैं—'दिशाएँ ही सत्य वस्तु हैं ।' वादवेत्ता कहते हैं—'[धातुवाद, मन्त्रवाद आदि] वाद ही सत्य वस्तु हैं ।' तथा भुवनकोषके ज्ञाताओंका कथन है कि भुवन ही परमार्थ हैं ॥ २४ ॥

मन इति मनोविदो बुद्धिरिति च तद्विदः ।
चित्तमिति चित्तविदो धर्माधर्मौ च तद्विदः ॥ २५ ॥

मनोविद् कहते हैं—'मन ही आत्मा है', बौद्धोंका कथन है—'बुद्धि ही आत्मा है', चित्तज्ञोंका विचार है—'चित्त ही सत्यवस्तु है;' तथा धर्माधर्मवेत्ता (मीमांसक) धर्माधर्मको ही परमार्थ मानते हैं ॥ २५ ॥

पञ्चविंशक इत्येके षड्विंश इति चापरे ।
एकत्रिंशक इत्याहुरनन्त इति चापरे ॥ २६ ॥

कोई (सांख्यवादी) पचीस तत्त्वोंको, कोई (पातञ्जलमतावलम्बी) छब्बीसोंको और कोई (पाशुपत) इकतीस तत्त्वोंको सत्य मानते हैं* तथा अन्य मतावलम्बी परमार्थको अनन्त भेदोंवाला मानते हैं ॥ २६ ॥

लोकाँल्लोकविदः प्राहुराश्रमा इति तद्विदः ।
स्त्रीपुंनपुंसकं लैङ्गाः परापरमथापरे ॥ २७ ॥

लौकिक पुरुष लोकानुरञ्जनको और आश्रमवादी आश्रमोंको ही प्रधान बतलाते हैं । लिङ्गवादी स्त्रीलिङ्ग, पुँल्लिङ्ग और नपुंसकलिङ्गोंको तथा दूसरे लोग पर और अपर ब्रह्मको ही परमार्थ मानते हैं ॥ २७ ॥

सृष्टिरिति सृष्टिविदो लय इति च तद्विदः ।
स्थितिरिति स्थितिविदः सर्वे चेह तु सर्वदा ॥ २८ ॥

सृष्टिवेत्ता कहते हैं—'सृष्टि ही सत्य है', लयवादी कहते हैं—'लय ही परमार्थ वस्तु है' तथा स्थितिवेत्ता कहते हैं—'स्थिति ही सत्य है ।' इस प्रकार ये [कहे हुए और बिना कहे हुए] सभी वाद इस आत्मतत्त्वमें सर्वदा कल्पित हैं ॥ २८ ॥

प्राणः प्राज्ञो बीजात्मा तत्कार्यभेदा हीतरे स्थित्यन्ताः । अन्ये च सर्वे लौकिकाः सर्वप्राणिपरिकल्पिता भेदा रज्ज्वामिव सर्पादयः तच्छून्य आत्म-

प्राण बीजस्वरूप प्राज्ञको कहते हैं। उपर्युक्त स्थितिपर्यन्त सब विकल्प उसीके कार्यभेद हैं, सम्पूर्ण प्राणियोंसे परिकल्पित अन्य सब लौकिकधर्म रज्जुमें सर्पके समान उन विकल्पोंसे शून्य आत्मामें आत्म-

* प्रधान, महत्तत्त्व, अहंकार, पञ्चतन्मात्रा, पाँच ज्ञानेन्द्रियाँ, पाँच कर्मेन्द्रियाँ, पाँच विषय और मन—ये सांख्यवादियोंके पचीस तत्त्व हैं; योगी इनके सिवा छब्बीसवाँ तत्त्व ईश्वर मानते हैं और पाशुपतोंके मतमें इन पच्चीस तत्त्वोंके अतिरिक्त राग, अविद्या, नियति, काल, कला और माया—ये छः तत्त्व और हैं ।

न्यात्मस्वरूपानिश्चयहेतोरविद्यया कल्पिता इति पिण्डीकृतोऽर्थः। प्राणादिश्लोकानां प्रत्येकं पदार्थव्याख्याने फल्गुप्रयोजनत्वात्सिद्धपदार्थत्वाच्च यत्नो न कृतः ॥ २८ ॥

स्वरूपके अनिश्चयके कारण अविद्यासे कल्पना किये गये हैं—यह इन श्लोकोंका समुदायार्थ है। प्राणादि श्लोकोंके प्रत्येक पदार्थके व्याख्यानका अत्यन्त अल्प प्रयोजन होनेके कारण तथा वे सिद्ध पदार्थ हैं—इसलिये प्रयत्न नहीं किया ॥ २८ ॥

किं बहुना—

अधिक क्या ?—

यं भावं दर्शयेद्यस्य तं भावं स तु पश्यति ।
तं चावति स भूत्वासौ तद्ग्रहः समुपैति तम् ॥ २९ ॥

[गुरु] जिसे जो भाव दिखला देता है वह उसीको आत्मस्वरूपसे देखने लगता है तथा इस प्रकार देखनेवाले उस व्यक्तिकी वह भाव तद्रूप होकर रक्षा करने लगता है । फिर उस (भाव) में होनेवाला अभिनिवेश उस [के आत्मभाव] को प्राप्त हो जाता है ॥ २९ ॥

प्राणादीनामन्यतममुक्तमनुक्तं वान्यं भावं पदार्थं दर्शयेद्यस्याचार्योऽन्यो वाप्त इदमेव तत्त्वमिति स तं भावमात्मभूतं पश्यत्ययमहमिति वा ममेति वा । तं च द्रष्टारं स भावोऽवति यो दर्शितो भावोऽसौ भूत्वा रक्षति । स्वेनात्मना सर्वतो निरुणद्धि ।

जिसका आचार्य अथवा कोई अन्य आप्त पुरुष जिसे प्राणादिमेंसे किसी कहे हुए अथवा किसी बिना कहे हुए अन्य भावको भी 'यही परमार्थ तत्त्व है' इस प्रकार दिखा देता है वह उसी भावको आत्मभूत हुआ देखता है [और समझता है कि—] 'मैं यही हूँ' अथवा 'यही मेरा स्वरूप है' । तथा उस द्रष्टाकी भी, जो भाव उसे दिखलाया गया है, तद्रूप होकर रक्षा करता है; अर्थात् उसे सब प्रकार अपने स्वरूप-

तस्मिन्ग्रहस्तद्ग्रहस्तदभिनिवेशः । इदमेव तत्त्वमिति स तं ग्रहीतारमुपैति । तस्यात्मभावं निगच्छतीत्यर्थः ॥ २९ ॥

से निरुद्ध कर देता है । उसी भावमें जो ग्रह—आग्रह अर्थात् 'यही तत्त्व है' इस प्रकारका अभिनिवेश है वह उस भावके ग्रहण करनेवालेको प्राप्त होता है, अर्थात् उसके आत्मस्वरूपको प्राप्त हो जाता है ॥२९॥

आत्मा सर्वाधिष्ठान है ऐसा जाननेवाला ही परमार्थदर्शी है

एतैरेषोऽपृथग्भावैः पृथगेवेति लक्षितः ।
एवं यो वेद तत्त्वेन कल्पयेत्सोऽविशङ्कितः ॥ ३० ॥

[इस प्रकार सबका अधिष्ठान होनेके कारण] इस प्राणादि अपृथग् भावोंसे [पृथक् न होनेपर भी अज्ञानियोंद्वारा] वह आत्मा भिन्न ही माना गया है । इस बातको जो वास्तविकरूपसे जानता है वह निःशंक होकर [वेदार्थकी] कल्पना कर सकता है ॥ ३० ॥

एतैः प्राणादिभिरात्मनोऽपृथग्भूतैरपृथग्भावैरेष आत्मा रज्जुरिव सर्पादिविकल्पनारूपैः पृथगेवेति लक्षितोऽभिलक्षितो निश्चितो मूढैरित्यर्थः । विवेकिनां तु रज्ज्वामिव कल्पिताः सर्पादयो नात्मव्यतिरेकेण प्राणादयः सन्तीत्यभिप्रायः "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० उ० २ । ४ । ६, ४ । ५ । ७) इति श्रुतेः ।

रज्जुमें कल्पित सर्पादि भावोंसे रज्जुके समान यह आत्मा अपनेसे अपृथग्भूत प्राणादि अपृथग्भावोंसे पृथक् ही है—ऐसा मूर्खोंको लक्षित—अभिलक्षित अर्थात् निश्चित हो रहा है । विवेकियोंकी दृष्टिमें तो "यह जो कुछ है सब आत्मा ही है" इस श्रुतिके अनुसार रज्जुमें कल्पित सर्पादिके समान ये प्राणादि आत्मासे भिन्न हैं ही नहीं—ऐसा इसका तात्पर्य है ।

एवमात्मव्यतिरेकेणासत्त्वं रज्जुसर्पवदात्मनि कल्पिताना-

इस प्रकार रज्जुमें कल्पित सर्पके समान जो आत्मामें कल्पित पदार्थों-

मात्मानं च केवलं निर्विकल्पं यो वेद तत्त्वेन श्रुतितो युक्तितश्च सोऽविशङ्कितो वेदार्थं विभागतः कल्पयेत्कल्पयतीत्यर्थः—इदमेवं-परं वाक्यमदोऽन्यपरमिति । न ह्यनध्यात्मविद्वेदाञ्ज्ञातुं शक्नोति तत्त्वतः । "न ह्यनध्यात्मवित्कश्चित्क्रियाफलमुपाश्नुते" (मनु० ६ । ८२) इति हि मानवं वचनम् ॥ ३० ॥

का आत्माके सिवा असत्यत्व समझता है तथा आत्माको श्रुति और युक्तिसे परमार्थतः निर्विकल्प जानता है वह निःशंक होकर वेदार्थकी 'यह वाक्य इस अर्थका प्रतिपादन करनेवाला है और यह अन्यार्थपरक है' इस प्रकार विभागपूर्वक कल्पना कर सकता है—यह इसका तात्पर्य है। जो अध्यात्मतत्त्वको नहीं जानता वह पुरुष तत्त्वतः वेदोंको भी नहीं जान सकता। "अध्यात्मतत्त्वको न जाननेवाला पुरुष किसी भी कर्मफलको प्राप्त नहीं करता" ऐसा मनुजीका भी वचन है ॥ ३० ॥

द्वैतका असत्यत्व वेदान्तवेद्य है

यदेतद्द्वैतस्यासत्त्वमुक्तं युक्तितस्तदेतद्वेदान्तप्रमाणावगतमित्याह—

यह जो युक्तिपूर्वक द्वैतकी असत्यता बतलायी है वह वेदान्तप्रमाणसे जानी गयी है—इस आशयसे कहते हैं—

स्वप्नमाये यथा दृष्टे गन्धर्वनगरं यथा ।
तथा विश्वमिदं दृष्टं वेदान्तेषु विचक्षणैः ॥ ३१ ॥

जिस प्रकार स्वप्न और माया देखे गये हैं तथा जैसा गन्धर्व-नगर जाना गया है उसी प्रकार विचक्षण पुरुषोंने वेदान्तोंमें इस जगत्को देखा है ॥ ३१ ॥

स्वप्नश्च माया च स्वप्नमाये असद्वस्त्वात्मिके असत्यौ सद्व-

अविवेकी पुरुषोंद्वारा स्वप्न और माया, जो असद्वस्तुरूप अर्थात्

स्त्वात्मिके इव लक्ष्येते अविवेकिभिः यथा च प्रसारित-पण्यापणगृहप्रासादस्त्रीपुंजनपद-व्यवहाराकीर्णमिव गन्धर्वनगरं दृश्यमानमेव सदकस्मादभावतां गतं दृष्टम्, यथा च स्वप्नमाये दृष्टे असद्रूपे, तथा विश्वमिदं द्वैतं समस्तमसद्दृष्टम् ।

क्वेत्याह–वेदान्तेषु । "नेह नानास्ति किंचन" (क०उ० २।१।११, बृ० उ० ४।४।१९) "इन्द्रो मायाभिः" (बृ० उ० २।५।१९) "आत्मैवेदमग्र आसीत्" (बृ०उ० १।४।१७) "ब्रह्म वा इदमग्र आसीत्" (बृ०उ०१।४।१०) "द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृ० उ० १।४।२) "न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४।३।२३) "यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृ० उ० ४।५।१५) इत्यादिषु विचक्षणैर्निपुणतरवस्तुदर्शिभिः पण्डितैरित्यर्थः ।

"तमःश्वभ्रनिभं दृष्टं वर्षबुद्बुदसंनिभम् । नाशप्रायं सुखा-

असत्य हैं, सद्वस्तुरूप देखे जाते हैं । जिस प्रकार विस्तृत दूकान, बाजार, गृह, प्रासाद और नगरनिवासी स्त्री-पुरुषोंके व्यवहारसे भरपूर-सा गन्धर्व-नगर देखते-ही-देखते अकस्मात् अभावको प्राप्त होता देखा गया है, और जिस प्रकार ये स्वप्न और माया असद्रूप देखे गये हैं, उसी प्रकार यह विश्व अर्थात् समस्त द्वैत असत् देखा गया है ।

कहाँ देखा गया है ? इसपर कहते हैं–वेदान्तोंमें । "यहाँ नाना कुछ नहीं है" "इन्द्रने मायासे" "पहले यह आत्मा ही थी" "पहले यह ब्रह्म ही था" "दूसरे-से निश्चय भय होता है" "उससे दूसरा कोई नहीं है" "यहाँ इसके लिये सब आत्मा ही हो गया है" इत्यादि वेदान्तोंमें विचक्षण अर्थात् निपुणतर वस्तुदर्शी पण्डितोंद्वारा देखा गया है—यह इसका तात्पर्य है ।

"यह जगत् अँधेरे गड्ढेके समान और वर्षाकी बूँदके सदृश नाशप्राय, सुखसे रहित और नाशके अनन्तर अभावको प्राप्त हो जानेवाला देखा

द्वीनं नाशोत्तरमभावगम्'' इति व्यासस्मृतेः ॥ ३१ ॥

गया है''—इस व्यासस्मृतिसे भी यही बात प्रमाणित होती है ॥ ३१ ॥

परमार्थ क्या है ?

प्रकरणार्थोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः । यदा वितथं द्वैतमात्मैवैकः परमार्थतः संस्तदेदं निष्पन्नं भवति सर्वोऽयं लौकिको वैदिकश्च व्यवहारोऽविद्याविषय एवेति । तदा—

यह (आगेका) श्लोक इस प्रकरणके विषयका उपसंहार करनेके लिये है । जब कि द्वैत असत् है और एकमात्र आत्मा ही परमार्थतः सत् है तो यह निश्चित होता है कि यह सारा लौकिक और वैदिक व्यवहार अविद्याका ही विषय है । उस अवस्थामें—

न निरोधो न चोत्पत्तिर्न बद्धो न च साधकः ।
न मुमुक्षुर्न वै मुक्त इत्येषा परमार्थता ॥ ३२ ॥

न प्रलय है, न उत्पत्ति है, न बद्ध है, न साधक है, न मुमुक्षु है और न मुक्त ही है—यही परमार्थता है ॥ ३२ ॥

न निरोधः—निरोधनं निरोधः प्रलयः, उत्पत्तिर्जननम्, बद्धः संसारी जीवः, साधकः साधनवान्मोक्षस्य, मुमुक्षुर्मोचनार्थी, मुक्तो विमुक्तबन्धः । उत्पत्तिप्रलययोरभावाद्बद्धादयो न सन्तीत्येषा परमार्थता ।

न निरोध है । निरोधनका नाम निरोध यानी प्रलय है । उत्पत्ति जननको, बद्ध—संसारी जीवको, साधक मोक्षके साधनवालेको, मुमुक्षु मुक्त होनेकी इच्छावालेको और मुक्त बन्धनसे छूटे हुएको कहते हैं । उत्पत्ति और प्रलयका अभाव होनेके कारण ये बद्ध आदि भी नहीं हैं—यही परमार्थता है ।

कथमुत्पत्तिप्रलययोरभावः, इत्युच्यते, द्वैतस्यासत्त्वात् । ''यत्र

उत्पत्ति और प्रलयका अभाव किस प्रकार है ? इसपर कहा जाता

हि द्वैतमिव भवति" (बृ० उ० २। ४। १४) "य इह नानेव पश्यति" (क० उ० २।१।१०, ११) 'आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७।२५।२) "ब्रह्मैवेदं सर्वम्" (नृसिंहोत्तर० ७) "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६। २। १) "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० उ० २। ४। ६, ४। ५। ७) इत्यादि-नानाश्रुतिभ्यो द्वैतस्यासत्त्वं सिद्धम्।

है—द्वैतकी असत्यता होनेके कारण [इनकी भी सत्ता नहीं है]। "जहाँ द्वैत-जैसा होता है" "जो यहाँ नानावत् देखता है" "यह सब आत्मा ही है" "यह सब ब्रह्म ही है" "एक ही अद्वितीय" "यह जो कुछ है सब आत्मा है" इत्यादि अनेकों श्रुतियोंसे द्वैतकी असत्यता सिद्ध होती है।

सतो ह्युत्पत्तिः प्रलयो वा स्यान्नासतः शशविषाणादेः। नाप्यद्वैतमुत्पद्यते लीयते वा। अद्वयं चोत्पत्तिप्रलयवच्चेति विप्रतिषिद्धम्।

उत्पत्ति अथवा प्रलय सत्की ही हो सकती है, शशशृङ्गादि असद्वस्तुकी नहीं हो सकती। इसी प्रकार अद्वैत वस्तु भी उत्पन्न या लीन नहीं होती। जो अद्वय हो वह उत्पत्ति-प्रलयवान् भी हो—यह तो सर्वथा विरुद्ध है।

यस्तु पुनर्द्वैतसंव्यवहारः स रज्जुसर्पवदात्मनि प्राणादिलक्षणः कल्पित इत्युक्तम्। न हि मनोविकल्पनाया रज्जुसर्पादिलक्षणाया रज्ज्वां प्रलय उत्पत्तिर्वा। न च मनसि रज्जुसर्पस्योत्पत्तिः प्रलयो वा न चोभयतो वा। तथा मानसत्वा-

इसके सिवा जो प्राणादिरूप द्वैतव्यवहार है वह रज्जुमें सर्पके समान आत्मामें ही कल्पित है—यह बात पहले कही जा चुकी है। रज्जु-सर्पादिरूप मनोविकल्पकी भी रज्जुमें उत्पत्ति या प्रलय नहीं होती। रज्जुसर्पकी उत्पत्ति या प्रलय न तो मनमें ही होती है और न [मन और रज्जु] दोनोंहीमें। इसी प्रकार द्वैतका मनोमयत्व भी समान ही है,

विशेषादद्वैतस्य । न हि नियते मनसि सुषुप्ते वा द्वैतं गृह्यते । अतो मनोविकल्पनामात्रं द्वैतमिति सिद्धम् । तस्मात्सूक्तं द्वैतस्यासत्त्वान्निरोधाद्यभावः परमार्थतेति ।

क्योंकि मनके समाहित अथवा सुषुप्त हो जानेपर द्वैतका ग्रहण नहीं होता । अतः यह सिद्ध हुआ कि द्वैत मनकी कल्पनामात्र है । इसलिये यह ठीक ही कहा है कि द्वैतकी असत्यता होनेके कारण निरोधादिका अभाव ही परमार्थता है ।

शून्यवादाशङ्का तन्निवर्तनञ्च

यद्येवं द्वैताभावे शास्त्रव्यापारो नाद्वैते विरोधात् । तथा च सत्यद्वैतस्य वस्तुत्वे प्रमाणाभावाच्छून्यवादप्रसङ्गः, द्वैतस्य चाभावात् ।

पूर्व०—यदि ऐसा है तो शास्त्रका व्यापार द्वैतका अभाव प्रतिपादन करनेमें ही है, अद्वैत-बोधमें नहीं; क्योंकि इससे विरोध आता है* ऐसी अवस्थामें अद्वैतके वस्तुत्वमें कोई प्रमाण न होनेके कारण शून्यवादका प्रसंग उपस्थित हो जाता है; क्योंकि द्वैतका तो अभाव ही है ।

न; रज्जुसर्पादिविकल्पनाया निरास्पदत्वानुपपत्तिरिति प्रत्युक्तमेतत्कथमुज्जीवयसीत्याह— रज्जुरपि सर्पविकल्पस्यास्पदभूता विकल्पितैवेति दृष्टान्तानुपपत्तिः ।

सिद्धान्ती—ऐसी बात नहीं है; क्योंकि रज्जु-सर्पादि विकल्पका निराधार होना सम्भव नहीं है—इस प्रकार पहले निराकरण कर दिये जानेपर भी इसी शंकाको फिर क्यों उठाता है ? इसीपर [शून्यवादी] कहता है—'सर्पभ्रमकी अधिष्ठानभूता रज्जु भी कल्पिता ही है । इसलिये यह दृष्टान्त ठीक नहीं है ।'

न, विकल्पनाक्षयेऽविकल्पितस्याविकल्पितत्वादेव सत्त्वोप-

सिद्धान्ती—नहीं, कल्पनाका क्षय हो जानेपर अविकल्पित आत्मा-

* क्योंकि द्वैतका अभाव प्रतिपादन करनेसे ही यह नहीं समझा जा सकता कि शास्त्रको अद्वैतकी सत्ता अभीष्ट है ।

पत्तेः । रज्जुसर्पवदसत्त्वमिति चेत् ? न, एकान्तेनाविकल्पितत्वादविकल्पितरज्ज्वंशवत्प्राक् सर्पाभावविज्ञानात् । विकल्पयितुश्च प्राग्विकल्पनोत्पत्तेः सिद्धत्वाभ्युपगमादसत्त्वानुपपत्तिः ।

की सत्ता उसके अविकल्पितत्वके कारण ही सम्भव हो सकती है । यदि कहो कि रज्जु-सर्पके समान उसकी असत्ता है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि वह अविकल्पित रज्जु-अंशके समान सर्पाभावके विज्ञानके पहलेसे ही सर्वथा अविकल्पितरूपसे विद्यमान है । इसके सिवा, जो विकल्पना करनेवाला होता है उसे विकल्पकी उत्पत्तिसे पहले ही विद्यमान स्वीकार करनेके कारण उसकी असत्ता नहीं मानी जा सकती ।

कथं पुनः स्वरूपे व्यापाराभावे शास्त्रस्य द्वैतविज्ञाननिवर्तकत्वम् ?

पूर्व०—किन्तु आत्मस्वरूपमें प्रमाणकी गति न होनेपर भी शास्त्र द्वैतविज्ञानका निवर्त्तक कैसे है ?

नैष दोषः । रज्ज्वां सर्पादिवदात्मनि द्वैतस्याविद्याध्यस्तत्वात् । कथम् ? सुख्यहं दुःखी मूढो जातो मृतो जीर्णो देहवान् पश्यामि व्यक्तोऽव्यक्तः कर्ता फली संयुक्तो वियुक्तः क्षीणो वृद्धोऽहं ममैत इत्येवमादयः सर्वे आत्मन्यध्यारोप्यन्ते । आत्मै-

सिद्धान्ती—[यहाँ] यह दोष नहीं है, क्योंकि रज्जुमें सर्पादिके समान आत्मामें अविद्याके कारण द्वैतका अध्यास है । किस प्रकार ?—'मैं सुखी हूँ, दुखी हूँ, मूढ़ हूँ, उत्पन्न हुआ हूँ, मरा हूँ, जराग्रस्त हूँ, देहधारी हूँ, देखता हूँ, व्यक्त हूँ, अव्यक्त हूँ, कर्ता हूँ, फलवान् हूँ, संयुक्त हूँ, वियुक्त हूँ, क्षीण हूँ, वृद्ध हूँ, ये मेरे हैं'—इत्यादि प्रकारके सम्पूर्ण विकल्प आत्मामें आरोपित किये जाते हैं तथा आत्मा इनमें अनुस्यूत है, क्योंकि

तेष्वनुगतः सर्वत्राव्यभिचारात् । यथा सर्पधारादिभेदेषु रज्जुः।

यदा चैवं विशेष्यस्वरूपप्रत्ययस्य सिद्धत्वान्न कर्तव्यत्वं शास्त्रेण । अकृतकर्तृ च शास्त्रं कृतानुकारित्वेऽप्रमाणम् । यतोऽविद्याध्यारोपितसुखित्वादिविशेषप्रतिबन्धादेवात्मनः स्वरूपेणानवस्थानं स्वरूपावस्थानं च श्रेय इति सुखित्वादिनिवर्तकं शास्त्रम् आत्मन्यसुखित्वादिप्रत्ययकरणेन नेति नेत्यस्थूलादिवाक्यैः । आत्मस्वरूपवदसुखित्वाद्यपि सुखित्वादिभेदेषु नानुवृत्तोऽस्ति धर्मः । यद्यनुवृत्तः स्यान्नाध्यारोपितसुखित्वादिलक्षणो विशेषः । यथोष्णत्वगुणविशेषवत्यग्नौ शीतता । तस्मान्निर्विशेष एवात्मनि सुखित्वादयो विशेषाः

उसका कहीं भी व्यभिचार नहीं है, जैसे कि सर्प और धारा आदि भेदोंमें रज्जु ।

जब कि ऐसी बात है तो विशेष्यरूप ब्रह्मके स्वरूपकी प्रतीति सिद्ध होनेके कारण उसके सम्बन्धमें शास्त्रको कुछ कर्तव्य नहीं है । शास्त्र तो असिद्ध वस्तुको सिद्ध करनेवाला है; सिद्ध वस्तुका अनुवाद करनेसे वह प्रमाण नहीं माना जाता । क्योंकि अविद्यासे आरोपित सुखित्व आदि विशेष प्रतिबन्धकोंके कारण ही आत्माकी स्वरूपसे स्थिति नहीं है, और स्वरूपसे स्थिति ही श्रेय है; इसलिये 'नेति-नेति' और 'अस्थूलम्' आदि वाक्योंसे आत्मामें असुखित्वादिकी प्रतीति करानेके द्वारा शास्त्र [उसमें आरोपित] सुखित्व आदिकी निवृत्ति करनेवाला है । आत्मस्वरूपके समान असुखित्व आदि भी सुखित्व आदि भेदोंमें अनुवृत्त धर्म नहीं है । यदि वह भी अनुवृत्त होता तो उसमें सुखित्व आदिरूप विशेष धर्मका आरोप नहीं किया जा सकता था, जिस प्रकार कि उष्णत्वधर्मविशिष्ट अग्निमें शीतत्वका आरोप नहीं किया जा सकता । अतः सुखित्वादि विशेष निर्विशेष

कल्पिताः। यत्त्वसुखित्वादिशास्त्रमात्मनस्तत्सुखित्वादिविशेषनिवृत्त्यर्थमेवेति सिद्धम्। "सिद्धं तु निवर्तकत्वात्" इत्यागमविदां सूत्रम् ॥ ३२ ॥

आत्मामें ही कल्पना किये गये हैं। इससे सिद्ध हुआ कि आत्माके विषयमें जो असुखित्व आदि शास्त्र है वह सुखित्व आदि विशेषकी निवृत्तिके ही लिये है। शास्त्रवेत्ताओंका सूत्र भी है--"[सुखित्व आदि धर्मोंका] निवर्त्तक होनेसे [अस्थूलम् आदि] शास्त्रकी प्रामाणिकता सिद्ध होती है" ॥ ३२ ॥

अद्वैतभाव ही मङ्गलमय है

पूर्वश्लोकार्थस्य हेतुमाह—

पूर्व श्लोकके अर्थका हेतु बतलाते हैं--

भावैरसद्भिरेवायमद्वयेन च कल्पितः।
भावा अप्यद्वयेनैव तस्माद‌द्वयता शिवा ॥ ३३ ॥

यह (आत्मतत्त्व) प्राणादि असद्भावोंसे और अद्वैतरूपसे कल्पित है। वे असद्भाव भी अद्वैतसे ही कल्पना किये गये हैं। इसलिये अद्वैतभाव ही मङ्गलमय है ॥ ३३ ॥

यथा रज्ज्वामसद्भिः सर्पधारादिभिरद्वयेन च रज्जुद्रव्येण सतायं सर्प इयं धारा दण्डोऽयमिति वा रज्जुद्रव्यमेव कल्प्यत एवं प्राणादिभिरनन्तैरसद्भिरेवाविद्यमानैः न परमार्थतः—न ह्यप्रचलिते मनसि कश्चिद्भाव

जिस प्रकार रज्जुमें अविद्यमान सर्प धारा आदि भावोंसे तथा विद्यमान अद्वितीय रज्जुद्रव्यसे 'यह सर्प है, यह धारा है, यह दण्ड है' इस प्रकार रज्जुद्रव्य ही कल्पना किया जाता है उसी प्रकार प्राणादि अनन्त असत्—अविद्यमान अर्थात् जो परमार्थतः नहीं हैं, [उन भावोंसे आत्मा विकल्पित हो रहा है]—

उपलक्षयितुं शक्यते केनचित्; न चात्मनः प्रचलनमस्ति; प्रचलितस्यैवोपलभ्यमाना भावा न परमार्थतः सन्तः कल्पयितुं शक्याः—अतोऽसद्भिरेव प्राणादिभावैरद्वयेन च परमार्थसतात्मना रज्जुवत्सर्वविकल्पास्पदभूतेनायं स्वयमेवात्मा कल्पितः; सदैकस्वभावोऽपि सन् ।

क्योंकि चित्तके चलायमान न होनेपर किसीके द्वारा कोई भाव उपलक्षित नहीं हो सकता, और आत्मामें प्रचलन है नहीं; तथा केवल चलायमान चित्तमें ही उपलब्ध होनेवाले भाव परमार्थतः सत्य हैं—ऐसी कल्पना नहीं की जा सकती । अतः यह आत्मा, स्वयं एकमात्र सत्स्वभाव होनेपर भी असत्स्वरूप प्राणादि भावोंसे तथा रज्जुके समान सब प्रकारके विकल्पके आश्रयभूत परमार्थ सत् आत्मस्वरूपसे कल्पित है ।

ते च प्राणादिभावा अप्यद्वयेनैव सतात्मना विकल्पिताः । न हि निरास्पदा काचित्कल्पनोपलभ्यते, अतः सर्वकल्पनास्पदत्वात्स्वेनात्मनाद्वयस्याव्यभिचारात्कल्पनावस्थायामप्यद्वयता शिवा । कल्पना एव त्वशिवाः । रज्जुसर्पादिवत्त्रासादिकारिण्यो हि ताः । अद्वयताभयातः सैव शिवा ॥ ३३ ॥

वे प्राणादि भाव भी अद्वय सत्स्वरूप आत्मासे ही कल्पना किये गये हैं, क्योंकि कोई भी कल्पना निराधार नहीं हो सकती । अतः समस्त कल्पनाकी आश्रयभूता होनेसे और अपने स्वरूपसे अद्वयका कभी व्यभिचार न होनेसे कल्पना अवस्थामें भी अद्वयता ही मङ्गलमयी है । केवल कल्पना ही अमङ्गलमयी है, क्योंकि वह रज्जु-सर्पादिके समान भय आदि उत्पन्न करनेवाली है । अद्वयता अभयरूपा है, इसलिये वही मङ्गलमयी है ॥ ३३ ॥

तत्त्ववेत्ताकी दृष्टिमें नानात्वका अत्यन्ताभाव है

कुतश्चाद्वयता शिवा ? नानाभूतं ।

और भी अद्वयता क्यों मङ्गलमयी

पृथक्त्वमन्यस्यान्यस्माद्यत्र दृष्टं तत्राशिवं भवेत् ।

है ?—जहाँ एक वस्तुसे दूसरी वस्तुका नानाभूत पार्थक्य देखा जाता है वही अमङ्गल हो सकता है । [किन्तु—]

नात्मभावेन नानेदं न स्वेनापि कथंचन ।
न पृथङ्नापृथक्किंचिदिति तत्त्वविदो विदुः ॥ ३४ ॥

यह नानात्व न तो आत्मस्वरूपसे है और न अपने ही स्वरूपसे कुछ है । कोई भी वस्तु न तो ब्रह्मसे पृथक् है और न अपृथक् ही—ऐसा तत्त्ववेत्ता जानते हैं ॥ ३४ ॥

न ह्यत्राद्वये परमार्थसत्यात्मनि प्राणादिसंसारजातमिदं जगदात्मभावेन परमार्थस्वरूपेण निरूप्यमाणं नाना वस्त्वन्तरभूतं भवति । यथा रज्जुस्वरूपेण प्रकाशेन निरूप्यमाणो न नानाभूतः कल्पितः सर्पोऽस्ति तद्वत् । नापि स्वेन प्राणाद्यात्मनेदं विद्यते कदाचिदपि रज्जुसर्पवत्कल्पितत्वादेव ।

इस अद्वितीय परमार्थ सत्य आत्मामें यह प्राणादि संसारजातरूप जगत् आत्मभावसे—परमार्थसत्यरूपसे निरूपण किये जानेपर नाना अर्थात् पृथक् वस्तुके अन्तर्भूत नहीं रहता । जिस प्रकार प्रकाशद्वारा रज्जुरूपसे निरूपित होनेपर कल्पित सर्प पृथक्-रूपसे नहीं रहता उसी प्रकार [परमार्थरूपसे निरूपण किया जानेपर जगत् आत्मासे पृथक् वस्तु नहीं ठहरता]; और न यह, रज्जु-सर्पके समान कल्पित होनेके कारण ही, अपने प्राणादिस्वरूपसे कभी कुछ रहता है ।

तथान्योन्यं न पृथक्प्राणादि वस्तु यथाश्वान्महिषः पृथग्विद्यत एवम् । अतोऽसत्त्वान्नापृथग्विद्यते

तथा जिस प्रकार घोड़ेसे भैंस पृथक् है उस प्रकार प्राणादि वस्तु आपसमें भी पृथक् नहीं हैं । इसीलिये असद्रूप होनेसे आपसमें अथवा

अन्योन्यं परेण वा किंचिदिति एवं परमार्थतत्त्वमात्मविदो ब्राह्मणा विदुः । अतोऽशिवहेतुत्वाभावादद्वयतैव शिवेत्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥

किसीके अन्यसे कोई वस्तु अपृथक् भी नहीं है—ऐसा आत्मज्ञ ब्राह्मणलोग परमार्थतत्त्वको जानते हैं । अतः अमङ्गलकी हेतुताका अभाव होनेसे अद्वयता ही मङ्गलमयी है—यह इसका तात्पर्य है ॥ ३४ ॥

इस रहस्यके साक्षी कौन थे ?

तदेतत्सम्यग्दर्शनं स्तूयते—

अब इस सम्यग्ज्ञानकी स्तुति की जाती है—

वीतरागभयक्रोधैर्मुनिभिर्वेदपारगैः ।
निर्विकल्पो ह्ययं दृष्टः प्रपञ्चोपशमोऽद्वयः ॥ ३५ ॥

जिनके राग, भय और क्रोध निवृत्त हो गये हैं उन वेदके पारगामी मुनियोंद्वारा ही यह निर्विकल्प प्रपञ्चोपशम अद्वय तत्त्व देखा गया है॥३५॥

विगतरागभयद्वेषक्रोधादिसर्वदोषैः सर्वदा मुनिभिर्मननशीलैर्विवेकिभिर्वेदपारगैरवगतवेदार्थतत्त्वैर्ज्ञानिभिर्निर्विकल्पः सर्वविकल्पशून्योऽयमात्मा दृष्ट उपलब्धो वेदान्तार्थतत्परैः प्रपञ्चोपशमः—प्रपञ्चो द्वैतभेदविस्तारस्तस्योपशमोऽभावो यस्मिन्स आत्मा

जिनके राग, भय और क्रोधादि समस्त दोष निवृत्त हो गये हैं उन मुनियों अर्थात् सर्वदा मननशील विवेकियों और वेदके पारगामियों यानी वेदार्थके मर्मज्ञ वेदान्तार्थपरायण तत्त्वज्ञानियोंद्वारा यह सब प्रकारके विकल्पोंसे रहित निर्विकल्प और प्रपञ्चोपशम—द्वैतरूप, भेदके विस्तारका नाम प्रपञ्च है उसकी जिसमें निवृत्ति हो जाती है वह आत्मा प्रपञ्चोपशम है—इसीलिये जो अद्वय है ऐसा यह आत्मा पण्डित

प्रपञ्चोपशमोऽत एवाद्वयो विगतदोषैरेव पण्डितैर्वेदान्तार्थतत्परैः संन्यासिभिः परमात्मा द्रष्टुं शक्यः, नान्यै रागादिकलुषितचेतोभिः स्वपक्षपातिदर्शनैस्तार्किकादिभिरित्यभिप्रायः।३५।

यानी वेदान्तार्थमें तत्पर, दोषहीन संन्यासियोंद्वारा ही देखा जा सकता है। जिनके चित्त रागादि दोषसे दूषित हैं और जिनके दर्शन अपने पक्षका आग्रह करनेवाले हैं उन अन्य तार्किकादिको इस आत्माका साक्षात्कार नहीं हो सकता—यह इसका अभिप्राय है ॥ ३५ ॥

तत्त्वदर्शनका आदेश

यस्मात्सर्वानर्थप्रशमरूपत्वाद्-द्वयं शिवमभयम्—

क्योंकि सम्पूर्ण अनर्थोंका निवृत्ति-स्थान होनेसे अद्वयत्व ही मङ्गल-मय और अभयरूप है—

तस्मादेवं विदित्वैनमद्वैते योजयेत्स्मृतिम् ।
अद्वैतं समनुप्राप्य जडवल्लोकमाचरेत् ॥ ३६ ॥

इसलिये इस (आत्मतत्त्व) को ऐसा जानकर अद्वैतमें मनोनिवेश करे और अद्वैततत्त्वको प्राप्तकर लोकमें जडवत् व्यवहार करे ॥ ३६ ॥

अत एवं विदित्वैनमद्वैते स्मृतिं योजयेत् । अद्वैतावगमायैव स्मृतिं कुर्यादित्यर्थः। तच्चाद्वैतमवगम्याहमस्मि परं ब्रह्मेति विदित्वाशनायाद्यतीतं साक्षादपरोक्षादजमात्मानं सर्वलोकव्यवहारातीतं

इसलिये इसे ऐसा जानकर अद्वैत-में मनोनिवेश करे अर्थात् अद्वैतबोध-के लिये ही चिन्तन करे। और उस अद्वैतको जानकर अर्थात् 'मैं ही परब्रह्म हूँ' ऐसा ज्ञान प्राप्तकर, यानी सम्पूर्ण लोकव्यवहारसे शून्य, भोजनेच्छा आदिसे अतीत; साक्षात् अपरोक्ष अजन्मा आत्माको अनुभव-कर लोकमें जडवत् आचरण करे।

जडवल्लोकमाचरेत् । अप्रख्यापयन्नात्मानमहमेवंविध इत्यभिप्रायः ॥ ३६ ॥

तात्पर्य यह है कि 'मैं ऐसा हूँ' इस प्रकार अपनेको प्रकट न करता हुआ व्यवहार करे ॥ ३६ ॥

तत्त्वदर्शीका आचरण

कया चर्यया लोकमाचरेदित्याह—

लोकमें कैसे व्यवहारसे आचरण करे ? इसपर कहते हैं—

निस्तुतिर्निर्नमस्कारो निःस्वधाकार एव च ।
चलाचलनिकेतश्च यतिर्यादृच्छिको भवेत् ॥ ३७ ॥

यतिको स्तुति, नमस्कार और स्वधाकार (पैत्रकर्म) से रहित हो चल (शरीर) और अचल (आत्मा) में ही विश्राम करनेवाला होकर यादृच्छिक (अनायासलब्ध वस्तुद्वारा सन्तुष्ट रहनेवाला) हो जाना चाहिये ॥ ३७ ॥

स्तुतिनमस्कारादिसर्वकर्मवर्जितस्त्यक्तसर्वबाह्यैषणः प्रतिपन्नपरमहंसपारिव्राज्य इत्यभिप्रायः—"एतं वै तमात्मानं विदित्वा" (बृ० उ० ३ । ५ । १) इत्यादिश्रुतेः "तद्बुद्धयस्तदात्मानस्तन्निष्ठास्तत्परायणाः" (गीता ५ । १७) इत्यादिस्मृतेश्च—चलं शरीरं प्रतिक्षण-
स्मृतेश्च—चलं शरीरं प्रतिक्षण-
मन्यथाभावात्, अचलमात्मतत्त्वम्, यदाकदाचिद्भोजना-

स्तुति-नमस्कारादि सम्पूर्ण कर्मोंसे रहित तथा समस्त बाह्य एषणाओंका त्यागी हो, अर्थात् "निश्चय इस उस आत्माको जानकर" इत्यादि श्रुति और "जिनकी बुद्धि, आत्मा और निष्ठा उसीमें लगी हुई हैं तथा जो उसीके शरणापन्न हैं" इस स्मृतिके अनुसार परमहंस पारिव्राज्यभावको प्राप्त हो—प्रतिक्षण अन्यथा भावको प्राप्त होनेवाला होनेसे 'चल' शरीरको कहते हैं तथा 'अचल' आत्मतत्त्वका नाम है—इस प्रकार जबतक भोजनादि व्यवहारके निमित्तसे आकाशके समान अविचल अपने

दिव्यवहारनिमित्तमाकाशवदचलं स्वरूपमात्मतत्त्वमात्मनो निकेतमाश्रयमात्मस्थितिं विस्मृत्याहमिति मन्यते यदा तदा चलो देहो निकेतो यस्य सोऽयमेवं चलाचलनिकेतो विद्वान्न पुनर्बाह्यविषयाश्रयः; स च यादृच्छिको भवेद् यदृच्छाप्राप्तकौपीनाच्छादनग्रासमात्रदेहस्थितिरित्यर्थः ॥ ३७ ॥

स्वरूपभूत आत्मतत्त्वको जो अपना निकेत यानी आश्रय है उसे अर्थात् आत्मस्थितिको भूलकर जब 'मैं हूँ' इस प्रकार अभिमान करता है, उस समय 'चल' यानी शरीर ही जिसका निकेत है—इस प्रकार विद्वान् चलाचलनिकेत होकर अर्थात् फिर बाह्य विषयोंका आश्रय न करके यादृच्छिक हो जाय; तात्पर्य यह कि अनायास ही प्राप्त हुए कौपीन, आच्छादन और ग्रासमात्रसे जिसकी देहस्थिति है—ऐसा हो जाय ॥ ३७ ॥

अविचल तत्त्वनिष्ठाका विधान

तत्त्वमाध्यात्मिकं दृष्ट्वा तत्त्वं दृष्ट्वा तु बाह्यतः ।
तत्त्वीभूतस्तदारामस्तत्त्वादप्रच्युतो भवेत् ॥ ३८ ॥

[फिर वह विवेकी पुरुष] आध्यात्मिक तत्त्वको देखकर और बाह्य तत्त्वका भी अनुभव कर, तत्त्वीभूत और तत्त्वमें ही रमण करनेवाला होकर तत्त्वसे च्युत न हो ॥ ३८ ॥

बाह्यं पृथिव्यादितत्त्वम् आध्यात्मिकं च देहादिलक्षणं रज्जुसर्पादिवत्स्वप्नमायादिवच्च असत् "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इत्यादिश्रुतेः । आत्मा च सबाह्या-

पृथ्वी आदि बाह्य तत्त्व और देहादिरूप आध्यात्मिक तत्त्व "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" इत्यादि श्रुतिके अनुसार रज्जु-सर्पादिके समान एवं स्वप्न या मायाके समान मिथ्या हैं; तथा "वह सत्य है, वह आत्मा है और वही तू है" इस श्रुतिके अनुसार आत्मा बाहर-

भ्यन्तरो ह्यजोऽपूर्वोऽनन्तरोऽबाह्यः कृत्स्न आकाशवत्सर्वगतः सूक्ष्मोऽचलो निर्गुणो निष्कलो निष्क्रियः "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा० उ० ६।८।१६) इति श्रुतेः । इत्येवं तत्त्वं दृष्ट्वा तत्त्वीभूतस्तदारामो न बाह्यरमणो यथातत्त्वदर्शी कश्चिच्चित्तमात्मत्वेन प्रतिपन्नश्चित्तचलनमनुचलितमात्मानं मन्यमानस्तत्त्वाच्चलितं देहादिभूतमात्मानं कदाचिन्मन्यते प्रच्युतोऽहमात्मतत्त्वादिदानीमिति; समाहिते तु मनसि कदाचित्तत्त्वभूतं प्रसन्नात्मानं मन्यत इदानीमस्मि तत्त्वीभूत इति; न तथात्मविद्भवेत् । आत्मन एकरूपत्वात्स्वरूपप्रच्यवनासम्भवाच्च । सदैव ब्रह्मास्मीत्यच्युतो भवेत्तत्त्वात्सदाच्युतात्मतत्त्वदर्शनो भवेदित्यभिप्रायः "शुनि चैव श्वपाके च पण्डिताः समदर्शिनः" (गीता १२ । १८) "समं सर्वेषु

भीतर विद्यमान, अजन्मा, कारणरहित, कार्यरहित, अन्तर्बाह्यशून्य, परिपूर्ण आकाशके समान सर्वगत, सूक्ष्म, अचल, निर्गुण, निष्कल और निष्क्रिय है । इस प्रकार तत्त्वका साक्षात्कार कर तत्त्वीभूत और उसीमें रमण करनेवाला होकर अर्थात् बाह्यरत न होकर; जिस प्रकार मनको ही आत्मा माननेवाला कोई अतत्त्वदर्शी पुरुष किसी समय चित्तके चञ्चल होनेपर आत्माको भी चलायमान मानकर अपनेको तत्त्वसे विचलित और देहादिरूप समझकर मानता है कि इस समय मैं तत्त्वसे च्युत हो गया हूँ तथा किसी समय चित्तके समाहित होनेपर अपनेको तत्त्वीभूत और प्रसन्न समझकर मानता है कि इस समय मैं तत्त्वस्थ हूँ उसी प्रकार आत्मवेत्ताको न हो जाना चाहिये; क्योंकि आत्मा सर्वदा एकरूप है और उसका स्वरूपसे च्युत होना भी सम्भव नहीं है । अतः वह सदा ही "मैं ब्रह्म हूँ" ऐसा निश्चयकर तत्त्वसे च्युत न हो, तात्पर्य यह कि सदा ही अच्युत आत्मदर्शी हो, जैसा कि "कुत्ते और चाण्डालमें भी विद्वानोंकी समान दृष्टि होती है" तथा "सम्पूर्ण

भूतेषु" (गीता १३ । २७) इत्यादिस्मृतेः ॥ ३८ ॥

भूतोंमें समान भावसे स्थित" आदि स्मृतियोंसे प्रमाणित होता है ॥ ३८ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्रभाष्ये वैतथ्याख्यं द्वितीयं प्रकरणम् ॥ २ ॥

अद्वैतप्रकरण

ओङ्कारनिर्णय उक्तः प्रपञ्चोपशमः शिवोऽद्वैत आत्मेति प्रतिज्ञामात्रेण । ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इति च । तत्र द्वैताभावस्तु वैतथ्यप्रकरणेन स्वप्नमायागन्धर्वनगरादिदृष्टान्तैर्दृश्यत्वाद्यन्तवत्त्वादिहेतुभिस्तर्केण च प्रतिपादिता । अद्वैतं किमागममात्रेण प्रतिपत्तव्यमाहोस्वित्तर्केणापीत्यत आह—शक्यते तर्केणापि ज्ञातुम्; तत्कथमित्यद्वैतप्रकरणमारभ्यते उपास्योपासनादिभेदजातं सर्वं

[आगमप्रकरणमें] ओङ्कारका निर्णय करते समय यह बात केवल प्रतिज्ञामात्रसे कही है कि आत्मा प्रपञ्चका निवृत्तिस्थान शिव और अद्वैतस्वरूप है तथा ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता । फिर वैतथ्यप्रकरणमें स्वप्न, माया और गन्धर्वनगरादिके दृष्टान्तोंसे दृश्यत्व एवं आदि-अन्तवत्त्व आदि हेतुओंद्वारा तर्कसे भी द्वैतके अभावका प्रतिपादन किया गया । किन्तु वह अद्वैत क्या शास्त्रमात्रसे ही ज्ञातव्य है अथवा तर्कसे भी जाना जा सकता है ? इसपर कहते हैं—तर्कसे भी जाना जा सकता है । सो किस प्रकार ? इसी बातको बतलानेके लिये अद्वैतप्रकरणका आरम्भ किया जाता है । उपास्य और उपासना आदि सम्पूर्ण भेद मिथ्या है, केवल आत्मा ही अद्वय

वितथं केवलश्चात्माद्वयः परमार्थ इति स्थितमतीते प्रकरणे; यतः—

परमार्थस्वरूप है—यह बात पिछले प्रकरणमें निश्चित हुई है; क्योंकि—

भेददर्शी कृपण हैं

उपासनाश्रितो धर्मो जाते ब्रह्मणि वर्तते ।
प्रागुत्पत्तेरजं सर्वं तेनासौ कृपणः स्मृतः ॥ १ ॥

उपासनाका आश्रय लेनेवाला जीव कार्यब्रह्ममें ही रहता है [अर्थात् उसे ही अपना उपास्य मानता है, और समझता है कि] उत्पत्तिसे पूर्व ही सब अज [अर्थात् अजन्मा ब्रह्मस्वरूप] था । इसलिये वह कृपण (दीन) माना गया है ॥ १ ॥

उपासनाश्रित उपासनामात्मनो मोक्षसाधनत्वेन गत उपासकोऽहं ममोपास्यं ब्रह्म । तदुपासनं कृत्वा जाते ब्रह्मणीदानीं वर्तमानोऽजं ब्रह्म शरीरपातादूर्ध्वं प्रतिपत्स्ये प्रागुत्पत्तेश्चाजमिदं सर्वमहं च । यदात्मकोऽहं प्रागुत्पत्तेरिदानीं जातो जाते ब्रह्मणि च वर्तमान उपासनया पुनस्तदेव प्रतिपत्स्य इत्येवमुपासनाश्रितो धर्मः साधको येनैवं क्षुद्रब्रह्मवित्तेनासौ कारणेन कृपणो दीनोऽल्पकः स्मृतो

'उपासनाश्रितः'—उपासनाको अपने मोक्षके साधनरूपसे माननेवाला पुरुष अर्थात् 'मैं उपासक हूँ, और ब्रह्म मेरा उपास्य है । उसकी उपासना करके इस समय कार्यब्रह्ममें रहता हुआ शरीरपातके अनन्तर मैं अजन्मा ब्रह्मको प्राप्त हो जाऊँगा तथा उत्पत्तिके पूर्व भी यह सब और मैं अजरूप ही थे । उत्पत्तिसे पूर्व मैं जैसा था अब उत्पन्न होकर जातब्रह्ममें वर्तमान हुआ अन्तमें उपासनाद्वारा मैं फिर उसी रूपको प्राप्त हो जाऊँगा'—इस प्रकार उपासनाका आश्रय लेनेवाला साधक जीव क्योंकि क्षुद्रब्रह्मवेत्ता है, इस कारणसे ही यह सर्वदा अजन्मा ब्रह्मका दर्शन करनेवाले महात्माओं-द्वारा कृपण—दीन अर्थात् क्षुद्र माना

नित्याजब्रह्मदर्शिभिरित्यभिप्रायः। "यद्वाचानभ्युदितं येन वागभ्युद्यते। तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" (के० उ० १।४) इत्यादिश्रुतेस्तलवकाराणाम्॥१॥

गया है—यह इसका अभिप्राय है; जैसा कि "जो वाणीसे प्रकट नहीं होता बल्कि जिससे वाणी प्रकट होती है, वही ब्रह्म है—ऐसा जान; जिसकी तू उपासना करता है वह ब्रह्म नहीं है" इत्यादि तलवकार-श्रुतिसे प्रमाणित होता है॥ १॥

अकार्पण्यनिरूपणकी प्रतिज्ञा

सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मानं प्रतिपत्तुमशक्नुवन्नविद्यया दीनमात्मानं मन्यमानो जातोऽहं जाते ब्रह्मणि वर्ते तदुपासनाश्रितः सन्ब्रह्म प्रतिपत्स्य इत्येवं प्रतिपन्नः कृपणो भवति यस्मात्—

बाहर और भीतर वर्तमान अजन्मा आत्माको प्राप्त करनेमें असमर्थ होनेके कारण अविद्यावश अपनेको दीन माननेवाला पुरुष, क्योंकि 'मैं उत्पन्न हुआ हूँ, उत्पन्न हुए ब्रह्ममें ही वर्तमान हूँ और उसकी उपासनाका आश्रय लेकर ही ब्रह्मको प्राप्त होऊँगा' इस प्रकार माननेके कारण दीन है—

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतम्।
यथा न जायते किंचिज्जायमानं समन्ततः॥ २॥

इसलिये अब मैं सर्वत्र समानभावको प्राप्त जन्मरहित अकृपणभाव (अजन्मा ब्रह्म) का वर्णन करता हूँ [जिससे यह समझमें आ जायगा कि] किस प्रकार सब ओर उत्पन्न होनेपर भी कुछ उत्पन्न नहीं हुआ॥२॥

अतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमकृपणभावमजं ब्रह्म। तद्धि कार्पण्यास्पदम् "यत्रान्योऽन्यत्पश्यत्यन्यच्छृणोत्यन्यद्विजानाति तदल्पं

इसलिये मैं अकार्पण्य अकृपणभाव अर्थात् अजन्मा ब्रह्मका वर्णन करता हूँ। "जहाँ अन्य अन्यको देखता है, अन्यको सुनता है और अन्यको ही जानता है वह अल्प है, वह

मर्त्यमसत्" (छा० उ० ७ । २४ । १) "वाचारम्भणं विकारो नामधेयम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इत्यादिश्रुतिभ्यः । तद्विपरीतं सबाह्याभ्यन्तरमजमकार्पण्यं भूमाख्यं ब्रह्म । यत्प्राप्याविद्याकृतसर्वकार्पण्यनिवृत्तिस्तदकार्पण्यं वक्ष्यामीत्यर्थः ।

तदजाति, अविद्यमाना जातिरस्य समतां गतं सर्वसाम्यं गतम् । कस्मात्? अवयववैषम्याभावात् । यद्धि सावयवं वस्तु तदवयववैषम्यं गच्छञ्जायत इत्युच्यते । इदं तु निरवयवत्वात्समतां गतमिति न कैश्चिदवयवैः स्फुटत्यतोऽजात्यकार्पण्यम् । समन्ततः समन्ताद्यथा न जायते किंचिदल्पमपि न स्फुटति रज्जुसर्पवदविद्याकृतदृष्ट्या जाय-

मरणशील और असत् है" "विकार वाणीसे आरम्भ होनेवाला नाममात्र है" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार उपर्युक्त जातब्रह्म तो कृपणताका ही आश्रय है । उससे विपरीत बाहर-भीतर वर्तमान अजन्मा भूमासंज्ञक ब्रह्म अकार्पण्यरूप है, जिसे प्राप्त होनेपर अविद्याकृत सम्पूर्ण कृपणताकी निवृत्ति हो जाती है; उस कृपणभावसे रहित ब्रह्मका मैं वर्णन करूँगा—यह इसका तात्पर्य है ।

वह अजाति अर्थात् जिसकी जाति न हो और समताको प्राप्त अर्थात् सबकी समानताको प्राप्त है। ऐसा क्यों है ? क्योंकि उसमें अवयवोंकी विषमताका अभाव है। जो वस्तु सावयव होती है वह अवयवोंकी विषमताको प्राप्त होनेके कारण 'उत्पन्न होती है' ऐसे कही जाती है । किन्तु यह ब्रह्म तो निरवयव होनेके कारण समताको प्राप्त है, इसलिये किन्हीं भी अवयवोंके रूपमें प्रस्फुटित नहीं होता । अतः यह सब ओरसे अजाति अर्थात् अकार्पण्यरूप है । जिस प्रकार कि कुछ भी उत्पन्न नहीं होता अर्थात् रज्जु-सर्पके समान अविद्यकदृष्टिसे उत्पन्न होता हुआ भी जिस प्रकार

मानं येन प्रकारेण न जायते सर्वतोऽजमेव ब्रह्म भवति तथा तं प्रकारं शृण्वित्यर्थः ॥ २ ॥

उत्पन्न नहीं होता—सब ओर अजन्मा ब्रह्म ही रहता है उस प्रकारको श्रवण करो—यह इसका अभिप्राय है ॥ २ ॥

जीवकी उत्पत्तिके विषयमें दृष्टान्त

अजाति ब्रह्माकार्पण्यं वक्ष्यामीति प्रतिज्ञातम् । तत्सिद्ध्यर्थं हेतुं दृष्टान्तं च वक्ष्यामीत्याह—

मैं अजन्मा ब्रह्मका, जो कृपणभावसे रहित है, वर्णन करता हूँ—ऐसी प्रतिज्ञा की है । उसकी सिद्धिके लिये हेतु और दृष्टान्त भी बतलाता हूँ—इस अभिप्रायसे कहते हैं—

आत्मा ह्याकाशवज्जीवैर्घटाकाशैरिवोदितः ।
घटादिवच्च संघातैर्जातावेतन्निदर्शनम् ॥ ३ ॥

आत्मा आकाशके समान है; वह घटाकाशोंके समान जीवरूपसे उत्पन्न हुआ है । तथा [मृत्तिकासे] घटादिके समान देहसंघातरूपसे भी उत्पन्न हुआ कहा जाता है । आत्माकी उत्पत्तिके विषयमें यही दृष्टान्त है ॥ ३ ॥

आत्मा परो हि यस्मादाकाशवत्सूक्ष्मो निरवयवः सर्वगत आकाशवदुक्तो जीवैः क्षेत्रज्ञैर्घटाकाशैरिव घटाकाशतुल्य उदित उक्तः स एवाकाशसमः पर आत्मा ।

क्योंकि परमात्मा ही आकाशवत् अर्थात् आकाशके समान सूक्ष्म निरवयव और सर्वगत कहा गया है और वही घटाकाशसदृश क्षेत्रज्ञ जीवोंके रूपमें उत्पन्न हुआ कहा गया है, इसलिये वह परमात्मा ही आकाशके समान है ।

अथ वा घटाकाशैर्यथाकाश उदित उत्पन्नस्तथा परो जीवात्म-

अथवा यों समझो कि जिस प्रकार घटाकाशोंके रूपमें आकाश उत्पन्न हुआ है उसी प्रकार परमात्मा

भिरुत्पन्नः । जीवात्मनां परस्मादात्मन उत्पत्तिर्या श्रूयते वेदान्तेषु सा महाकाशाद्घटाकाशोत्पत्तिसमा न परमार्थत इत्यभिप्रायः ।

तस्मादेवाकाशाद्घटादयः संघाता यथोत्पद्यन्त एवमाकाशस्थानीयात्परमात्मनः पृथिव्यादिभूतसंघाता आध्यात्मिकाश्च कार्यकरणलक्षणा रज्जुसर्पवद्विकल्पिता जायन्ते । अत उच्यते घटादिवच्च संघातैरुदित इति । यदा मन्दबुद्धिप्रतिपिपादयिषया श्रुत्यात्मनो जातिरुच्यते जीवादीनां तदा जातावुपगम्यमानायामेतन्निदर्शनं दृष्टान्तो यथोदिताकाशवदित्यादि ॥ ३ ॥

जीवात्माओंके रूपसे उत्पन्न हुआ है । तात्पर्य यह है कि वेदान्तोंमें जो परमात्मासे जीवात्माओंकी उत्पत्ति सुनी जाती है वह महाकाशसे घटाकाशोंकी उत्पत्तिके समान है, परमार्थतः नहीं ।

उसी आकाशसे जिस प्रकार घट आदि संघात उत्पन्न होते हैं, उसी प्रकार आकाशस्थानीय परमात्मासे रज्जुमें सर्पके समान विकल्पित हुए पृथिवी आदि भूतसंघात और शरीर तथा इन्द्रियरूप आध्यात्मिकभाव उत्पन्न होते हैं । इसीसे कहा जाता है—घटादिके समान देहादिसंघातरूपसे भी उदित हुआ है । जिस समय मन्दबुद्धि पुरुषोंके प्रति प्रतिपादन करनेकी इच्छासे श्रुतिने आत्मासे जीवादिकी उत्पत्तिका वर्णन किया है उस समय उनकी उत्पत्ति माननेमें यह उपर्युक्त आकाशादिके समान ही निदर्शन—दृष्टान्त है ॥ ३ ॥

जीवके विलीन होनेमें दृष्टान्त

घटादिषु प्रलीनेषु घटाकाशादयो यथा ।
आकाशे संप्रलीयन्ते तद्वज्जीवा इहात्मनि ॥ ४ ॥

घटादिके लीन होनेपर जिस प्रकार घटाकाशादि महाकाशमें लीन हो जाते हैं उसी प्रकार जीव इस आत्मामें विलीन हो जाते हैं ॥ ४ ॥

यथा घटाद्युत्पत्त्या घटाकाशाद्युत्पत्तिः; यथा वा घटादिप्रलये घटाकाशादिप्रलयस्तद्वद्देहादिसंघातोत्पत्त्या जीवोत्पत्तिस्तत्प्रलये च जीवानामिहात्मनि प्रलयो न स्वत इत्यर्थः ॥ ४ ॥

जिस प्रकार घटादिकी उत्पत्तिसे घटाकाशादिकी उत्पत्ति होती है और जिस प्रकार घटादिके नाशसे घटाकाशादिका नाश होता है उसी प्रकार देहादि* संघातकी उत्पत्तिसे जीवकी उत्पत्ति होती है और उनका लय होनेपर जीवोंका इस आत्मामें लय हो जाता है। तात्पर्य यह है कि स्वतः उनका लय नहीं होता ॥ ४ ॥

आत्माकी असङ्गतामें दृष्टान्त

सर्वदेहेष्वात्मैकत्व एकस्मिञ्जननमरणसुखादिमत्यात्मनि सर्वात्मनां तत्सम्बन्धः क्रियाफलसाङ्कर्यं च स्यादिति य आहुर्द्वैतिनस्तान्प्रतीदमुच्यते—

सम्पूर्ण देहोंमें एक ही आत्मा होनेपर तो एक आत्माके जन्म-मरण और सुख-दुःखादिमान् होनेपर सभीको उसका सम्बन्ध होगा तथा कर्म और फलकी संकरता हो जायगी [अर्थात् कर्म किसीका होगा और उसका फल कोई और ही भोगेगा] इस प्रकार जो द्वैतवादी कहते हैं उनके प्रति कहा जाता है—

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते ।
न सर्वे संप्रयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः ॥ ५ ॥

जिस प्रकार एक घटाकाशके धूलि और धुएँ आदिसे युक्त होनेपर समस्त घटाकाश उनसे युक्त नहीं होते उसी प्रकार जीव भी सुखादि धर्मोंसे लिप्त नहीं होते [अर्थात् एक जीवके सुखादिमान् होनेपर सब जीव सुखादिमान् नहीं हो जाते ।] ॥ ५ ॥

---

* यहाँ 'देह' शब्दसे लिङ्ग-देह समझना चाहिये, क्योंकि जीवत्वका नाश लिङ्ग-देहके नाशसे ही हो सकता है, स्थूल देहके नाशसे नहीं ।

यथैकस्मिन्घटाकाशे रजोधूमादिभिर्युते संयुक्ते न सर्वे घटाकाशादयस्तद्रजोधूमादिभिः संयुज्यन्ते तद्वज्जीवाः सुखादिभिः।

जिस प्रकार एक घटाकाशके धूलि और धुएँसे युक्त होनेपर समस्त घटाकाशादि उस धूलि और धुएँसे संयुक्त नहीं होते उसी प्रकार जीव भी सुखादिसे लिप्त नहीं होते ।

नन्वेक एवात्मा ?

पूर्व०—आत्मा तो एक ही है न ?

बाढम्; ननु न श्रुतं त्वयाकाशवत्सर्वसंघातेष्वेकएवात्मेति।

सिद्धान्ती हाँ, क्या तूने यह नहीं सुना कि सम्पूर्ण संघातोंमें आकाशके समान व्याप्त एक ही आत्मा है ?

यद्येक एवात्मा तर्हि सर्वत्र सुखी दुःखी च स्यात् ।

पूर्व०—यदि आत्मा एक ही है तो वह सर्वत्र सुखी-दुःखी होगा ।

आत्मैकत्वे सांख्याक्षेपनिवृत्तिः

न चेदं सांख्यचोद्यं सम्भवति। न हि सांख्य आत्मनः सुखदुःखादिमत्त्वमिच्छति बुद्धिसमवायाभ्युपगमात्सुखदुःखादीनाम् । न चोपलब्धिस्वरूपस्यात्मनो भेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति।

सिद्धान्ती—सांख्यवादीकी यह आपत्ति सम्भव नहीं है । सांख्य आत्माका सुख-दुःखादिमत्त्व स्वीकार नहीं करता, क्योंकि सुख-दुःखादि तो बुद्धिसमवेत माने गये हैं तथा इसके सिवा अनुभवस्वरूप आत्माकी भेद-कल्पनामें कोई प्रमाण भी नहीं है ।

भेदाभावे प्रधानस्य पारार्थ्यानुपपत्तिरिति चेत्, न; प्रधानकृतस्यार्थस्यात्मन्यसमवायात् । यदि हि प्रधानकृतो बन्धो मोक्षो वार्थः पुरुषेषु भेदेन समवैति ततः प्रधानस्य पारार्थ्यमात्मैकत्वे

यदि कहो कि भेद न होनेपर तो प्रधानकी परार्थता भी सम्भव नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि प्रधानद्वारा सम्पादित कार्यका आत्माके साथ सम्बन्ध नहीं है । यदि प्रधानकर्तृक बन्ध या मोक्ष पुरुषोंमें पृथक्-पृथक्रूपसे समवेत होते तो आत्माका एकत्व माननेमें

नोपपद्यत इति युक्ता पुरुषभेदकल्पना । न च सांख्यैर्बन्धो मोक्षो वार्थः पुरुषसमवेतोऽभ्युपगम्यते । निर्विशेषाश्च चेतनमात्रा आत्मानोऽभ्युपगम्यन्ते । अतः पुरुषसत्तामात्रप्रयुक्तमेव प्रधानस्य पारार्थ्यं सिद्धं न तु पुरुषभेदप्रयुक्तमिति । अतः पुरुषभेदकल्पनायां न प्रधानस्य पारार्थ्यं हेतुः ।

प्रधानकी परार्थता सम्भव नहीं हो सकती थी और तब पुरुषोंके भेदकी कल्पना करनी ठीक थी । किन्तु सांख्यवादी तो बन्ध या मोक्षको पुरुषसे सम्बद्ध ही नहीं मानते; वे तो आत्माओंको निर्विशेष और चेतनमात्र ही मानते हैं । अतः प्रधानकी परार्थता तो केवल पुरुषकी सत्तामात्रसे ही सिद्ध है, पुरुषोंके भेदके कारण नहीं । इसलिये पुरुषोंकी भेदकल्पनामें प्रधानकी परार्थता कारण नहीं है ।

न चान्यत्पुरुषभेदकल्पनायां प्रमाणमस्ति सांख्यानाम् । परसत्तामात्रमेव चैतन्निमित्तीकृत्य स्वयं बध्यते मुच्यते च प्रधानम् । परश्चोपलब्धिमात्रसत्तास्वरूपेण प्रधानप्रवृत्तौ हेतुर्न केनचिद्विशेषेणेति केवलमूढतयैव पुरुषभेदकल्पना वेदार्थपरित्यागश्च ।

इसके सिवा सांख्यवादियोंके पास पुरुषोंका भेद माननेमें और कोई प्रमाण नहीं है । पर-(आत्मा) की सत्तामात्रको ही निमित्त बनाकर प्रधान स्वयं बन्ध और मोक्षको प्राप्त होता है और वह पर केवल उपलब्धिमात्र सत्तास्वरूपसे ही प्रधानकी प्रवृत्तिमें हेतु है, किसी विशेषताके कारण नहीं । अतः केवल मूढ़तासे ही पुरुषोंकी भेदकल्पना और वेदार्थका परित्याग किया जाता है ।

वैशेषिकमत-समीक्षा

ये त्वाहुर्वैशेषिकादय इच्छादय आत्मसमवायिन इति; तदप्यसत् । स्मृतिहेतूनां संस्काराणाम-

इसके सिवा वैशेषिकादि मतावलम्बी जो कहते हैं कि इच्छा आदि आत्माके धर्म हैं, सो उनका यह कथन भी ठीक नहीं है, क्योंकि स्मृतिके हेतुभूत संस्कारोंका प्रदेशहीन

प्रदेशवत्त्वात्मन्यसमवायात् । आत्ममनःसंयोगाच्च स्मृत्युत्पत्तेः स्मृतिनियमानुपपत्तिः । युगपद्वा सर्वस्मृत्युत्पत्तिप्रसङ्गः ।

(निरवयव) आत्मासे समवाय-सम्बन्ध नहीं हो सकता । यदि आत्मा और मनके संयोगसे स्मृतिकी उत्पत्ति मानी जाय तो स्मृतिका कोई नियम ही सम्भव नहीं है अथवा एक साथ ही सम्पूर्ण स्मृतियोंकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा ।*

मन आदिभिरात्मसंयोगानुपपत्तिः

न च भिन्नजातीयानां स्पर्शादिहीनानामात्मनां मनआदिभिः संबन्धो युक्तः । न च द्रव्याद्रूपादयो गुणाः कर्मसामान्यविशेषसमवाया वा भिन्नाः सन्ति परेषाम् । यदि

इसके सिवा स्पर्शादिसे रहित भिन्नजातीय आत्माओंका मन आदिके साथ सम्बन्ध मानना ठीक भी नहीं है तथा दूसरोंके मतमें द्रव्यसे रूप आदि उसके गुण एवं कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय भिन्न भी नहीं हैं ।† यदि दूसरोंके मतमें

* उस समय ऐसा नियम नहीं हो सकेगा कि वस्तुके प्रत्यक्ष अनुभवके समय उसकी स्मृति न हो, क्योंकि स्मृतिका असमवायी कारण आत्मा और मनका संयोग तो अनुभवकालमें भी है ही । इसके सिवा असमवायी कारणकी तुल्यताके कारण एक साथ समस्त स्मृतियोंकी उत्पत्तिका प्रसङ्ग भी उपस्थित हो जायगा । यदि कहो कि स्मृतिके संस्कारोंका उद्बोध न होनेके कारण एक साथ स्मृति नहीं हो सकती तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि संस्कार और उनका उद्बोध ये दोनों आत्मामें ही रहते हैं—इस विषयमें उनका एक मत नहीं है । इसलिये इनकी गणना स्मृतिकी सामग्रीके अन्तर्गत नहीं हो सकती ।

† वैशेषिक मतमें साधारणतया द्रव्य, गुण, कर्म, सामान्य, विशेष और समवाय-ये छः प्रकारके भाव पदार्थ हैं । उनमें द्रव्य उसे कहते हैं जिसके साथ गुण एवं क्रिया आदि समवाय-सम्बन्धसे रहें । गुण—रूप, रस एवं गन्ध आदिको कहते हैं । कर्म—गमनादि क्रिया । सामान्य—जाति; मनुष्यत्व, पशुत्वादि । विशेष—परमाणुओंका परस्पर भेद करनेवाला धर्म, जिसके कारण विभिन्न प्रकारके परमाणुओंसे विभिन्न प्रकारका कार्य उत्पन्न होता है । समवाय—एक प्रकारका सम्बन्ध जैसा कि गुण एवं क्रिया आदिका द्रव्यके साथ है ।

ह्यत्यन्तभिन्ना एव द्रव्यात्स्युरिच्छादयश्चात्मनस्तथा च सति द्रव्येण तेषां सम्बन्धानुपपत्तिः ।

वे द्रव्यसे तथा इच्छा आदि आत्मासे अत्यन्त भिन्न ही हों तो ऐसा होनेपर तो द्रव्यके साथ उनका सम्बन्ध ही सिद्ध नहीं हो सकता ।

अयुतसिद्धानां समवायलक्षणः संबन्धो न विरुध्यत इति चेत्, न । इच्छादिभ्योऽनित्येभ्य आत्मनो नित्यस्य पूर्वसिद्धत्वान्नायुतसिद्धत्वोपपत्तिः । आत्मनायुतसिद्धत्वे चेच्छादीनामात्मगतमहत्त्ववन्नित्यत्वप्रसङ्गः । स चानिष्टः । आत्मनोऽनिर्मोक्षप्रसङ्गात् ।

यदि कहो कि अयुतसिद्ध[1]पदार्थोंका समवाय-सम्बन्ध माननेमें विरोध नहीं है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं;* क्योंकि इच्छा आदि अनित्य धर्मोंसे नित्य आत्मा पूर्वसिद्ध होनेके कारण उनका परस्पर अयुतसिद्धत्व सम्भव नहीं है । यदि इच्छा आदि आत्माके साथ अयुतसिद्ध हों तो आत्मगत महत्त्वके समान उनकी भी नित्यताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा । और यह बात इष्ट नहीं है, क्योंकि इससे आत्माके अनिर्मोक्षका प्रसङ्ग आ जाता है ।

समवायस्य च द्रव्यादन्यत्वे सति द्रव्येण सम्बन्धान्तरं वाच्यं यथा द्रव्यगुणयोः । समवायो नित्यसम्बन्ध एवेति न वाच्यमिति चेत्तथा च समवायसम्बन्धवतां

यदि समवाय द्रव्यसे भिन्न है तो द्रव्यके साथ उसका कोई अन्य सम्बन्ध बतलाना चाहिये, जैसा कि द्रव्य और गुणका है । और यदि कोई कहे कि समवाय तो नित्यसम्बन्ध ही है, इसलिये उसके साथ कोई

१. जो पदार्थ परस्पर मिलकर सिद्ध हुए हों ।

* अयुतसिद्धत्वमें चार पक्ष हैं—१ अभिन्न कालमें होना, २ अभिन्न देशमें होना, ३ अभिन्नस्वभाववाले होना, ४ संयोग और वियोगकी अयोग्यतावाले होना । उनमेंसे प्रथम पक्षका खण्डन करते हैं—

नित्यसम्बन्धप्रसङ्गात्पृथक्त्वानुपपत्तिः । अत्यन्तपृथक्त्वे च द्रव्यादीनां स्पर्शवदस्पर्शद्रव्ययोरिव षष्ठ्यर्थानुपपत्तिः ।

सम्बन्ध बतलानेकी आवश्यकता नहीं है तो ऐसी अवस्थामें समवाय-सम्बन्धवालोंका नित्यसम्बन्ध होनेके कारण उनकी पृथक्ता सम्भव नहीं है । और यदि द्रव्यादिको परस्पर अत्यन्त भिन्न माना जाय तो जिस प्रकार स्पर्शवान् और स्पर्शहीन द्रव्योंमें परस्पर सम्बन्ध होना सम्भव नहीं है उसी प्रकार उसका सम्बन्ध ही नहीं हो सकता ।

आत्मनो व्यावहारिकबन्धमोक्षाद्युपपादनम्

इच्छाद्युपजनापायवद्गुणवत्त्वे चात्मनोऽनित्यत्वप्रसङ्गः । देहफलादिवत्सावयवत्वं विक्रियावत्त्वं च देहादिवदेवेति दोषावपरिहार्यौ । यथा त्वाकाशस्याविद्याध्यारोपितरजोधूममलवत्त्वादिदोषवत्त्वं तथात्मनोऽविद्याध्यारोपितबुद्ध्याद्युपाधिकृतसुखदुःखादिदोषवत्त्वे बन्धमोक्षादयो व्यावहारिका न विरुध्यन्ते । सर्ववादिभिरविद्याकृतव्यवहाराभ्युपगमात्परमार्थानभ्युपगमाच्च । तस्मादात्मभेद-

यदि आत्माको इच्छादि उत्पत्ति-विनाशशील गुणोंवाला माना जाय तो उसकी अनित्यताका प्रसङ्ग उपस्थित हो जायगा । तथा उसके देह और फलादिके समान सावयवत्व एवं देहादिके समान ही विक्रियावत्त्व —ये दो दोष भी अपरिहार्य ही होंगे । जिस प्रकार कि आकाशका अविद्याध्यारोपित घटादि उपाधियोंके कारण ही धूलि, धूम और मलसे युक्त होना है उसी प्रकार आत्माका भी अविद्यासे आरोपित बुद्धि आदि उपाधिके कारण सुख-दुःखादि दोषसे युक्त होनेपर, व्यावहारिक बन्ध, मोक्ष आदि होनेमें कोई विरोध नहीं है; क्योंकि सभी वादियोंने व्यवहारको अविद्याकृत माना है, परमार्थरूप नहीं माना । अतः

परिकल्पना वृथैव तार्किकैः क्रियत इति ॥ ५ ॥

तार्किकलोग जीवोंके भेदकी कल्पना वृथा ही करते हैं ॥ ५ ॥

व्यावहारिक जीवभेद

कथं पुनरात्मभेदनिमित्त इव व्यवहार एकस्मिन्नात्मन्यविद्याकृत उपपद्यत इति, उच्यते—

किन्तु एक ही आत्मामें, आत्माओंके भेदके कारण होनेवालेके समान, अविद्याकृत व्यवहार किस प्रकार सम्भव है ? इसपर कहते हैं—

रूपकार्यसमाख्याश्च भिद्यन्ते तत्र तत्र वै ।
आकाशस्य न भेदोऽस्ति तद्वज्जीवेषु निर्णयः ॥ ६ ॥

[घटादि उपाधियोंके कारण प्रतीत होनेवाले] भिन्न-भिन्न आकाशोंके रूप, कार्य और नामोंमें तो भेद है, परन्तु आकाशमें तो कोई भेद नहीं है । उसी प्रकार जीवोंके विषयमें भी निश्चय समझना चाहिये ॥ ६ ॥

यथेहाकाश एकस्मिन्घटकरकापवरकाद्याकाशानामल्पत्वमहत्त्वादिरूपाणि भिद्यन्ते तथा कार्यमुदकाहरणधारणशयनादिसमाख्याश्च घटाकाशकरकाकाश इत्याद्यास्तत्कृताश्च भिन्ना दृश्यन्ते। तत्र तत्र वै व्यवहारविषय इत्यर्थः। सर्वोऽयमाकाशे रूपादिभेदकृतो व्यवहारो न परमार्थ एव। परमार्थतस्त्वाकाशस्य न भेदोऽस्ति। न चाकाशभेदनिमित्तो व्यवहारोऽस्त्यन्तरेण

जिस प्रकार इस एक ही आकाशमें घट, कमण्डलु और मठादि आकाशोंके अल्पत्व-महत्त्वादि रूपोंमें भेद है, तथा जहाँ-तहाँ व्यवहारमें उनके किये हुए जल लाना, जल धारण करना और शयन करना आदि कार्य एवं घटाकाश, करकाकाश आदि नाम भिन्न-भिन्न देखे जाते हैं। किन्तु आकाशमें रूपादिके कारण होनेवाला यह सब व्यवहार पारमार्थिक ही नहीं है। परमार्थतः तो आकाशका कोई भेद नहीं है। अन्य उपाधिकृत निमित्तके सिवा वस्तुतः आकाशके भेदके कारण होनेवाला

परोपाधिकृतं द्वारम् । यथैतत्तद्वद्देहोपाधिभेदकृतेषु जीवेषु घटाकाशस्थानीयेष्वात्मसु निरूपणात्कृतो बुद्धिमद्भिर्निर्णयो निश्चय इत्यर्थः ॥ ६ ॥

कोई व्यवहार है ही नहीं । जैसा कि यह [आकाशका भेद] है उसी प्रकार देहादि उपाधिके भेदसे किये हुए घटाकाशस्थानीय जीवोंमें भेदका निरूपण किया जानेके कारण बुद्धिमानोंने [उस भेदका अपारमार्थिकत्व] निश्चय किया है—यह इसका तात्पर्य है ॥ ६ ॥

जीव आत्माका विकार या अवयव नहीं है

ननु तत्र परमार्थकृत एव घटाकाशादिषु रूपकार्यादिभेदव्यवहार इति ? नैतदस्ति, यस्मात्—

किन्तु घटाकाशादिमें जो रूप और कार्य आदिका भेद-व्यवहार है वह तो वास्तविक ही है ? [ऐसी शङ्का होनेपर कहते हैं—] यह बात नहीं है, क्योंकि—

नाकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा ।
नैवात्मनः सदा जीवो विकारावयवौ तथा ॥ ७ ॥

जिस प्रकार घटाकाश आकाशका विकार या अवयव नहीं है उसी प्रकार जीव भी आत्माका विकार या अवयव कभी नहीं है ॥ ७ ॥

परमार्थाकाशस्य घटाकाशो न विकारः, यथा सुवर्णस्य रुचकादिर्यथा वापां फेनबुद्बुदहिमादिः, नाप्यवयवो यथा वृक्षस्य शाखादिः । न तथा आकाशस्य घटाकाशो विकारावयवौ यथा तथा नैवात्मनः

परमार्थाकाशका घटाकाश न तो विकार है, जैसे कि सुवर्णके रुचकादि आभूषण तथा जलके फेन, बुद्बुद और हिम आदि हैं, और न जैसे शाखादि वृक्षके अवयव हैं उस प्रकार उसका अवयव ही है । इसी तरह, जैसे कि महाकाशका घटाकाश विकार या अवयव नहीं है उसी

परस्य परमार्थसतो महाकाशस्थानीयस्य घटाकाशस्थानीयो जीवः सदा सर्वदा यथोक्तदृष्टान्तवन्न विकारो नाप्यवयवः । अत आत्मभेदकृतो व्यवहारो मृषैवेत्यर्थः ॥ ७ ॥

प्रकार, अर्थात् उपर्युक्त दृष्टान्तानुसार ही, महाकाशस्थानीय परमार्थ सत् परमात्माका घटाकाशस्थानीय जीव, किसी अवस्थामें विकार या अवयव नहीं है । अतः तात्पर्य यह है कि आत्मभेदजनित व्यवहार मिथ्या ही है ॥ ७ ॥

आत्माकी मलिनता अज्ञानियोंकी दृष्टिमें है

यस्माद्यथा घटाकाशादिभेदबुद्धिनिबन्धनो रूपकार्यादिभेदव्यवहारस्तथा देहोपाधिजीवभेदकृतो जन्ममरणादिव्यवहारः । तस्मात्तत्कृतमेव क्लेशकर्मफलमलवत्त्वमात्मनो न परमार्थत इत्येतमर्थं दृष्टान्तेन प्रतिपिपादयिषन्नाह—

क्योंकि जिस प्रकार घटाकाशादि भेदबुद्धिके कारण उसका रूप एवं कार्य आदि भेदव्यवहार है उसी प्रकार देहोपाधिक जीवभेदके कारण ही जन्म-मरण आदि व्यवहार है; इसलिये उसका किया हुआ ही आत्माका क्लेश, कर्मफल और मलसे युक्त होना है, परमार्थतः नहीं—इसी बातको दृष्टान्तसे प्रतिपादन करनेकी इच्छासे कहते हैं—

यथा भवति बालानां गगनं मलिनं मलैः ।
तथा भवत्यबुद्धानामात्मापि मलिनो मलैः ॥ ८ ॥

जिस प्रकार मूर्ख लोगोंको [धूलि आदि] मलके कारण आकाश मलिन जान पड़ता है उसी प्रकार अविवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें आत्मा भी [राग-द्वेषादि] मलसे मलिन हो जाता है ॥ ८ ॥

यथा भवति लोके बालानामविवेकिनां गगनमाकाशं घनरजोधूमादिमलैर्मलिनं मलवन्न

लोकमें जिस प्रकार बाल अर्थात् अविवेकी पुरुषोंकी दृष्टिमें आकाश मेघ, धूलि और धुआँ आदि मलोंके

गगनं मरुत्वद्याथात्म्यविवेकिनाम्, तथा भवत्यात्मा परोऽपि यो विज्ञाता प्रत्यक्क्लेशकर्मफलमलैर्मलिनोऽबुद्धानां प्रत्यगात्मविवेकरहितानां नात्मविवेकवताम् ।

नह्यूषरदेशस्तृड्वत्प्राण्यध्यारोपितोदकफेनतरङ्गादिमांस्तथा नात्माबुधारोपितक्लेशादिमलैर्मलिनो भवतीत्यर्थः ॥ ८ ॥

कारण मलिन—मलयुक्त हो जाता है, किन्तु आकाशके यथार्थ स्वरूपको जाननेवालोंकी दृष्टिमें ऐसा नहीं होता; उसी प्रकार अबुद्ध-प्रत्यगात्माके विवेकसे रहित पुरुषोंकी दृष्टिमें, जो प्रत्यक् और सबका साक्षी है वह परमात्मा भी क्लेश, कर्म और फलरूप मलोंसे मलिन हो जाता है; किन्तु आत्मज्ञानियोंकी दृष्टिमें ऐसा नहीं होता ।

तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार ऊसरदेश तृषित प्राणीके आरोपित किये हुए जलके फेन और तरङ्गादिसे युक्त नहीं होता उसी प्रकार आत्मा भी अज्ञानियोंद्वारा आरोपित क्लेशादि मलोंसे मलिन नहीं होता ॥ ८ ॥

पुनरप्युक्तमेवार्थं प्रपञ्चयति—

फिर भी पूर्वोक्त अर्थका ही विस्तार कहते हैं—

मरणे सम्भवे चैव गत्यागमनयोरपि ।
स्थितौ सर्वशरीरेषु आकाशेनाविलक्षणः ॥ ९ ॥

यह आत्मा सम्पूर्ण शरीरोंमें मृत्यु, जन्म, लोकान्तरमें गमनागमन और स्थित रहनेमें भी आकाशसे अविलक्षण है । [अर्थात् इन सब व्यवहारोंमें रहते हुए भी यह आकाशके समान निर्विकार और विभु है] ॥ ९ ॥

घटाकाशजन्मनाशगमनागमनस्थितिवत्सर्वशरीरेष्वात्मनो

घटाकाशके जन्म, नाश, गमन, आगमन और स्थितिके समान सम्पूर्ण शरीरोंमें आत्माके जन्म-मरणादिको

जन्ममरणादिराकाशेनाविलक्षणः प्रत्येतव्य इत्यर्थः ॥ ९ ॥

आकाशसे अविलक्षण (भेदरहित) ही अनुभव करना चाहिये—यह इसका अभिप्राय है ॥ ९ ॥

संघाताः स्वप्नवत्सर्वे आत्ममायाविसर्जिताः ।
आधिक्ये सर्वसाम्ये वा नोपपत्तिर्हि विद्यते ॥१०॥

देहादि समस्त संघात स्वप्नके समान आत्माकी मायासे ही रचे हुए हैं । उनके अपेक्षाकृत उत्कर्ष अथवा सबकी समानतामें भी कोई हेतु नहीं है ॥ १० ॥

घटादिस्थानीयास्तु देहादिसंघाताःस्वप्नदृश्यदेहादिवन्मायाविकृतदेहादिवच्चात्ममायाविसर्जिताः; आत्मनो मायाविद्या तया प्रत्युपस्थापिता न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः । यद्याधिक्यमधिकभावस्तिर्यग्देहाद्यपेक्षया देवादिकार्यकरणसंघातानां यदि वा सर्वेषां समतैव नैषामुपपत्तिः सम्भवः सद्भावप्रतिपादको हेतुर्विद्यते नास्ति, हि यस्मात्तस्मादविद्याकृत एव न परमार्थतः सन्तीत्यर्थः ॥ १० ॥

घटादिस्थानीय देहादिसंघात स्वप्नमें दीखनेवाले देहादिके समान तथा मायावीके रचे हुए देहादिके सदृश आत्माकी मायासे ही रचे हुए हैं [तात्पर्य यह है कि आत्माकी माया जो अविद्या है उसके प्रस्तुत किये हुए हैं, परमार्थतः नहीं हैं । यदि तिर्यगादि देहोंकी अपेक्षा देवता आदिके शरीर और इन्द्रियोंकी अधिकता—उत्कृष्टता है अथवा यदि [तत्त्वदृष्टिसे] सबकी समानता ही है तो भी, क्योंकि उनके सद्भावका प्रतिपादक कोई हेतु नहीं है, इसलिये वे अविद्याकृत ही हैं, परमार्थतः नहीं हैं—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ १० ॥

उत्पत्त्यादिवर्जितस्याद्वयस्यात्म-

उत्पत्ति आदिसे रहित अद्वितीय आत्मतत्त्वका श्रुतिप्रमाणकत्व प्रदर्शित

तत्त्वस्य श्रुतिप्रमाणकत्वप्रदर्शनार्थं वाक्यान्युपन्यस्यन्ते—

करनेके लिये [उपनिषद्के] वाक्यों-का उल्लेख किया जाता है—

रसादयो हि ये कोशा व्याख्यातास्तैत्तिरीयके ।
तेषामात्मा परो जीवः खं यथा संप्रकाशितः ॥ ११ ॥

तैत्तिरीय श्रुतिमें जिन रसादि [अन्नमयादि] कोशोंकी व्याख्या की गयी है, आकाशवत् परमात्मा ही उनके आत्मा जीवरूपसे प्रकाशित किया गया है ॥ ११ ॥

रसादयोऽन्नरसमयः प्राणमय इत्येवमादयः कोशा इव कोशा अस्यादेरिवोत्तरोत्तरस्यापेक्षया बहिर्भावात्पूर्वपूर्वस्य व्याख्याता विस्पष्टमाख्यातास्तैत्तिरीयके तैत्तिरीयकशाखोपनिषद्वल्ल्यां तेषां कोशानामात्मा येनात्मना पञ्चापि कोशा आत्मवन्तोऽन्तरतमेन, स हि सर्वेषां जीवननिमित्तत्वाज्जीवः ।

कोऽसावित्याह—पर एवात्मा यः पूर्वम् "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २ । १) इति प्रकृतः । यस्मादात्मनः स्वप्नमायादिवदाकाशादिक्रमेण रसादयः कोश-

तैत्तिरीयकमें अर्थात् तैत्तिरीयक-शाखोपनिषद्वल्लीमें जिन रसादि—अन्नरसमय एवं प्राणमय इत्यादि कोशोंकी व्याख्या—स्पष्ट विवेचना की गयी है और जो उत्तरोत्तरकी अपेक्षा पूर्व-पूर्व बहिःस्थित होनेके कारण खड्गके कोशके समान कोश कहे गये हैं उन कोशोंका आत्मा, जिस अन्तरतम आत्माके कारण पाँचों कोश आत्मवान् हैं, वही सबके जीवनका निमित्त होनेके कारण 'जीव' कहलाता है ।

वह कौन है ? इसपर कहते हैं—वह परमात्मा ही है, जिसका पहले "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" इत्यादि वाक्योंमें प्रसङ्ग है और जिस आत्मासे स्वप्न और माया आदिके समान आकाशादि क्रमसे कोशरूप संघात आत्माकी मायासे ही रचे

लक्षणाः संघाता आत्ममायाविसर्जिता इत्युक्तम् । स आत्मा स्वाभिर्यथा खं तथेति संप्रकाशितः "आत्मा ह्याकाशवत्" (अद्वैत० ३) इत्यादि श्लोकैः । न तार्किकपरिकल्पितात्मवत्पुरुषबुद्धिप्रमाणगम्य इत्यभिप्रायः ॥ ११ ॥

गये हैं—ऐसा कहा गया है । उस आत्माको हमने "आत्मा ह्याकाशवत्" इत्यादि श्लोकोंमें, जैसा आकाश है उसीके समान प्रकाशित किया है । तात्पर्य यह है कि वह तार्किकोंके कल्पना किये हुए आत्माके समान मनुष्यकी बुद्धिसे प्रमाणित होनेवाला नहीं है ॥ ११ ॥

द्वयोर्द्वयोर्मधुज्ञाने परं ब्रह्म प्रकाशितम् ।
पृथिव्यामुदरे चैव यथाकाशः प्रकाशितः ॥ १२ ॥

लोकमें जिस प्रकार पृथिवी और उदरमें एक ही आकाश प्रकाशित हो रहा है, उसी प्रकार [बृहदारण्योक्त] मधु ब्राह्मणमें [अध्यात्म और अधिदैवत—इन] दोनों स्थानोंमें एक ही ब्रह्म निरूपित किया गया है ॥ १२ ॥

किं चाधिदैवमध्यात्मं च तेजोमयोऽमृतमयः पुरुषः पृथिव्याद्यन्तर्गतो यो विज्ञाता पर एवात्मा ब्रह्म सर्वमिति द्वयोर्द्वयोराद्वैतक्षयात्परं ब्रह्म प्रकाशितम् । क्वेत्याह—ब्रह्मविद्याख्यं मध्वमृतममृतत्वं मोदनहेतुत्वाद्विज्ञायते यस्मिन्निति मधुज्ञानं मधुब्राह्मणं तस्मिन्नि-

तथा अधिदैव और अध्यात्मभेदसे जो तेजोमय और अमृतमय पुरुष पृथिवीके भीतर है और जो विज्ञाता परमात्मा ब्रह्म ही सब कुछ है—इस प्रकार द्वैतका क्षय होनेपर्यन्त दोनों स्थानोंमें परब्रह्मका ही प्रतिपादन किया गया है । कहाँ किया गया है ? सो बतलाते हैं—जिसमें ब्रह्मविद्यासंज्ञक मधु यानी अमृतका ज्ञान है—आनन्दका हेतु होनेके कारण उसका अमृतत्व है—उस मधुज्ञान यानी मधुब्राह्मणमें [उसका प्रतिपादन किया गया है] । किसके समान प्रतिपादन किया है ?

त्यर्थः। किमिवेत्याह—पृथिव्यामुदरे चैव यथैक आकाशोऽनुमानेन प्रकाशितो लोके तद्वदित्यर्थः ॥ १२ ॥

इसपर कहते हैं कि जिस प्रकार लोकमें अनुमानसे पृथिवी और उदरमें एक ही आकाश प्रकाशित होता है, उसी तरह [इनकी एकता समझो] यह इसका अभिप्राय है ॥ १२ ॥

आत्मैकत्व ही समीचीन है

जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते।
नानात्वं निन्द्यते यच्च तदेवं हि समञ्जसम्॥ १३॥

क्योंकि जीव और आत्माके अभेदरूपसे एकत्वकी प्रशंसा की गयी है और उनके नानात्वकी निन्दा की गयी है। इसलिये वही [यानी उनकी एकता ही] ठीक है ॥ १३ ॥

यद्युक्तितः श्रुतितश्च निर्धारितं जीवस्य परस्य चात्मनो जीवात्मनोरनन्यत्वमभेदेन प्रशस्यते स्तूयते शास्त्रेण व्यासादिभिश्च। यच्च सर्वप्राणिसाधारणं स्वाभाविकं शास्त्रबहिष्कृतैः कुतार्किकैर्विरचितं नानात्वदर्शनं निन्द्यते "न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४। ३। २३) "द्वितीयाद्वै भयं भवति" (बृ० उ० १। ४। २) "उदरमन्तरं कुरुते, अथ तस्य भयं भवति" (तै० उ० २। ७। १) "इदं सर्वं यदयमात्मा" (बृ० उ० २। ४। ६, ४। ५, ७) "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति य इह

क्योंकि युक्ति और श्रुतिसे निश्चय किये हुए जीव और परमात्माके एकत्वकी शास्त्र और व्यासादि मुनियोंने समानरूपसे प्रशंसा यानी स्तुति की है और शास्त्रबाह्य कुतार्किकोंद्वारा कल्पित सर्वप्राणिसाधारण स्वाभाविक नानात्वदर्शनकी "उससे अतिरिक्त दूसरा कोई नहीं है" "दूसरेसे निश्चय भय होता है" "जो थोड़ा-सा भी भेद करता है, उसे भय प्राप्त होता है" "यह जो कुछ है सब आत्मा है" "जो यहाँ नानावत् देखता है वह मृत्युसे मृत्युको प्राप्त होता है" इत्यादि वाक्यों तथा अन्य ब्रह्मवेत्ताओं-

नानेव पश्यति" (क० उ० २ । १ । १०) इत्यादिवाक्यैश्चान्यैश्च ब्रह्मविद्भिः । यच्चैतत्तदेवं हि समञ्जसमृज्ववबोधं न्याय्यमित्यर्थः । यास्तु तार्किकपरिकल्पिताः कुदृष्टयस्ता अनृज्व्यो निरूप्यमाणा न घटनां प्राञ्चन्तीत्यभिप्रायः ॥ १३ ॥

द्वारा निन्दा की गयी है । यह जो [बतलाया गया] है वह इसी प्रकार समञ्जस–सरल बोधगम्य अर्थात् न्याययुक्त है । तथा तार्किकोंकी कल्पना की हुई जो कुदृष्टियाँ हैं वे सरल नहीं हैं; अभिप्राय यह है कि वे निरूपण की जानेपर प्रसंगके अनुरूप नहीं ठहरतीं ॥ १३ ॥

श्रुत्युक्त जीव-ब्रह्मभेद गौण है

जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेः प्रकीर्तितम् ।
भविष्यद्वृत्त्या गौणं तन्मुख्यत्वं हि न युज्यते ॥ १४ ॥

पहले (उपनिषदोंके कर्मकाण्डमें) उत्पत्तिबोधक वाक्योंद्वारा जो जीव और परमात्माका पृथक्त्व बतलाया है वह भविष्यद्-वृत्तिसे गौण है, उसे मुख्य अर्थ मानना ठीक नहीं है ॥ १४ ॥

ननु श्रुत्यापि जीवपरमात्मनोः पृथक्त्वं यत्प्रागुत्पत्तेरुत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः पूर्वं प्रकीर्तितं कर्मकाण्डे अनेकशः कामभेदत इदंकामोऽदःकाम इति; परश्च "स दाधार पृथिवीं द्याम्" (ऋ० सं १० । १२१ । १)इत्यादिमन्त्रवर्णैः;तत्र कथं कर्मज्ञानकाण्ड-

शंका—जब श्रुतिने भी पहले—कर्मकाण्डमें उत्पत्ति-प्रतिपादक उपनिषद्-वाक्योंद्वारा 'इदंकामः' 'अदःकामः' आदि प्रकारसे [कर्मकाण्डमें भिन्न-भिन्न कामनाओंवाले कर्माधिकारी पुरुषके समान] अनेकों कामनाओंके भेदसे जीव और परमात्माका भेद प्रतिपादन किया है तथा परमात्माका उसने पृथिवी और द्युलोकको धारण किया" इत्यादि मन्त्रवर्णोंसे पृथक् ही निर्देश किया है, तब इस प्रकार कर्मकाण्ड और ज्ञानकाण्डके

वाक्यविरोधे ज्ञानकाण्डवाक्यार्थस्यैवैकत्वस्य साामञ्जस्यमवधार्यत इति ?

अत्रोच्यते—"यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते" (तै० उ० ३। १)"यथाग्नेः क्षुद्रा विस्फुलिङ्गाः" (बृ०उ०२ । १ । २०)"तस्माद्वा एतस्मादात्मन आकाशः संभूतः" (तै० उ० २। १। २)"यदैक्षत" (छा० उ० ६ । २ । ३) "तत्तेजोऽसृजत" (छा० उ० ६। २ । ३) इत्याद्युत्पत्त्यर्थोपनिषद्वाक्येभ्यः प्राक्पृथक्त्वं कर्मकाण्डे प्रकीर्तितं यत्तन्न परमार्थम् । किं तर्हि ? गौणं महाकाशघटाकाशादिभेदवत् । यथौदनं पचतीति भविष्यद्वृत्त्या यद्वत् । न हि भेदवाक्यानां कदाचिदपि मुख्यभेदार्थत्वमुपपद्यते । स्वाभाविकाविद्यावत्प्राणिभेददृष्ट्यनुवादित्वादात्मभेदवाक्यानाम् ।

इह चोपनिषत्सूत्पत्तिप्रलयादिवाक्यैर्जीवपरमात्मनोरेकत्वमेव

वाक्योंमें विरोध उपस्थित होनेपर केवल ज्ञानकाण्डोक्त एकत्वका ही सामञ्जस्य (यथार्थत्व) किस प्रकार निश्चय किया जा सकता है ?

समाधान—इस विषयमें हमारा कथन है कि "जहाँसे ये सब भूत उत्पन्न होते हैं" "जिस प्रकार अग्निसे नन्ही-नन्ही चिनगारियाँ [निकलती हैं]" "उसी इस आत्मासे आकाश उत्पन्न हुआ" "उसने ईक्षण किया" "उसने तेजको रचा" इत्यादि उत्पत्त्यर्थक उपनिषद्वाक्योंसे पहले कर्मकाण्डमें जो पृथक्त्वका प्रतिपादन किया गया है वह परमार्थतः नहीं है । तो कैसा है ? वह महाकाश और घटाकाशादिके भेदके समान गौण है और जिस प्रकार भविष्यद्दृष्टिसे 'भात पकाता है'* ऐसा कहा जाता है उसीके समान है । आत्म-भेदवाक्योंका मुख्य भेदप्रतिपादकत्व सभी सम्भव नहीं है, क्योंकि भेदवाक्य तो अज्ञानी पुरुषोंकी स्वाभाविकी भेददृष्टिका ही अनुवाद करनेवाले हैं ।

यहाँ उपनिषदोंमें तो "तू वह है" "यह अन्य है और मैं अन्य

* 'भात' उबले हुए चावलोंको कहते हैं, जो चावल पकाये जाते हैं उनकी संज्ञा 'भात' नहीं है । अतः इस वाक्यमें जो उनके लिये 'भात' शब्दका प्रयोग हुआ है वह भविष्यद्दृष्टिसे है ।

प्रतिपिपादयिषितम् "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८–१६) "अन्योऽसावन्योऽहमस्मीति न स वेद" (बृ० उ० १ । ४ । १०) इत्यादिभिः । अत उपनिषत्सु एकत्वं श्रुत्या प्रतिपिपादयिषितं भविष्यतीति भाविनीमेकवृत्तिमाश्रित्य लोके भेददृष्टयनुवादो गौण एवेत्यभिप्रायः ।

हूँ [ऐसा जो जानता है] वह नहीं जानता" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार उत्पत्ति-प्रलयादि-बोधक वाक्योंसे भी जीव और परमात्माका एकत्व ही प्रतिपादन करना इष्ट है । अतः उपनिषदोंमें श्रुतिको एकत्व ही प्रतिपादन करना इष्ट होगा—इस भविष्यद्वृत्तिको आश्रय करके लोकमें भेददृष्टिका अनुवाद गौण ही है—यह इसका अभिप्राय है ।

अथ वा "तदैक्षत" (छा० उ० ६ । २ । ३) "तत्तेजोऽसृजत" (छा० उ० ६ । २ । ३) इत्याद्युत्पत्तेः प्राक् "एकमेवाद्वितीयम्" (छा०उ० ६ । २ ।२) इत्येकत्वं प्रकीर्तितम् । तदेव च "तत्सत्यं स आत्मा तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८–१६) इत्येकत्वं भविष्यतीति तां भविष्यद्वृत्तिमपेक्ष्य यज्जीवात्मनोः पृथक्त्वं यत्र क्वचिद्वाक्ये गम्यमानं तद्गौणम्, यथौदनं पचतीति तद्वत् ॥ १४ ॥

अथवा "उसने ईक्षण किया" "उसने तेजको रचा" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा जो उत्पत्तिसे पूर्व "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि प्रकारसे एकत्वका निरूपण किया है वह एकत्व है "वह सत्य है, वह आत्मा है और वही तू है" इस प्रकार आगे एकत्व हो जायगा इस भविष्यद्वृत्तिसे है । अतः जहाँ कहीं किसी वाक्यमें जीव और आत्माका पृथक्त्व जाना गया है उसी प्रकार—गौण है, जैसे कि 'भात पकाता है' इस वाक्यमें ['भात' शब्दका प्रयोग] ॥ १४ ॥

दृष्टान्तयुक्त उत्पत्ति-श्रुतिकी व्यवस्था

ननु यद्युत्पत्तेः प्रागजं सर्वमेकमेवाद्वितीयं तथाप्युत्पत्तेरूर्ध्वं

यदि कहो कि उत्पत्तिसे पूर्व तो सब अजन्मा तथा एक ही अद्वितीय है तथापि उसके पीछे तो सब

जातमिदं सर्वं जीवाश्च भिन्ना इति, मैवम्; अन्यार्थत्वादुत्पत्तिश्रुतीनाम् । पूर्वमपि परिहृत एवायं दोषः स्वप्नवदात्ममायाविसर्जिताः संघाता घटाकाशोत्पत्तिभेदादिवज्जीवानामुत्पत्तिभेदादिरिति । इत एवोत्पत्तिभेदादिश्रुतिभ्य आकृष्य इह पुनरुत्पत्तिश्रुतीनामैदंपर्यप्रतिपिपादयिषयोपन्यासः—

उत्पन्न हुआ ही है और तब जीव भी भिन्न ही हैं—तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उत्पत्तिसूचक श्रुतियाँ दूसरे ही अभिप्रायसे हैं। 'देहादिसंघात स्वप्नके समान आत्माकी मायासे ही प्रस्तुत किये हुए हैं, तथा 'घटाकाशकी उत्पत्तिसे होनेवाले भेदके समान जीवोंकी उत्पत्तिके भेद हैं' इन वाक्योंद्वारा पहले भी इस दोषका परिहार किया ही जा चुका है। इसीलिये पूर्वोक्त उत्पत्ति-भेदादिसूचक श्रुतियोंसे उनका निष्कर्ष लेकर यहाँ फिर उन उत्पत्तिश्रुतियोंका ब्रह्मात्मैक्यपरत्व प्रतिपादन करनेकी इच्छासे उपन्यास किया जाता है—

मृल्लोहविस्फुलिङ्गाद्यैः सृष्टिर्या चोदितान्यथा ।
उपायः सोऽवताराय नास्ति भेदः कथंचन ॥ १५ ॥

[उपनिषदोंमें] जो मृत्तिका, लोहखण्ड और विस्फुलिङ्गादि दृष्टान्तोंद्वारा भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिका निरूपण किया है वह [ब्रह्मात्मैक्यमें] बुद्धिका प्रवेश करानेका उपाय है; वस्तुतः उनमें कुछ भी भेद नहीं है ॥ १५ ॥

मृल्लोहविस्फुलिङ्गादिदृष्टान्तोपन्यासैः सृष्टिर्या चोदिता प्रकाशितान्यथान्यथा च स सर्वः

मृत्तिका, लोहपिण्ड और विस्फुलिङ्गादिके दृष्टान्तोंका उपन्यास करके जो भिन्न-भिन्न प्रकारसे सृष्टिको प्रकाशित अर्थात् कल्पित किया गया है वह सृष्टिका सम्पूर्ण प्रकार

सृष्टिप्रकारो जीवपरमात्मैकत्वबुद्ध्यवतारायोपायोऽस्माकम् । यथा प्राणसंवादे वागाद्यासुरपाप्मवेधाद्याख्यायिका कल्पिता प्राणवैशिष्ट्यबोधावताराय ।

तदप्यसिद्धमिति चेत् ।

न; शाखाभेदेष्वन्यथान्यथा च प्राणादिसंवादश्रवणात् । यदि हि संवादः परमार्थ एवाभूदेकरूप एव संवादः सर्वशाखास्वश्रोष्यत विरुद्धानेकप्रकारेण नाश्रोष्यत ।

हमें जीव और परमात्माका एकत्व निश्चय करानेवाली बुद्धि प्राप्त करानेके लिये है, जिस प्रकार कि प्राणसंवादमें प्राणकी उत्कृष्टताका बोध करानेके लिये वागादि इन्द्रियोंके असुरोंद्वारा पापसे विद्ध हो जानेकी आख्यायिका* कल्पना की गयी है ।

पूर्व०—परन्तु यह बात भी तो सिद्ध नहीं हो सकती । †

सिद्धान्ती—नहीं; भिन्न-भिन्न शाखाओंमें भिन्न-भिन्न प्रकारसे प्राणसंवाद सुना जानेके कारण [उसका यही तात्पर्य होना चाहिये] ।‡ यदि यह संवाद वस्तुतः हुआ होता तो सम्पूर्ण शाखाओंमें एक ही संवाद सुना जाता, परस्पर विरुद्ध

* छान्दोग्य उपनिषद्के प्रथम प्रपाठकके द्वितीय खण्डमें यह आख्यायिका इस प्रकार आयी है—एक बार देवताओंका असुरोंके साथ युद्ध छिड़ गया । यहाँ असुरसे मनकी राजसवृत्ति और देवतासे सात्त्विकवृत्ति समझनी चाहिये । इन दोनों वृत्तियोंका पारस्परिक युद्ध चिर प्रसिद्ध है । देवताओंने असुरोंको उद्गीथविद्याके प्रभावसे परास्त करना चाहा । अतः उन्होंने वाक् आदि प्रत्येक इन्द्रियोंको एक-एक करके उद्गीथ-गानमें नियुक्त किया; किन्तु प्रत्येक ही इन्द्रिय स्वार्थपरताके पापसे असुरोंके सामने पराभूत हो गयी । अन्तमें मुख्य प्राणको नियुक्त किया गया । वह सभीके लिये समान भावसे सामगान करने लगा, अतः असुरगण उसका कुछ भी न बिगाड़ सके और देवताओंको विजय प्राप्त हुई ।

† अर्थात् उन आख्यायिकाओंका तात्पर्य प्राणकी उत्कृष्टताका बोध करानेमें ही है ।

‡ इसी आशयकी एक आख्यायिका बृहदारण्यकोपनिषद् अध्याय ६ ब्राह्मण १ में और दूसरी बृह० उ० अध्याय १ ब्राह्मण ३ में भी है ।

श्रूयते तु; तस्मान्न तादर्थ्यं संवादश्रुतीनाम् । तथोत्पत्तिवाक्यानि प्रत्येतव्यानि ।

भिन्न-भिन्न प्रकारसे नहीं । परन्तु ऐसा सुना ही जाता है; इसलिये संवादश्रुतियोंका तात्पर्य यथाश्रुत अर्थमें नहीं है । इसी प्रकार उत्पत्ति-वाक्य भी समझने चाहिये ।

कल्पसर्गभेदात्संवादश्रुतीनामुत्पत्तिश्रुतीनां च प्रतिसर्गमन्यथात्वमिति चेत् ?

पूर्व०—प्रत्येक कल्पकी सृष्टिके भेदके कारण संवादश्रुति और उत्पत्ति-श्रुतियोंमें प्रत्येक सर्गके अनुसार भेद है—यदि ऐसा मानें तो ?

न; निष्प्रयोजनत्वाद्यथोक्तबुद्ध्यवतारप्रयोजनव्यतिरेकेण । न ह्यन्यप्रयोजनवत्त्वं संवादोत्पत्तिश्रुतीनां शक्यं कल्पयितुम् तथात्वप्रतिपत्तये ध्यानार्थमिति चेन्न; कलहोत्पत्तिप्रलयानां प्रतिपत्तेरनिष्टत्वात् । तस्मादुत्पत्त्यादिश्रुतय आत्मैकत्वबुद्ध्यवतारायैव नान्यार्थाः कल्पयितुं युक्ताः । अतो नास्त्युत्पत्त्यादिकृतो भेदः कथञ्चन ॥ १५ ॥

सिद्धान्ती—नहीं, क्योंकि श्रुतिका उपर्युक्त [ब्रह्मात्मैकत्वमें] बुद्धि-प्रवेशरूप प्रयोजनके अतिरिक्त अन्य कोई प्रयोजन ही नहीं है । प्राण-संवाद और उत्पत्तिश्रुतियोंका इसके सिवा और कोई प्रयोजन नहीं कल्पना किया जा सकता । यदि कहो कि उनकी तद्रूपता प्राप्त करनेके प्रयोजनसे ध्यानके लिये ऐसा कहा गया है, तो ऐसा भी सम्भव नहीं है, क्योंकि कलह तथा उत्पत्ति या प्रलयकी प्राप्ति किसीको इष्ट नहीं हो सकती । अतः उत्पत्ति आदि प्रतिपादन करनेवाली श्रुतियाँ आत्मैकत्वरूप बुद्धिकी प्राप्तिके ही लिये हैं, उन्हें किसी और प्रयोजनके लिये मानना उचित नहीं है । अतः उत्पत्ति आदिके कारण होनेवाला भेद कुछ भी नहीं है ॥ १५ ॥

त्रिविध अधिकारी और उनके लिये उपासनाविधि

यदि पर एवात्मा नित्यशुद्ध-बुद्धमुक्तस्वभाव एकः परमार्थः सन् "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । २) इत्यादि-श्रुतिभ्योऽसदन्यत्किमर्थेयमुपासनोपदिष्टा "आत्मा वा अरे द्रष्टव्यः" (बृ० उ० २ । ४ । ५) "य आत्मापहतपाप्मा" (छा० उ० ८ । ७ । १, ३) "स क्रतुं कुर्वीत" (छा० उ० ३ । १४ । १) "आत्मेत्येवोपासीत" (बृ० उ० १ । ४ । ७) इत्यादिश्रुतिभ्यः, कर्माणि चाग्निहोत्रादीनि ?

शृणु तत्र कारणम्—

शङ्का—यदि "एकमेवाद्वितीयम्" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार परमार्थतः एकमात्र नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव परमात्मा ही सत्य है, अन्य सब मिथ्या है, तो "अरे, इस आत्माका साक्षात्कार करना चाहिये" "जो आत्मा पापरहित है" "वह (अधिकारी) क्रतु (उपास्यसम्बन्धी संकल्प) करे" "आत्मा है—इस प्रकार ही उपासना करे" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा इस उपासनाका उपदेश क्यों दिया गया है ? तथा अग्निहोत्रादि कर्म भी क्यों बतलाये गये हैं ?

समाधान—इसमें जो कारण है, सो सुनो—

आश्रमास्त्रिविधा हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः ।
उपासनोपदिष्टेयं तदर्थमनुकम्पया ॥ १६ ॥

आश्रम (अधिकारी पुरुष) तीन प्रकारके हैं—हीन, मध्यम और उत्कृष्ट दृष्टिवाले । उनपर कृपा करके उन्हींके लिये यह उपासना उपदेश की गयी है ॥ १६ ॥

आश्रमा आश्रमिणोऽधिकृताः, वर्णिनश्च मार्गगाः, आश्रमशब्दस्य प्रदर्शनार्थत्वात्त्रिविधाः । कथम् ? हीनमध्यमोत्कृष्टदृष्टयः । हीना निकृष्टा मध्यमोत्कृष्टा च

आश्रमाः—कर्माधिकारी आश्रमी एवं सन्मार्गगामी वर्णीलोग—क्योंकि 'आश्रम' शब्द उनका भी उपलक्षण करानेवाला है—तीन प्रकारके हैं । किस प्रकार ? हीन, मध्यम और उत्कृष्ट दृष्टिवाले । अर्थात् जिनकी

दृष्टिर्दर्शनसामर्थ्यं येषां ते मन्द-मध्यमोत्तमबुद्धिसामर्थ्योपेता इत्यर्थः ।

उपासनोपदिष्टेयं तदर्थं मन्द-मध्यमदृष्ट्याश्रमाद्यर्थं कर्माणि च, न चात्मैक एवाद्वितीय इति निश्चितोत्तमदृष्ट्यर्थं दयालुना वेदेनानुकम्पया सन्मार्गगाःसन्तः कथमिमामुत्तमामेकत्वदृष्टिं प्राप्नुयुरिति । "यन्मनसा न मनुते येनाहुर्मनो मतम् । तदेव ब्रह्म त्वं विद्धि नेदं यदिदमुपासते" (के० उ० १ । ५) "तत्त्वमसि" (छा० उ० ६ । ८–१६) "आत्मैवेदं सर्वम्" (छा० उ० ७ । २५ । २) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।। १६ ।।

दृष्टि यानी दर्शनसामर्थ्य हीन—निकृष्ट, मध्यम और उत्कृष्ट है ऐसे मन्द, मध्यम और उत्तम बुद्धिकी सामर्थ्यसे सम्पन्न हैं ।

उन मन्द और मध्यम दृष्टिवाले आश्रमादिके लिये ही इस उपासना और कर्मका उपदेश किया गया है, 'आत्मा एक और अद्वितीय ही है' ऐसी जिनकी निश्चित उत्तम दृष्टि है, उनके लिये उसका उपदेश नहीं है । दयालु वेदने उसका इसीलिये उपदेश किया है कि जिससे वे किसी प्रकार सन्मार्गगामी होकर "जिसका मनसे मनन नहीं किया जा सकता, बल्कि जिसके द्वारा मन मनन किया कहा जाता है उसीको तू ब्रह्म जान; यह, जिसकी तू उपासना करता है, ब्रह्म नहीं है" "वह तू है" "यह सब आत्मा ही है" इत्यादि श्रुतियोंद्वारा प्रतिपादित इस उत्तम एकत्व दृष्टिको प्राप्त कर सकें ।। १६ ।।

अद्वैतात्मदर्शन किसीका विरोधी नहीं है

शास्त्रोपपत्तिभ्यामवधारितत्वादद्वयात्मदर्शनं सम्यग्दर्शनं तद्बाह्यत्वान्मिथ्यादर्शनमन्यत् ।

शास्त्र और युक्तिसे निश्चित होनेके कारण अद्वितीय आत्मदर्शन ही सम्यग्दर्शन है, उससे बाह्य होनेके कारण और सब दर्शन मिथ्या हैं । द्वैतवादियोंके दर्शन इसलिये

इतश्च मिथ्यादर्शनं द्वैतिनां राग-द्वेषादिदोषास्पदत्वात् । कथम् ?

भी मिथ्या हैं, क्योंकि वे राग-द्वेषादि दोषोंके आश्रय हैं; किस प्रकार? [सो बतलाते हैं]—

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु द्वैतिनो निश्चिता दृढम् ।
परस्परं विरुध्यन्ते तैरयं न विरुध्यते ॥ १७ ॥

द्वैतवादी अपने-अपने सिद्धान्तोंकी व्यवस्थामें दृढ़ आग्रही होनेके कारण आपसमें विरोध रखते हैं; परन्तु यह [अद्वैतात्मदर्शन] उनसे विरोध नहीं रखता ॥ १७ ॥

स्वसिद्धान्तव्यवस्थासु स्वसिद्धान्तरचनानियमेषु कपिलकणादबुद्धार्हतादिदृष्ट्यनुसारिणो द्वैतिनो निश्चिताः । एवमेवैष परमार्थो नान्यथेति तत्र तत्रानुरक्ताः प्रतिपक्षं चात्मनः पश्यन्तस्तं द्विषन्त इत्येवं रागद्वेषोपेताः स्वसिद्धान्तदर्शननिमित्तम् एव परस्परमन्योन्यं विरुध्यन्ते ।

स्वसिद्धान्तव्यवस्थामें अर्थात् अपने-अपने सिद्धान्तकी रचनाके नियमोंमें कपिल, कणाद, बुद्ध और अर्हत् (जिन) की दृष्टियोंका अनुसरण करनेवाले द्वैतवादी निश्चित हैं, अर्थात् यह परमार्थतत्त्व इसी प्रकार है अन्यथा नहीं—इस प्रकार अपने-अपने सिद्धान्तमें अनुरक्त हो अपने प्रतिपक्षीको देखकर उससे द्वेष करते हैं । इस तरह राग-द्वेषसे युक्त हो अपने-अपने सिद्धान्तके दर्शनके कारण ही परस्पर एक-दूसरेसे विरोध मानते हैं ।

तैरन्योन्यविरोधिभिरस्मदीयोऽयं वैदिकः सर्वानन्यत्वादात्मैकत्वदर्शनपक्षो न विरुध्यते यथा स्वहस्तपादादिभिः । एवं

उन परस्पर विरोध माननेवालोंसे हमारा यह आत्मैकत्वदर्शनरूप वैदिक सिद्धान्त सबसे अभिन्न होनेके कारण विरोध नहीं मानता, जिस प्रकार कि अपने हाथ-पाँव आदिसे किसीका विरोध नहीं होता । इस

रागद्वेषादिदोषानास्पदत्वादात्मैकत्वबुद्धिरेव सम्यग्दर्शनमित्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

प्रकार राग-द्वेषादि दोषोंका आश्रय न होनेके कारण आत्मैकत्वबुद्धि ही सम्यग्दृष्टि है—यह इसका तात्पर्य है ॥ १७ ॥

अद्वैतात्मदर्शनके अविरोधी होनेमें हेतु

केन हेतुना तैर्न विरुध्यत इत्युच्यते—

किस कारण उनसे इसका विरोध नहीं है—इसपर कहते हैं—

अद्वैतं परमार्थो हि द्वैतं तद्भेद उच्यते ।
तेषामुभयथा द्वैतं तेनायं न विरुद्ध्यते ॥ १८ ॥

अद्वैत परमार्थ है और द्वैत उसीका भेद (कार्य) कहा जाता है, तथा उन (द्वैतवादियों) के मतमें [परमार्थ और अपरमार्थ] दोनों प्रकारसे द्वैत ही है; इसलिये उनसे इसका विरोध नहीं है ॥ १८ ॥

अद्वैतं परमार्थो हि यस्माद्द्वैतं नानात्वं तस्याद्वैतस्य भेदस्तद्भेदस्तस्य कार्यमित्यर्थः । "एकमेवाद्वितीयम्" (छा० उ० ६ । २ । २) "तत्तेजोऽसृजत" (छा० उ० ६ । २ । ३) इति श्रुतेरुपपत्तेश्च स्वचित्तस्पन्दनाभावे समाधौ मूर्छायां सुषुप्तौ चाभावात् । अतस्तद्भेद उच्यते द्वैतम् ।

अद्वैत परमार्थ है, और क्योंकि द्वैत यानी नानात्व उस अद्वैतका भेद अर्थात् उसका कार्य है, जैसा कि "एकमेवाद्वितीयम्" "तत्तेजोऽसृजत" इत्यादि श्रुतियोंसे तथा समाधि मूर्छा अथवा सुषुप्तिमें अपने चित्तके स्फुरणका अभाव हो जानेपर द्वैतका भी अभाव हो जानेके कारण युक्तिसे भी सिद्ध होता है; इसलिये द्वैत उसका भेद कहा जाता है ।

द्वैतिनां तु तेषां परमार्थतश्चापरमार्थतश्चोभयथापि द्वैतमेव । यदि च तेषां भ्रान्तानां द्वैतदृष्टिरस्माकमद्वैतदृष्टिरभ्रान्ता-

किन्तु उन द्वैतवादियोंकी दृष्टिमें तो परमार्थतः और अपरमार्थतः दोनों प्रकार द्वैत ही है । यदि उन भ्रान्त पुरुषोंकी द्वैतदृष्टि है और हम

नाम्, तेनायं हेतुनास्मत्पक्षो न विरुध्यते तैः। "इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते" (बृ० उ० २ । ५।१९)"न तु तद्द्वितीयमस्ति" (बृ० उ० ४ । ३ । २३) इति श्रुतेः।

भ्रमहीनोंकी अद्वैतदृष्टि है तो इस कारणसे ही हमारे पक्षका उनसे विरोध नहीं है । "इन्द्र मायासे अनेक रूप धारण करता है" "उससे भिन्न दूसरा है ही नहीं" इत्यादि श्रुतियोंसे भी यही प्रमाणित होता है ।

यथा मत्तगजारूढ उन्मत्तं भूमिष्ठं प्रति गजारूढोऽहं गजं वाहय मां प्रतीति ब्रुवाणमपि तं प्रति न वाहयत्यविरोधबुद्ध्या तद्वत् । ततः परमार्थतो ब्रह्मविदात्मैव द्वैतिनाम् । तेनायं हेतुनास्मत्पक्षो न विरुध्यते तैः ॥ १८ ॥

जिस प्रकार मतवाले हाथीपर चढ़ा हुआ पुरुष किसी उन्मत्त भूमिस्थ मनुष्यके प्रति, उसके ऐसा कहनेपर भी कि 'मैं तेरे प्रतिद्वन्द्वी हाथीपर चढ़ा हुआ हूँ तू अपना हाथी मेरी ओर बढ़ा दे, विरोधबुद्धि न होनेके कारण उसकी ओर हाथी नहीं ले जाता, उसी प्रकार [हमारा भी उनसे विरोध नहीं है] । तब, परमार्थतः तो ब्रह्मवेत्ता द्वैतवादियोंका भी आत्मा ही है । इसीसे अर्थात् इसी कारण उनसे हमारे पक्षका विरोध नहीं है ॥ १८ ॥

आत्मामें भेद मायाहीके कारण है

द्वैतमद्वैतभेद इत्युक्ते द्वैतमप्यद्वैतवत्परमार्थसदिति स्यात् कस्यचिदाशङ्केत्यत आह—

द्वैत-अद्वैतका भेद है—ऐसा कहनेपर किसी-किसीको शङ्का हो सकती है कि अद्वैतके समान द्वैत भी परमार्थ सत् ही होना चाहिये—इसलिये कहते हैं—

मायया भिद्यते ह्येतन्नान्यथाजं कथञ्चन ।
तत्त्वतो भिद्यमाने हि मर्त्यताममृतं व्रजेत् ॥ १९ ॥

इस अजन्मा अद्वैतमें मायाहीके कारण भेद है और किसी प्रकार नहीं; यदि इसमें वास्तविक भेद होता तो यह अमृतस्वरूप मरणशीलताको प्राप्त हो जाता ॥ १९ ॥

यत्परमार्थसदद्वैतं मायया भिद्यते ह्येतत्तैमिरिकानेकचन्द्रवद्रज्जुः सर्पधारादिभिर्भेदैरिव न परमार्थतो निरवयवत्वादात्मनः । सावयवं ह्यवयवान्यथात्वेन भिद्यते । यथा मृद् घटादिभेदैः । तस्मान्निरवयवमजं नान्यथा कथञ्चन केनचिदपि प्रकारेण न भिद्यत इत्यभिप्रायः ।

तत्त्वतो भिद्यमाने ह्यमृतमजमद्वयं स्वभावतः सन्मर्त्यतां व्रजेत्; यथाग्निः शीतताम् । तच्चानिष्टं स्वभाववैपरीत्यगमनम्, सर्वप्रमाणविरोधात् । अजमव्ययमात्मतत्त्वं माययैव भिद्यते न

जो परमार्थ सत् अद्वैत है वह तिमिरदोषसे प्रतीत होनेवाले अनेक चन्द्रमा और सर्प-धारादि भेदोंसे विभिन्न दीखनेवाली रज्जुके समान मायासे ही भेदवान् प्रतीत होता है, परमार्थतः नहीं, क्योंकि आत्मा निरवयव है । जो वस्तु सावयव होती है वही अवयवोंके भेदसे भेदको प्राप्त होती है, जिस प्रकार घट आदि भेदोंसे मृत्तिका । अतः निरवयव और अजन्मा आत्मा [मायाके सिवा] और किसी प्रकार भेदको प्राप्त नहीं हो सकता—यह इसका अभिप्राय है ।

यदि उसमें तत्त्वतः भेद हो तो अमृत अज अद्वय और स्वभावसे सत्स्वरूप होकर भी आत्मा मर्त्यताको प्राप्त हो जायगा, जिस तरह कि अग्नि शीतलताको प्राप्त हो जाय । और अपने स्वभावसे विपरीत अवस्थाको प्राप्त हो जाना सम्पूर्ण प्रमाणोंसे विरुद्ध होनेके कारण किसीको इष्ट नहीं हो सकता । अतः अज और अद्वितीय आत्मतत्त्व मायासे ही भेदको प्राप्त

परमार्थतः । तस्मान्न परमार्थसद्द्वैतम् ॥ १९ ॥

होता है, परमार्थतः नहीं; इसलिये द्वैत परमार्थ सत् नहीं है ॥ १९ ॥

जीवोत्पत्ति सर्वथा असंगत है

अजातस्यैव भावस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः ।
अजातो ह्यमृतो भावो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥ २० ॥

द्वैतवादीलोग जन्महीन आत्माके भी जन्मकी इच्छा करते हैं; किन्तु जो पदार्थ निश्चय ही अजन्मा और मरणहीन है वह मरणशीलताको किस प्रकार प्राप्त हो सकता है ॥ २० ॥

ये तु पुनः केचिदुपनिषद्व्याख्यातारो ब्रह्मवादिनो वावदूका अजातस्यैवात्मतत्त्वस्य अमृतस्य स्वभावतो जातिम् उत्पत्तिमिच्छन्ति परमार्थत एव तेषां जातं चेत्तदेव मर्त्यतामेष्यत्यवश्यम् । स चाजातो ह्यमृतो भावः स्वभावतः सन्नात्मा कथं मर्त्यतामेष्यति ? न कथञ्चन मर्त्यत्वं स्वभाववैपरीत्यमेष्यतीत्यर्थः ॥ २० ॥

किन्तु जो कोई उपनिषदोंकी व्याख्या करनेवाले बहुभाषी ब्रह्मवादी लोग अजात और अमृतस्वरूप आत्मतत्त्वकी जाति यानी उत्पत्ति परमार्थतः ही सिद्ध करना चाहते हैं उनके मतमें यदि वह उत्पन्न होता है तो अवश्य ही मरणशीलताको भी प्राप्त हो जायगा । किन्तु वह आत्मतत्त्व स्वभावसे अजात और अमृत होकर भी किस प्रकार मरणशीलताको प्राप्त हो सकता है ? अतः तात्पर्य यह है कि वह किसी प्रकार अपने स्वभावसे विपरीत मरणशीलताको प्राप्त नहीं हो सकता ॥ २० ॥

यस्मात्—

क्योंकि—

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा ।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥ २१ ॥

मरणहीन वस्तु कभी मरणशील नहीं होती; और मरणशील कभी अमर नहीं होती। किसी भी प्रकार स्वभावकी विपरीतता नहीं हो सकती ॥२१॥

न भवत्यमृतं मर्त्यं लोके नापि मर्त्यममृतं तथा। ततः प्रकृतेः स्वभावस्यान्यथाभावः स्वतः प्रच्युतिर्न कथञ्चिद्भविष्यति, अग्नेरिवौष्ण्यस्य ॥ २१ ॥

लोकमें मरणहीन वस्तु मरणशील नहीं होती और न मरणशील वस्तु मरणहीन ही होती है। अतः अग्निकी उष्णताके समान प्रकृति अर्थात् स्वभावकी विपरीतता—अपने स्वरूपसे च्युति किसी प्रकार नहीं हो सकती ॥२१॥

उत्पत्तिशील जीव अमर नहीं हो सकता

स्वभावेनामृतो यस्य भावो गच्छति मर्त्यताम्।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥ २२ ॥

जिसके मतमें स्वभावसे मरणहीन पदार्थ भी मर्त्यत्वको प्राप्त हो जाता है उसके सिद्धान्तानुसार कृतक (जन्म) होनेके कारण वह अमृत पदार्थ चिरस्थायी कैसे हो सकता है ? ॥ २२ ॥

यस्य पुनर्वादिनः स्वभावेन अमृतो भावो मर्त्यतां गच्छति परमार्थतो जायते तस्य प्रागुत्पत्तेः स भावः स्वभावतोऽमृत इति प्रतिज्ञा मृषैव। कथं तर्हि कृतकेनामृतस्तस्य भावः ? कृतकेनावृतः स कथं स्थास्यति

किन्तु जिस वादीके मतमें स्वभावसे अमृत पदार्थ भी मर्त्यताको प्राप्त होता है अर्थात् परमार्थतः जन्म लेता है उसकी यह प्रतिज्ञा कि उत्पत्तिसे पूर्व वह पदार्थ स्वभावसे अमरणधर्मा है—मिथ्या ही है। [यदि ऐसा न मानें] तो फिर कृतक होनेके कारण उसका स्वभाव अमरत्व कैसे हो सकता है ? और इस प्रकार कृतक होनेसे ही वह अमृत पदार्थ निश्चल यानी अमृतस्वभाव भी कैसे रह

निश्चलोऽमृतस्वभावस्तथा न कथञ्चित्स्यास्यत्यात्मजातिवादिनः सर्वदाजं नाम नास्त्येव; सर्वमेतन्मर्त्यम् । अतोऽनिर्मोक्षप्रसङ्ग इत्यभिप्रायः ॥ २२ ॥

सकता है ? अर्थात् वह कभी ऐसा नहीं रह सकता । अतः आत्माका जन्म बतलानेवालेके मतमें तो अजन्मा वस्तु कोई है ही नहीं । उसके लिये यह सब मरणशील ही है । इससे यह अभिप्राय हुआ कि [उसके मतमें] मोक्ष होनेका प्रसंग है ही नहीं ॥ २२ ॥

सृष्टिश्रुतिकी संगति

नन्वजातिवादिनः सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिर्न संगच्छते प्रामाण्यम् ?

बाढं विद्यते सृष्टिप्रतिपादिका श्रुतिः; सा त्वन्यपरा । उपायः सोऽवतारायेत्यवोचाम । इदानीमुक्तेऽपि परिहारे पुनश्चोद्यपरिहारौ विवक्षितार्थं प्रति सृष्टिश्रुत्यक्षराणामानुलोम्यविरोधाशङ्कामात्रपरिहारार्थौ—

शङ्का—किन्तु अजातिवादीके मतमें सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुतिकी प्रामाणिकता सिद्ध नहीं होती ?

समाधान—हाँ ठीक है, सृष्टिका प्रतिपादन करनेवाली श्रुति भी है; किन्तु उसका उद्देश्य दूसरा है । "उपायः सोऽवताराय[1]" इस प्रकार हम उसका उद्देश्य पहले (अद्वैत० १५में) बता ही चुके हैं । इस प्रकार यद्यपि इस शङ्काका पहले समाधान किया जा चुका है तो भी 'सृष्टिश्रुतिके अक्षरोंकी अनुकूलताका हमारे विवक्षित अर्थसे विरोध है' इस शङ्काका परिहार करनेके लिये ही इस समय तत्सम्बन्धी शङ्का और समाधानका पुनः उल्लेख किया जाता है—

भूततोऽभूततो वापि सृज्यमाने समा श्रुतिः ।
निश्चितं युक्तियुक्तं च यत्तद्भवति नेतरत् ॥ २३ ॥

---

१. वह ब्रह्मात्मैक्यमें बुद्धिका प्रवेश करानेके लिये उपाय है ।

पारमार्थिक अथवा अपारमार्थिक किसी भी प्रकारकी सृष्टि होनेमें श्रुति तो समान ही होगी। अतः उनमें जो निश्चित और युक्तियुक्त मत हो वही [श्रुतिका अभिप्राय] हो सकता है, अन्य नहीं ॥ २३ ॥

भूततः परमार्थतः सृज्यमाने वस्तुन्यभूततो मायया वा मायाविनेव सृज्यमाने वस्तुनि समा तुल्या सृष्टिश्रुतिः। ननु गौणमुख्ययोर्मुख्ये शब्दार्थप्रतिपत्तिर्युक्ता। न, अन्यथा सृष्टेरप्रसिद्धत्वान्निष्प्रयोजनत्वाच्चेत्यवोचाम। अविद्यासृष्टिविषयैव सर्वा गौणी मुख्या च सृष्टिर्न परमार्थतः "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २।१।२) इति श्रुतेः।

तस्माच्छ्रुत्या निश्चितं यदेकमेवाद्वितीयमजममृतमिति युक्तियुक्तं च युक्त्या च सम्पन्नं तदेवेत्यवोचाम पूर्वैर्ग्रन्थैः। तदेव श्रुत्यर्थो भवति नेतरत्कदाचिदपि ॥२३॥

वस्तुके भूततः यानी परमार्थतः रचे जानेमें अथवा अभूततः यानी मायासे मायावीद्वारा रचे जानेमें सृष्टि-श्रुति तो समान ही होगी। यदि कहो कि गौण और मुख्य दोनों अर्थ होनेपर शब्दका मुख्य अर्थ लेना ही उचित है, तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि अन्य प्रकारसे न तो सृष्टि सिद्ध ही होती है और न उसका कुछ प्रयोजन ही है—यह हम पहले कह चुके हैं। "आत्मा बाहर-भीतर विद्यमान और अजन्मा है" इस श्रुतिके अनुसार सब प्रकारकी गौण और मुख्य सृष्टि आविद्यक सृष्टिसम्बन्धिनी ही है, परमार्थतः नहीं।

अतः श्रुतिने जो एक, अद्वितीय, अजन्मा और अमृत तत्त्व निश्चित किया है वही युक्तियुक्त अर्थात् युक्तिसे भी सिद्ध होता है ऐसा प्रतिपादन कर चुके हैं वही श्रुतिका तात्पर्य हो सकता है; अन्य अर्थ कभी और किसी अवस्थामें नहीं हो सकता ॥ २३ ॥

कथं श्रुतिनिश्चयः ? इत्याह—

यह श्रुतिका निश्चय किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं—

नेह नानेति चाम्नायादिन्द्रो मायाभिरित्यपि ।
अजायमानो बहुधा मायया जायते तु सः ॥ २४ ॥

'नेह नानास्ति किंचन' 'इन्द्रो मायाभिः पुरुरूप ईयते' तथा 'अजायमानो बहुधा विजायते' इन श्रुतिवाक्योंके अनुसार वह परमात्मा मायासे ही उत्पन्न होता है ॥ २४ ॥

यदि हि भूतत एव सृष्टिः स्यात्ततः सत्यमेव नाना वस्त्विति तदभावप्रदर्शनार्थमाम्नायो न स्यात् । अस्ति च "नेह नानास्ति किंचन" (क० उ० २ । १ । ११) इत्यादिराम्नायो द्वैतभावप्रतिषेधार्थः । तस्मादात्मैकत्वप्रतिपत्त्यर्था कल्पिता सृष्टिरभूतैव प्राणसंवादवत् । "इन्द्रो मायाभिः" (बृ० उ० २ । ५ । १९) इत्यभूतार्थप्रतिपादकेन मायाशब्देन व्यपदेशात् ।

यदि वास्तवमें ही सृष्टि हुई है तो नाना वस्तु सत्य ही हैं; ऐसी अवस्थामें उनका अभाव प्रदर्शित करनेके लिये कोई शास्त्र-वचन नहीं होना चाहिये था । किन्तु द्वैतभावका निषेध करनेके लिये "यहाँ नाना वस्तु कुछ नहीं है" इत्यादि शास्त्र-वचन है ही । अतः प्राणसंवादके समान आत्मैकत्वकी प्राप्तिके लिये कल्पना की हुई सृष्टि अयथार्थ ही है; क्योंकि "इन्द्र मायासे [अनेक रूप हो जाता है]" इस श्रुतिमें सृष्टिका, अयथार्थत्वप्रतिपादक 'माया' शब्दसे निर्देश किया गया है ।

ननु प्रज्ञावचनो मायाशब्दः ।

शङ्का—'माया' शब्द तो प्रज्ञा-वाचक है [इसलिये इससे सृष्टिका मिथ्यात्व सिद्ध नहीं होता] ।

सत्यम्; इन्द्रियप्रज्ञाया अविद्यामयत्वेन मायात्वाभ्युप-

समाधान—ठीक है, आविद्यक होनेके कारण इन्द्रियप्रज्ञाका मायात्व माना गया है; इसलिये उसमें कोई

गमाद्दोषः । मायाभिरिन्द्रियप्रज्ञाभिः अविद्यारूपाभिरित्यर्थः "अजायमानो बहुधा विजायते" इति श्रुतेः, तस्मान्माययैव जायते तु सः । तुशब्दोऽवधारणार्थः—माययैवेति । न ह्यजायमानत्वं बहुधा जन्म चैकत्र सम्भवति, अग्नाविव शैत्यमौष्ण्यं च ।

फलवत्त्वाच्चात्मैकत्वदर्शनमेव श्रुतिनिश्चितोऽर्थः "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७) इत्यादिमन्त्रवर्णात्; "मृत्योः स मृत्युमाप्नोति" (क० उ० २ । १ । १०) इति निन्दितत्वाच्च सृष्ट्यादि भेददृष्टेः ॥ २४ ॥

दोष नहीं है । अतः मायासे अर्थात् अविद्यारूप इन्द्रियप्रज्ञासे; जैसा कि "उत्पन्न न होकर भी अनेक प्रकारसे उत्पन्न होता है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है । अतः वह मायासे ही उत्पन्न होता है । यहाँ 'तु' शब्द निश्चयार्थक है । अर्थात् मायासे ही [उत्पन्न होता है] । अग्निमें शीतलता और उष्णताके समान जन्म न लेना और अनेक प्रकारसे जन्म लेना एक ही वस्तुमें सम्भव नहीं है ।

"उस अवस्थामें एकत्वका साक्षात्कार करनेवाले पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है ?" इत्यादि श्रुतिके अनुसार फलयुक्त होनेके कारण तथा "[जो नानात्व देखता है] वह मृत्युको मृत्युसे प्राप्त होता है" इस श्रुतिसे सृष्टि आदि भेददृष्टिकी निन्दा की जानेके कारण भी आत्मैकत्वदर्शन ही श्रुतिका निश्चित अर्थ है ॥ २४ ॥

श्रुति कार्य और कारण दोनोंका प्रतिषेध करती है

संभूतेरपवादाच्च संभवः प्रतिषिध्यते ।
को न्वेनं जनयेदिति कारणं प्रतिषिध्यते ॥ २५ ॥

श्रुतिमें सम्भूति (हिरण्यगर्भ) की निन्दाद्वारा कार्यवर्गका प्रतिषेध किया गया है तथा 'इसे कौन उत्पन्न करे' इस वाक्यद्वारा कारणका प्रतिषेध किया गया है ॥ २५ ॥

"अन्धं तमः प्रविशन्ति ये संभूतिमुपासते" (ई० उ० १२) इति संभूतेरुपास्यत्वापवादात्संभवः प्रतिषिध्यते । न हि परमार्थतः संभूतायां संभूतौ तदपवाद उपपद्यते ।

"जो सम्भूति (हिरण्यगर्भ) की उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं" इस प्रकार सम्भूतिके उपास्यत्वकी निन्दा की जानेके कारण कार्यवर्गका प्रतिषेध किया गया है। यदि सम्भूति परमार्थसत्स्वरूप होती तो उसकी निन्दा की जानी सम्भव नहीं थी।

ननु विनाशेन संभूतेः समुच्चयविध्यर्थः संभूत्यपवादः । यथा "अन्धं तमः प्रविशन्ति येऽविद्यामुपासते" (ई० उ० ९) इति ।

शङ्का—सम्भूतिके उपास्यत्वकी जो निन्दा की गयी है वह तो विनाश (कर्म) के साथ सम्भूति (देवतोपासना) का समुच्चयविधान करनेके लिये है; जैसा कि "जो अविद्याकी उपासना करते हैं वे घोर अन्धकारमें प्रवेश करते हैं" इस वाक्यसे सिद्ध होता है।

समुच्चयस्य प्रयोजनम्

सत्यमेव देवतादर्शनस्य संभूतिविषयस्य विनाशशब्दवाच्यस्य कर्मणः समुच्चयविधानार्थः संभूत्यपवादः। तथापि विनाशाख्यस्य कर्मणः स्वाभाविकाज्ञानप्रवृत्तिरूपस्य मृत्योरतितरणार्थत्ववद्देवतादर्शनकर्मसमुच्चयस्य पुरुषसंस्कारार्थस्य कर्मफलरागप्रवृत्तिरूपस्य साध्यसाधनैषणाद्वयलक्षणस्य मृत्योरतितरणार्थत्वम् । एवं ह्येषणाद्वयरूपा-

समाधान—सचमुच ही, सम्भूतिविषयक देवतादर्शन और 'विनाश' शब्दवाच्य कर्मका समुच्चयविधान करनेके लिये ही सम्भूतिका अपवाद किया गया है; तथापि जिस प्रकार 'विनाश' संज्ञक कर्म स्वाभाविक अज्ञानजनित प्रवृत्तिरूप मृत्युको पार करनेके लिये है उसी प्रकार पुरुषके संस्कारके लिये विहित देवतादर्शन और कर्मका समुच्चय कर्मफलके रागसे होनेवाली प्रवृत्तिरूपा जो साध्य-साधनलक्षणा दो प्रकारकी वासनामयी मृत्यु है, उसे पार करनेके

न्मृत्योरशुद्धेर्वियुक्तः पुरुषः संस्कृतः स्यादतो मृत्योरतितरणार्था देवतादर्शनकर्मसमुच्चयलक्षणा ह्यविद्या ।

लिये है । इस प्रकार एषणाद्वयरूप मृत्युकी अशुद्धिसे मुक्त हुआ पुरुष ही संस्कारसम्पन्न हो सकता है । अतः देवतादर्शन और कर्मसमुच्चयलक्षणा अविद्या मृत्युसे पार होनेके लिये ही है ।

सम्भूत्यपवादे हेतुः

एवमेव एषणालक्षणाविद्याया मृत्योरतितीर्णस्य विरक्तस्योपनिषच्छास्त्रार्थालोचनपरस्य नान्तरीयकी परमात्मैकत्वविद्योत्पत्तिरिति पूर्वभाविनीमविद्यामपेक्ष्य पश्चाद्भाविनी ब्रह्मविद्यामृतत्वसाधनैकेन पुरुषेण सम्बध्यमानाविद्यया समुच्चीयत इत्युच्यते । अतोऽन्यार्थत्वादमृतत्वसाधनं ब्रह्मविद्यामपेक्ष्य निन्दार्थ एव भवति संभूत्यपवादः । यद्यप्यशुद्धिवियोगहेतुः अतन्निष्ठत्वात् । अत एव संभूतेः अपवादात्संभूतेरापेक्षिकमेव सत्त्वमिति परमार्थसदात्मैकत्वमपेक्ष्य अमृताख्यः संभवः प्रतिषिध्यते

इसी प्रकार एषणाद्वयलक्षणा अविद्यारूप मृत्युसे पार हुए तथा उपनिषच्छास्त्रके अर्थकी आलोचनामें तत्पर विरक्त पुरुषको ब्रह्मात्मैक्यरूप विद्याकी उत्पत्ति दूर नहीं है; इसीलिये ऐसा कहा जाता है कि पहले होनेवाली अविद्याकी अपेक्षासे पीछे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मविद्या, जो अमृतत्वका साधन है, एक ही पुरुषसे सम्बन्ध रखनेके कारण अविद्यासे समुच्चित की जाती है । अतः अमृतत्वके साक्षात् साधन ब्रह्मविद्याकी अपेक्षा अन्य प्रयोजनवाला होनेसे सम्भूतिका अपवाद निन्दाहीके लिये किया गया है । वह यद्यपि अशुद्धिके क्षयका कारण है, तो भी अतन्निष्ठ (मोक्षका साक्षात् हेतु न) होनेके कारण [उसकी निन्दा ही की गयी है] । इसलिये सम्भूतिका अपवाद किया जानेके कारण उसका सत्त्व आपेक्षिक ही है; इसी आशयसे परमार्थ सत् आत्मैकत्वकी अपेक्षासे अमृतसंज्ञक सम्भूतिका प्रतिषेध किया गया है ।

विद्योत्पत्त्यनन्तरं जीवभावस्य अनुपपत्ति-प्रतिपादनम्

एवं मायानिर्मितस्यैव जीवस्याविद्यया प्रत्युपस्थापितस्याविद्यानाशे स्वभावरूपत्वात्परमार्थतः को न्वेनं जनयेत् । न हि रज्ज्वामविद्यारोपितं सर्पं पुनर्विवेकतो नष्टं जनयेत्कश्चित् । तथा न कश्चिदेनं जनयेदिति को न्वित्याक्षेपार्थत्वात्कारणं प्रतिषिध्यते । अविद्योद्भूतस्य नष्टस्य जनयितृकारणं न किंचिदस्तीत्यभिप्रायः "नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्" (क० उ० १।२।१८) इति श्रुतेः ॥ २५ ॥

इस प्रकार अविद्याद्वारा खड़ा किया गया मायारचित जीव जब अविद्याका नाश होनेपर अपने स्वरूपसे स्थित हो जाता है तब उसे परमार्थतः कौन उत्पन्न कर सकता है ? रज्जुमें अविद्यासे आरोपित सर्पको, विवेकसे नष्ट हो जानेपर, फिर कोई उत्पन्न नहीं कर सकता । उसी प्रकार इसे भी कोई उत्पन्न नहीं कर सकता । 'को न्वेनम्' इत्यादि श्रुति आक्षेपार्थक है [प्रश्नार्थक नहीं] इसलिये इससे कारणका प्रतिषेध किया जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि अविद्यासे उत्पन्न हुए इस जीवका विद्याद्वारा नाश हो जानेपर फिर इसे उत्पन्न करनेवाला कोई भी कारण नहीं है, जैसा कि "यह कहींसे (किसी कारणसे) किसी रूपमें उत्पन्न नहीं हुआ" इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित होता है ॥ २५ ॥

अनात्मप्रतिषेधसे अजन्मा आत्मा प्रकाशित होता है

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः ।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते ॥ २६ ॥

क्योंकि 'स एष नेति नेति' (वह यह आत्मा यह नहीं है, यह नहीं है) इत्यादि श्रुति आत्माके अग्राह्यत्वके कारण [उसके विषयमें] पहले बतलाये हुए सभी भावोंका निषेध करती है, अतः इस [निषेधरूप] हेतुके द्वारा ही अजन्मा आत्मा प्रकाशित होता है ॥ २६ ॥

सर्वविशेषप्रतिषेधेन "अथात आदेशो नेति नेति" (बृ० उ० २ । ३ । ६) इति प्रतिपादितस्यात्मनो दुर्बोध्यत्वं मन्यमाना श्रुतिः पुनः पुनरुपायान्तरत्वेन तस्यैव प्रतिपिपादयिषया यद्व्याख्यातं तत्सर्वं निह्नुते, ग्राह्यं जनिमद्बुद्धिविषयमपलपति । अर्थात् "स एष नेति नेति" (बृ० उ० ३ । ९ । २६) इत्यात्मनोऽदृश्यतां दर्शयन्ती श्रुतिः उपायस्योपेयनिष्ठतामजानत उपायत्वेन व्याख्यातस्योपेयवद्ग्राह्यता मा भूदित्यग्राह्यभावेन हेतुना कारणेन निह्नुत इत्यर्थः । ततश्चैवमुपायस्योपेयनिष्ठतामेव जानत उपेयस्य च नित्यैकरूपत्वमिति तस्य सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वं प्रकाशते स्वयमेव ॥ २६ ॥

"अथात आदेशो नेति नेति"[1] इस प्रकार समस्त विशेषणोंके प्रतिषेधद्वारा प्रतिपादन किये हुए आत्माका दुर्बोध्यत्व माननेवाली श्रुति बारंबार दूसरे उपायसे उसीका प्रतिपादन करनेकी इच्छासे, पहले जो कुछ व्याख्या की है उस सभीका अपह्नव (असत्यता प्रतिपादन) करती है । वह ग्राह्य—बुद्धिके अन्य विषयोंका अपलाप करती है । अर्थात् "स एष नेति नेति" इस प्रकार आत्माकी अदृश्यता दिखलानेवाली श्रुति, उपायकी उपेयनिष्ठताको न जाननेवाले लोगोंको उपायरूपसे बतलाये हुए विषय उपेयके समान ग्राह्य न हो जायँ—इसलिये, अग्राह्यतारूप हेतुसे उनका निषेध करती है—यही उसका अभिप्राय है । तदनन्तर इस प्रकार उपायकी उपेयनिष्ठताको जाननेवाले और उपेयकी नित्यैकस्वरूपताको भी समझनेवाले पुरुषोंको यह बाहर-भीतर विद्यमान अजन्मा आत्मतत्त्व स्वयं ही प्रकाशित हो जाता है ॥ २६ ॥

सद्वस्तुकी उत्पत्ति मायिक होती है

एवं हि श्रुतिवाक्यशतैः सबाह्याभ्यन्तरमजमात्मतत्त्वमद्वयं

इस प्रकार सैकड़ों श्रुतिवाक्योंसे यही निश्चित होता है कि बाहर-

[1] इस (मूर्त और अमूर्तके उपन्यास) के अनन्तर [निर्विशेष आत्माका बोध करानेके लिये] यह नहीं है, यह नहीं है—ऐसा उपदेश है ।

न ततोऽन्यदस्तीति निश्चितमेतत्। युक्त्या च अधुनैतदेव पुनर्निर्धार्यत इत्याह—

भीतर वर्तमान—अजन्मा आत्मतत्त्व अद्वितीय है, उससे भिन्न और कुछ नहीं है। यही बात अब युक्तिसे फिर निश्चय की जाती है; इसीसे कहते हैं—

सतो हि मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतः।
तत्त्वतो जायते यस्य जातं तस्य हि जायते ॥ २७ ॥

सद्वस्तुका जन्म मायासे ही हो सकता है, वस्तुतः नहीं। जिसके मतमें वस्तुतः जन्म होता है उसके सिद्धान्तानुसार भी उत्पत्तिशील वस्तुका ही जन्म हो सकता है ॥ २७ ॥

तत्रैतत्स्यात्सदाग्राह्यमेव चेदसदेवात्मतत्त्वमिति। तन्न, कार्यग्रहणात्। यथा सतो मायाविनो मायया जन्म कार्यम्। एवं जगतो जन्म कार्यं गृह्यमाणं मायाविनमिव परमार्थसन्तम् आत्मानं जगज्जन्ममायास्पदम् अवगमयति। यस्मात्सतो हि विद्यमानात्कारणान्मायानिर्मितस्य हस्त्यादिकार्यस्येव जगज्जन्म युज्यते नासतः कारणात्। न तु तत्त्वत एवात्मनो जन्म युज्यते।

उस आत्मतत्त्वके विषयमें यह शङ्का होती है कि यदि आत्मतत्त्व सर्वदा अग्राह्य ही है तो वह असत् होना चाहिये। परन्तु ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि उसका कार्य देखा जाता है। जिस प्रकार सत्स्वरूप मायावीका मायासे जन्म लेना कार्य है उसी प्रकार यह दिखलायी देनेवाला जगत्का जन्मरूप कार्य जगज्जन्मरूप मायाके आश्रयभूत परमार्थ सत् मायावीके समान आत्माका बोध कराता है, क्योंकि मायासे रचे हुए हाथी आदि कार्यके समान सत् अर्थात् विद्यमान कारणसे ही जगत्का जन्म होना सम्भव है, किसी अविद्यमान कारणसे नहीं। तथा तत्त्वतः तो आत्माका जन्म होना सम्भव है ही नहीं।

अथ वा सतो विद्यमानस्य वस्तुनो रज्ज्वादेः सर्पादिवत् मायया जन्म युज्यते न तु तत्त्वतो यथा तथाग्राह्यस्यापि सत एवात्मनो रज्जुसर्पवज्जगद्रूपेण मायया जन्म युज्यते । न तु तत्त्वत एवाजस्यात्मनो जन्म ।

यस्य पुनः परमार्थसदजमात्मतत्त्वं जगद्रूपेण जायते वादिनो न हि तस्याजं जायत इति शक्यं वक्तुं विरोधात् । ततस्तस्यार्थाज्जातं जायत इत्यापन्नं ततश्चानवस्था जाताज्जायमानत्वेन । तस्मादजमेकमेवात्मतत्त्वमिति सिद्धम् ॥ २७ ॥

अथवा [यों समझो कि] जिस प्रकार रज्जु आदिसे सर्पादिके समान सत् अर्थात् विद्यमान वस्तुका जन्म मायासे ही हो सकता है, तत्त्वतः नहीं, उसी प्रकार अग्राह्य होनेपर भी सत्स्वरूप आत्माका, रज्जुसे सर्पके समान, जगत्‌रूपसे जन्म होना मायासे ही सम्भव है—उस अजन्मा आत्माका तत्त्वतः जन्म नहीं हो सकता ।

किन्तु जिस वादीके मतमें परमार्थ सत् आत्मतत्त्व ही जगत्-रूपसे उत्पन्न होता है उसके सिद्धान्तानुसार यह नहीं कहा जा सकता कि अजन्मा वस्तुका ही जन्म होता है, क्योंकि इससे विरोध उपस्थित होता है । अतः यह स्वतः सिद्ध हो जाता है कि उसके मतानुसार किसी जन्मशीलका ही जन्म होता है । किन्तु इस प्रकार जन्मशीलसे ही जन्म माननेपर अनवस्था उपस्थित हो जाती है; अतः यह सिद्ध हुआ कि आत्मतत्त्व अजन्मा और एक ही है ॥ २७ ॥

असद्वस्तुकी उत्पत्ति सर्वथा असम्भव है

असतो मायया जन्म तत्त्वतो नैव युज्यते ।
बन्ध्यापुत्रो न तत्त्वेन मायया वापि जायते ॥ २८ ॥

असद्वस्तुका जन्म तो मायासे अथवा तत्त्वतः किसी प्रकार भी होना सम्भव नहीं है । बन्ध्याका पुत्र न तो वस्तुतः उत्पन्न होता है और न मायासे ही ॥ २८ ॥

असद्वादिनामसतो भावस्य मायया तत्त्वतो वा न कथंचन जन्म युज्यते, अदृष्टत्वात् । न हि बन्ध्यापुत्रो मायया तत्त्वतो वा जायते तस्मादत्रासद्वादो दूरत एवानुपपन्न इत्यर्थः ॥ २८ ॥

असद्वादियोंके पक्षमें भी, असत् वस्तुका जन्म मायासे अथवा वस्तुतः किसी प्रकार होना सम्भव नहीं है, क्योंकि ऐसा देखा नहीं जाता । बन्ध्याका पुत्र न तो मायासे उत्पन्न होता है और न वस्तुतः ही । अतः तात्पर्य यह हुआ कि असद्वाद तो सर्वथा ही अयुक्त है ॥ २८ ॥

कथं पुनः सतो माययैव जन्मेत्युच्यते—

सत् वस्तुका जन्म मायासे ही कैसे हो सकता है—इसपर कहते हैं—

यथा स्वप्ने द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं स्पन्दते मायया मनः ॥ २९ ॥

जिस प्रकार स्वप्नकालमें मन मायासे ही द्वैताभासरूपसे स्फुरित होता है उसी प्रकार जाग्रत्कालमें भी वह मायासे ही द्वैताभासरूपसे स्फुरित होता है ॥ २९ ॥

यथा रज्ज्वां विकल्पितः सर्पो रज्जुरूपेणावेक्ष्यमाणः सन्नेवं मनः परमार्थविज्ञप्त्यात्मरूपेणावेक्ष्यमाणं सद् ग्राह्यग्राहकरूपेण द्वयाभासं स्पन्दते स्वप्ने मायया,

जिस प्रकार रज्जुमें कल्पना किया हुआ सर्प रज्जुरूपसे देखे जानेपर सत् है उसी प्रकार मन भी परमार्थज्ञानरूप आत्मस्वरूपसे देखा जानेपर सत् है । वह रज्जुमें सर्पके समान स्वप्नावस्थामें मायासे ही ग्राह्य-ग्राहकरूप द्वैतके आभासरूपसे स्फुरित होता है । इसी प्रकार यह मन ही जाग्रत्-

रज्ज्वामिव सर्पः । तथा तद्वदेव जाग्रज्जागरिते स्पन्दते मायया मनः स्पन्दत इवेत्यर्थः ॥ २९ ॥

अवस्थामें भी मायासे [विविध रूपोंमें] स्फुरित होता है, अर्थात् स्फुरित होता-सा मालूम होता है [वास्तवमें स्फुरित भी नहीं होता] ॥ २९ ॥

स्वप्न और जागृति मनके ही विलास हैं

अद्वयं च द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥३०॥

इसमें सन्देह नहीं स्वप्नावस्थामें अद्वैत मन ही द्वैतरूपसे भासनेवाला है, इसी प्रकार जाग्रत्कालमें भी निःसन्देह अद्वय मन ही द्वैतरूपसे भासता है ॥ ३० ॥

रज्जुरूपेण सर्प इव परमार्थत आत्मरूपेणाद्वयं सद्द्वयाभासं मनः स्वप्ने न संशयः । न हि स्वप्ने हस्त्यादि ग्राह्यं तद्ग्राहकं वा चक्षुरादिद्वयं विज्ञानव्यतिरेकेणास्ति । जाग्रदपि तथैवेत्यर्थः। परमार्थसद्विज्ञानमात्राविशेषात् ३०

रज्जुरूपसे सत् सर्पके समान परमार्थतः अद्वय आत्मरूपसे सत् मन ही स्वप्नमें द्वैतरूपसे भासनेवाला है—इसमें सन्देह नहीं । स्वप्नमें हाथी आदि ग्राह्य पदार्थ और उन्हें ग्रहण करनेवाले चक्षु आदि दोनों ही विज्ञानके सिवा और कुछ नहीं हैं, ऐसा ही जाग्रत्में भी है—यह इसका तात्पर्य है, क्योंकि दोनों ही अवस्थाओंमें परमार्थ सत् विज्ञान ही समानरूपसे विद्यमान है ॥ ३० ॥

रज्जुसर्पवद्विकल्पनारूपं द्वैतरूपेण मन एवेत्युक्तम् । तत्र

रज्जुमें सर्पके समान विकल्पनारूप यह मन ही द्वैतरूपसे स्थित है—ऐसा पहले कहा गया । इसमें

किं प्रमाणमित्यन्वयव्यतिरेकलक्षणमनुमानमाह । कथम्—

प्रमाण क्या है ? इसके लिये अन्वय-व्यतिरेकरूप अनुमान प्रमाण कहा जाता है; सो किस प्रकार—

मनोदृश्यमिदं द्वैतं यत्किंचित्सचराचरम् ।
मनसो ह्यमनीभावे द्वैतं नैवोपलभ्यते ॥३१॥

यह जो कुछ चराचर द्वैत है सब मनका दृश्य है, क्योंकि मनका अमनीभाव (संकल्पशून्यत्व) हो जानेपर द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती ॥ ३१ ॥

तेन हि मनसा विकल्प्यमानेन दृश्यं मनोदृश्यमिदं द्वैतं सर्वं मन इति प्रतिज्ञा । तद्भावे भावात्तदभावेऽभावात् । मनसो ह्यमनीभावे निरोधे विवेकदर्शनाभ्यासवैराग्याभ्यां रज्ज्वामिव सर्पे लयं गते वा सुषुप्ते द्वैतं नैवोपलभ्यत इत्यभावात्सिद्धं द्वैतस्यासत्त्वमित्यर्थः ॥ ३१ ॥

उस विकल्पित होनेवाले मनद्वारा दिखलायी देने योग्य यह सम्पूर्ण द्वैत मन ही है—यह प्रतिज्ञा है, क्योंकि उसके वर्तमान रहनेपर यह भी वर्तमान रहता है तथा उसका अभाव हो जानेपर इसका भी अभाव हो जाता है । मनका अमनीभाव—निरोध अर्थात् विवेकदृष्टिके अभ्यास और वैराग्यद्वारा रज्जुमें सर्पके समान लय हो जानेपर, अथवा सुषुप्ति-अवस्थामें द्वैतकी उपलब्धि नहीं होती । इस प्रकार अभाव हो जानेके कारण द्वैतकी असत्ता सिद्ध ही है—यह इसका तात्पर्य है ॥ ३१ ॥

तत्त्वबोधसे अमनीभाव

कथं पुनरमनीभावः ? इति उच्यते—

किन्तु यह अमनीभाव होता किस प्रकार है । इस विषयमें कहा जाता है—

आत्मसत्यानुबोधेन न सङ्कल्पयते यदा ।
अमनस्तां तदा याति ग्राह्याभावे तदग्रहम् ॥ ३२ ॥

जिस समय आत्मसत्यकी उपलब्धि होनेपर मन संकल्प नहीं करता उस समय वह अमनीभावको प्राप्त हो जाता है; उस अवस्थामें ग्राह्यका अभाव हो जानेके कारण वह ग्रहण करनेके विकल्पसे रहित हो जाता है ॥ ३२ ॥

आत्मैव सत्यमात्मसत्यं मृत्तिकावत् "वाचारम्भणं विकारो नामधेयं मृत्तिकेत्येव सत्यम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इति श्रुतेः तस्य शास्त्राचार्योपदेशमन्ववबोधः आत्मसत्यानुबोधः । तेन सङ्कल्प्याभावतया न सङ्कल्पयते, दाह्याभावे ज्वलनमिवाग्नेः, यदा यस्मिन्काले तदा तस्मिन्कालेऽमनस्ताममनोभावं याति; ग्राह्याभावे तन्मनोऽग्रहं ग्रहणविकल्पनावर्जितमित्यर्थः ॥ ३२ ॥

"[घटादि] वाणीसे आरम्भ होनेवाला विकार नाममात्र है, मृत्तिका ही सत्य है" इस श्रुतिके अनुसार मृत्तिकाके समान आत्मा ही सत्य है । उस आत्म-सत्यका शास्त्र और आचार्यके उपदेशके अनन्तर बोध होना आत्मसत्यानुबोध है । उसके कारण सङ्कल्पयोग्य वस्तुका अभाव हो जानेसे, दाह्य वस्तुका अभाव हो जानेपर अग्निके दाहकत्वके अभावके समान, जिस समय चित्त सङ्कल्प नहीं करता उस समय वह अमनस्कता अर्थात् अमनीभावको प्राप्त हो जाता है । ग्राह्य वस्तुका अभाव हो जानेसे वह मन अग्रह अर्थात् ग्रहण-विकल्पनासे रहित हो जाता है ॥ ३२ ॥

आत्मज्ञान किसे होता है ?

यद्यसदिदं द्वैतं केन स्वमजमात्मतत्त्वं विबुध्यते ? इति उच्यते—

यदि यह सम्पूर्ण द्वैत असत्य है तो प्रकृत सत्य आत्मतत्त्वका ज्ञान किसे होता है ? इसपर कहते हैं—

अकल्पकमजं ज्ञानं ज्ञेयाभिन्नं प्रचक्षते ।
ब्रह्मज्ञेयमजं नित्यमजेनाजं विबुध्यते ॥ ३३ ॥

उस सर्वकल्पनाशून्य अजन्मा ज्ञानको विवेकी लोग ज्ञेय ब्रह्मसे अभिन्न बतलाते हैं । ब्रह्म जिसका विषय है वह ज्ञान अजन्मा और नित्य है । उस अजन्मा ज्ञानसे अजन्मा आत्मतत्त्व स्वयं ही जाना जाता है ॥ ३३ ॥

अकल्पकं सर्वकल्पनावर्जितमत एवाजं ज्ञानं ज्ञप्तिमात्रं ज्ञेयेन परमार्थसता ब्रह्मणाभिन्नं प्रचक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः । न हि विज्ञातुर्विज्ञातेर्विपरिलोपो विद्यतेऽग्न्युष्णवत् "विज्ञानमानन्दं ब्रह्म" (बृ० उ० ३ । ९ । २८) "सत्यं ज्ञानमनन्तं ब्रह्म" (तै० उ० २ । १) इत्यादिश्रुतिभ्यः ।

तस्यैव विशेषणं ब्रह्म ज्ञेयं यस्य स्वस्य तदिदं ब्रह्मज्ञेयमौष्ण्यस्येवाग्निवदभिन्नम् । तेनात्मस्वरूपेणाजेन ज्ञानेनाजं ज्ञेयमात्मतत्त्वं स्वयमेव विबुध्यतेऽवगच्छति । नित्यप्रकाशस्वरूप इव सविता नित्यविज्ञानैकरसघनत्वान्न ज्ञानान्तरमपेक्षत इत्यर्थः ॥ ३३ ॥

अकल्पक—सम्पूर्ण कल्पनाओंसे रहित अतएव अजन्मा अर्थात् ज्ञप्तिमात्र ज्ञानको ब्रह्मवेत्ता लोग ज्ञेय यानी परमार्थसत्स्वरूप ब्रह्मसे अभिन्न बतलाते हैं । अग्निकी उष्णताके समान विज्ञाताके ज्ञानका कभी लोप नहीं होता । "ब्रह्म विज्ञान और आनन्दस्वरूप है" "ब्रह्म सत्य, ज्ञान और अनन्त है" इत्यादि श्रुतियोंसे यही बात प्रमाणित होती है ।

उस (ज्ञान) के ही विशेषण बतलाते हैं—'ब्रह्मज्ञेयम्' अर्थात् ब्रह्म जिसका ज्ञेय है वह ज्ञान अग्निसे उष्णताके समान ब्रह्मसे अभिन्न है । उस आत्मस्वरूप अजन्मा ज्ञानसे अजन्मा ज्ञेयरूप आत्मतत्त्व स्वयं ही जाना जाता है । तात्पर्य यह है कि नित्यप्रकाशस्वरूप सूर्यके समान नित्यविज्ञानैकरसघनरूप होनेके कारण वह किसी अन्य ज्ञानकी अपेक्षा नहीं करता ॥ ३३ ॥

शान्तवृत्तिका स्वरूप

आत्मसत्यानुबोधेन सङ्कल्पमकुर्वद्बाह्यविषयाभावे निरिन्धनाग्निवत्प्रशान्तं निगृहीतं निरुद्धं मनो भवतीत्युक्तम् । एवं च मनसो ह्यमनीभावे द्वैताभावश्चोक्तः । तस्यैवम्—

आत्मसत्यकी उपलब्धि होनेसे संकल्प न करता हुआ चित्त, बाह्य-विषयका अभाव हो जानेसे, इन्धन-रहित अग्निके समान शान्त होकर निगृहीत अर्थात् निरुद्ध हो जाता है—ऐसा कहा गया । इस प्रकार मनका अमनीभाव हो जानेपर द्वैत-का भी अभाव बतलाया गया । उस इस प्रकार—

निगृहीतस्य मनसो निर्विकल्पस्य धीमतः ।
प्रचारः स तु विज्ञेयः सुषुप्तेऽन्यो न तत्समः ॥ ३४ ॥

निगृहीत, निर्विकल्प और विवेकसम्पन्न चित्तका जो व्यापार है वह विशेषरूपसे ज्ञातव्य है । सुषुप्ति-अवस्थामें जो चित्तकी वृत्ति है वह अन्य प्रकारकी है, वह उस (निरुद्धावस्था) के समान नहीं है ॥ ३४ ॥

निगृहीतस्य निरुद्धस्य मनसो निर्विकल्पस्य सर्वकल्पनावर्जितस्य धीमतो विवेकवतः प्रचारो यः स तु प्रचारो विशेषेण ज्ञेयो योगिभिः ।

निगृहीत—रोके हुए, निर्विकल्प—सब प्रकारकी कल्पनाओंसे रहित और धीमान्—विवेकसम्पन्न चित्तका जो प्रचार-व्यापार है, योगियोंको उसका वह व्यापार विशेषरूपसे जानना चाहिये ।

ननु सर्वप्रत्ययाभावे यादृशः सुषुप्तस्थस्य मनसः प्रचारस्तादृश

शङ्का—सब प्रकारकी प्रतीतियों-का अभाव हो जानेपर जैसा व्यापार सुषुप्तिस्थ चित्तका होता है वैसा ही निरुद्धका भी होगा, क्योंकि प्रतीति-का अभाव दोनों ही अवस्थाओंमें

एव निरुद्धस्यापि प्रत्ययाभावाविशेषात्किं तत्र विज्ञेयमिति ।

अत्रोच्यते—नैवम्; यस्मात् सुषुप्तेऽन्यः प्रचारोऽविद्यामोहतमोग्रस्तस्यान्तर्लीनानेकानर्थप्रवृत्तिबीजवासनावतो मनस आत्मसत्यानुबोधहुताशविप्लुष्टाविद्यानर्थप्रवृत्तिबीजस्य निरुद्धस्यान्य एव प्रशान्तसर्वक्लेशरजसः स्वतन्त्रः प्रचारः । अतो न तत्समः । तस्माद्युक्तः स विज्ञातुमित्यभिप्रायः ॥ ३४ ॥

समान है । उसमें विशेषरूपसे जाननेयोग्य कौन-सी बात है ?

समाधान—इस विषयमें हमारा कहना है कि ऐसी बात नहीं है, क्योंकि सुषुप्तिमें अविद्या-मोहरूप अन्धकारसे ग्रस्त हुए तथा जिसके भीतर अनेकों अनर्थ-प्रवृत्तिकी बीजभूत वासनाएँ लीन हैं उस मनका व्यापार दूसरे प्रकारका है और आत्मसत्यके बोधरूप अग्निसे जिसकी अविद्यारूपी अनर्थ-प्रवृत्तिका बीज दग्ध हो गया है तथा जिसके सब प्रकारके क्लेशरूप दोष शान्त हो गये हैं उस निरुद्ध चित्तका स्वतन्त्र प्रचार दूसरे ही प्रकारका है । अतः वह उसके समान नहीं है । इसलिये तात्पर्य यह है कि उसका ज्ञान अवश्य प्राप्त करना चाहिये ॥ ३४ ॥

सुषुप्ति और समाधिका भेद

प्रचारभेदे हेतुमाह—

उन दोनोंके प्रचारभेदमें हेतु बतलाते हैं—

लीयते हि सुषुप्ते तन्निगृहीतं न लीयते ।
तदेव निर्भयं ब्रह्म ज्ञानालोकं समन्ततः ॥ ३५ ॥

सुषुप्ति-अवस्थामें मन [अविद्यामें] लीन हो जाता है, किन्तु निरुद्ध होनेपर वह उसमें लीन नहीं होता । उस समय तो सब ओरसे चित्प्रकाशमय निर्भय ब्रह्म ही रहता है ॥ ३५ ॥

लीयते सुषुप्तौ हि यस्मात्सर्वाभिरविद्यादिप्रत्ययबीजवासनाभिः सह तमोरूपमविशेषरूपं बीजभावमापद्यते तद्विवेकविज्ञानपूर्वकं निरुद्धं निगृहीतं सन्न लीयते तमोबीजभावं नापद्यते। तस्माद्युक्तः प्रचारभेदः सुषुप्तस्य समाहितस्य मनसः।

क्योंकि सुषुप्तिमें मन अविद्यादि सम्पूर्ण प्रतीतियोंकी बीजभूता वासनाओंके सहित तमःस्वभाव अविशेषरूप बीजभावको प्राप्त हो जाता है और उसके विवेक ज्ञानपूर्वक निरुद्ध किया जानेपर लीन नहीं होता, अर्थात् अज्ञानरूप बीजभावको प्राप्त नहीं होता। अतः सुषुप्त और समाहित चित्तका प्रचारभेद ठीक ही है।

यदा ग्राह्यग्राहकाविद्याकृतमलद्वयवर्जितं तदा परमद्वयं ब्रह्मैव तत्संवृत्तमित्यतस्तदेव निर्भयं द्वैतग्रहणस्य भयनिमित्तस्याभावात्। शान्तमभयं ब्रह्म, यद्विद्वान्न बिभेति कुतश्चन।

जिस समय चित्त ग्राह्य-ग्राहकरूप अविद्यासे होनेवाले दोनों प्रकारके मलोंसे रहित हो जाता है उस समय वह परम अद्वितीय ब्रह्मरूप ही हो जाता है। अतः द्वैतग्रहणरूप भयके कारणका अभाव हो जानेसे [उस अवस्थामें] वही निर्भय होता है। ब्रह्म शान्त और अभयपद है, जिसे जान लेनेपर पुरुष किसीसे नहीं डरता।

तदेव विशेष्यते ज्ञप्तिर्ज्ञानमात्मस्वभावचैतन्यं तदेव ज्ञानमालोकः प्रकाशो यस्य तद्ब्रह्म ज्ञानालोकं विज्ञानैकरसघनमित्यर्थः। समन्ततः समन्तात्सर्वतो व्योमवन्नैरन्तर्येण व्यापकमित्यर्थः॥ ३५॥

उसीका विशेषण बतला रहे हैं—ज्ञानका अर्थ ज्ञप्ति अर्थात् आत्मस्वरूप चैतन्य है; वह ज्ञान ही जिसका आलोक यानी प्रकाश है वह ब्रह्म ज्ञानालोक अर्थात् विज्ञानैकरसस्वरूप है। समन्ततः—सब ओर अर्थात् आकाशके समान निरन्तरतासे सब ओर व्यापक है॥ ३५॥

ब्रह्मका स्वरूप

अजमनिद्रमस्वप्नमनामकमरूपकम्
सकृद्विभातं सर्वज्ञं नोपचारः कथंचन ॥ ३६ ॥

वह ब्रह्म जन्मरहित, [अज्ञानरूप] निद्रारहित, स्वप्नशून्य, नामरूपसे रहित, नित्य प्रकाशस्वरूप और सर्वज्ञ है; उसमें किसी प्रकारका कर्तव्य नहीं है ॥ ३६ ॥

जन्मनिमित्ताभावात्सबाह्याभ्यन्तरमजम् । अविद्यानिमित्तं हि जन्म रज्जुसर्पवदित्यवोचाम । सा चाविद्यात्मसत्यानुबोधेन निरुद्धा यतोऽजमत एवानिद्रम् । अविद्यालक्षणानादिर्माया निद्रा । स्वापात्प्रबुद्धोऽद्वयस्वरूपेणात्मनातः अस्वप्नम् । अप्रबोधकृते ह्यस्य नामरूपे । प्रबोधाच्च ते रज्जुसर्पवद्विनष्टे इति न नाम्नाभिधीयते ब्रह्म रूप्यते वा न केनचित्प्रकारेणेत्यनामकरूपकं च तत् । "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २ । ४ । १) इत्यादिश्रुतेः ।

किं च सकृद्विभातं सदैव विभातं सदा भारूपमग्रहणान्यथा-

जन्मके कारणका अभाव होनेसे ब्रह्म बाह्याभ्यन्तरवर्ती और अजन्मा है । रज्जुमें सर्पके समान जीवका जन्म अविद्याके कारण है—ऐसा हम पहले कह चुके हैं; क्योंकि आत्मसत्यका अनुभव होनेसे उस अविद्याका निरोध हो गया है; इसलिये ब्रह्म अजन्मा है और इसीसे अनिद्र भी है । यहाँ अविद्यारूप अनादिमाया ही निद्रा है । अपने अद्वयस्वरूपसे वह स्वप्नसे जगा हुआ है; इसलिये अस्वप्न है । उसके नामरूप भी अज्ञानके ही कारण हैं । ज्ञान होनेपर वे रज्जुमें प्रतीत होनेवाले सर्पके समान नष्ट हो जाते हैं । अतः ब्रह्म किसी नामद्वारा कथन नहीं किया जाता और न किसी प्रकार उसका रूप ही बतलाया जाता है, इसीलिये वह अनाम और अरूप है; जैसा कि "जहाँसे वाणी लौट आती है" इत्यादि श्रुतिसे सिद्ध होता है ।

यही नहीं, वह अग्रहण, अन्यथाग्रहण तथा आविर्भाव-तिरोभावसे

ग्रहणाविर्भावतिरोभाववर्जितत्वात् । ग्रहणाग्रहणे हि रात्र्यहनी तमश्चाविद्यालक्षणं सदाप्रभातत्वे कारणम् । तदभावान्नित्यचैतन्यभारूपत्वाच्च युक्तं सकृद्विभातमिति । अत एव सर्वं च तज्ज्ञस्वरूपं चेति सर्वज्ञम् । नेह ब्रह्मण्येवंविध उपचरणमुपचारः कर्तव्यः । यथान्येषामात्मस्वरूपव्यतिरेकेण समाधानाद्युपचारः । नित्यशुद्धबुद्धमुक्तस्वभावत्वाद्ब्रह्मणः कथंचन न कथंचिदपि कर्तव्यसंभवोऽविद्यानाश इत्यर्थः ॥ ३६ ॥

रहित होनेके कारण सकृद्विभात--सदा ही भासनेवाला अर्थात् नित्य-प्रकाशस्वरूप है । ग्रहण और अग्रहण ही रात्रि और दिन हैं तथा अविद्यारूप अन्धकार ही सर्वदा ब्रह्मके प्रकाशित न होनेमें कारण है । उसका अभाव होनेसे और नित्यचैतन्यस्वरूप होनेसे ब्रह्मका नित्यप्रकाशस्वरूप होना ठीक ही है । अतः सर्व और ज्ञप्तिरूप होनेसे वह सर्वज्ञ है । इस प्रकारके ब्रह्ममें कोई उपचार यानी कर्तव्य नहीं है, जिस प्रकार कि दूसरोंको आत्मस्वरूपसे भिन्न समाधि आदि कर्तव्य हैं । तात्पर्य यह है कि ब्रह्म नित्य-शुद्ध-बुद्ध-मुक्तस्वभाव है; इसलिये अविद्याका नाश हो जानेपर विद्वान्को कुछ भी कर्तव्य रहना सम्भव नहीं है ॥ ३६ ॥

अनामकत्वाद्युक्तार्थसिद्धये हेतुमाह —

अनामकत्व आदि उपर्युक्त अर्थकी सिद्धिके लिये कारण बतलाते हैं—

सर्वाभिलापविगतः सर्वचिन्तासमुत्थितः ।
सुप्रशान्तः सकृज्ज्योतिः समाधिरचलोऽभयः ॥ ३७ ॥

वह सब प्रकारके वाग्व्यापारसे रहित, सब प्रकारके चिन्तन (अन्तःकरणके व्यापार) से ऊपर, अत्यन्त शान्त, नित्यप्रकाश, समाधिस्वरूप, अचल और निर्भय है ॥ ३७ ॥

अभिलप्यतेऽनेनेत्यभिलापो वाक्करणं सर्वप्रकारस्याभिधानस्य, तस्माद्विगतः। वागत्रोपलक्षणार्था सर्वबाह्यकरणवर्जित इत्येतत्।

तथा सर्वाचिन्तासमुत्थितः। चिन्त्यतेऽनयेति चिन्ता बुद्धिस्तस्याः समुत्थितोऽन्तःकरणवर्जित इत्यर्थः "अप्राणो ह्यमनाः शुभ्रो ह्यक्षरात्परतः परः" (मु० उ० २।१।२) इत्यादिश्रुतेः।

यस्मात्सर्वविषयवर्जितोऽतः सुप्रशान्तः, सकृज्ज्योतिः सदैव ज्योतिरात्मचैतन्यस्वरूपेण, समाधिः समाधिनिमित्तप्रज्ञावगम्यत्वात्, समाधीयतेऽस्मिन्निति वा समाधिः, अचलोऽविक्रियः, अत एवाभयो विक्रियाभावात् ३७

जिसके द्वारा शब्दोच्चारण किया जाता है वह 'अभिलाप' अर्थात् 'वाक्' है, जो सब प्रकारके शब्दोच्चारणका साधन है, उससे रहित। यहाँ वागिन्द्रिय उपलक्षणके लिये है, अतः तात्पर्य यह है कि वह सब प्रकारकी बाह्य इन्द्रियोंसे रहित है।

तथा सब प्रकारकी चिन्तासे उठा हुआ है। जिससे चिन्तन किया जाता है वह बुद्धि ही चिन्ता है, उससे उठा हुआ है अर्थात् अन्तःकरणसे रहित है; जैसा कि "प्राणरहित, मनोरहित और शुद्ध है तथा पर अक्षरसे भी पर है" इत्यादि श्रुतियोंसे प्रमाणित होता है।

क्योंकि वह सम्पूर्ण विषयोंसे रहित है इसलिये अत्यन्त शान्त है, सकृज्ज्योति अर्थात् आत्मचैतन्यस्वरूपसे सदा ही प्रकाशस्वरूप है, समाधिके कारणसे होनेवाली प्रज्ञासे उपलब्ध होनेके कारण समाधि है, अथवा इसमें चित्त समाहित किया जाता है इसलिये इसे समाधि कहते हैं, अचल अर्थात् अविकारी है और इसीसे विकारका अभाव होनेके कारण ही अभय है ॥ ३७ ॥

यस्माद्ब्रह्मैव समाधिरचलोऽभय इत्युक्तमतः—

क्योंकि ब्रह्म ही 'समाधिस्वरूप, अचल और अभय है' ऐसा कहा गया है, इसलिये—

ग्रहो न तत्र नोत्सर्गश्चिन्ता यत्र न विद्यते ।
आत्मसंस्थं तदा ज्ञानमजाति समतां गतम् ॥ ३८ ॥

जिस (ब्रह्मपद) में किसी प्रकारका चिन्तन नहीं है, उसमें किसी तरहका ग्रहण और त्याग भी नहीं है । उस अवस्थामें आत्मनिष्ठ ज्ञान जन्मरहित और समताको प्राप्त हुआ रहता है ॥ ३८ ॥

न तत्र तस्मिन्ब्रह्मणि ग्रहो ग्रहणमुपादानम्, नोत्सर्ग उत्सर्जनं हानं वा विद्यते । यत्र हि विक्रिया तद्विषयत्वं वा तत्र हानोपादाने स्यातां न तद्द्वयमिह ब्रह्मणि संभवति । विकारहेतोरन्यस्याभावान्निरवयवत्वाच्च । अतो न तत्र हानोपादाने इत्यर्थः । चिन्ता यत्र न विद्यते । सर्वप्रकारैव चिन्ता न संभवति यत्रामनस्त्वात्कुतस्तत्र हानोपादाने इत्यर्थः ।

वहाँ—उस ब्रह्ममें न तो ग्रह—ग्रहण यानी उपादान है और न उत्सर्ग—उत्सर्जन अर्थात् त्याग ही है । जहाँ विकार अथवा विकारकी विषयता (विकृत होनेकी योग्यता) होती है वहीं ग्रहण और त्याग भी रहते हैं; किन्तु यहाँ ब्रह्ममें उन दोनोंहीकी सम्भावना नहीं है, क्योंकि उसमें विकारका हेतुभूत कोई अन्य पदार्थ है नहीं और वह स्वयं निरवयव है । इसलिये तात्पर्य यह है कि उसमें ग्रहण और त्याग भी सम्भव नहीं है । जहाँ चिन्ता नहीं है अर्थात् मनोरहित होनेके कारण जिसमें किसी प्रकारकी चिन्ता सम्भव नहीं है वहाँ त्याग और ग्रहण कैसे रह सकते हैं ?

यदैवात्मसत्यानुबोधो जातस्तदैवात्मसंस्थं विषयाभावा-

जिस समय भी आत्मसत्यका बोध होता है उसी समय आत्मसंस्थ

दग्न्युष्णवदात्मन्येव स्थितं ज्ञानम्, अजाति जातिवर्जितम् समतां गतं परं साम्यमापन्नं भवति ।

यदादौ प्रतिज्ञातमतो वक्ष्याम्यकार्पण्यमजाति समतां गतमितीदं तदुपपत्तितः शास्त्रतश्चोक्तमुपसंह्रियते, अजाति समतां गतमिति । एतस्मादात्मसत्यानुबोधात्कार्पण्यविषयमन्यत् "यो वा एतदक्षरं गार्ग्यविदित्वास्माल्लोकात्प्रैति स कृपणः" (बृ० उ० ३ । ८ । १०) इति श्रुतेः । प्राप्यैतत्सर्वः कृतकृत्यो ब्राह्मणो भवतीत्यभिप्रायः ॥३८॥

अर्थात् विषयका अभाव होनेके कारण अग्निकी उष्णताके समान आत्मामें ही स्थित ज्ञान अजाति—जन्मरहित और समताको प्राप्त हो जाता है ।

पहले (इस प्रकरणके दूसरे श्लोकमें) जो प्रतिज्ञा की थी कि 'इसलिये मैं समान भावको प्राप्त, अजन्मा अकृपणताका वर्णन करूँगा' उस पूर्वकथनका ही यहाँ 'अजाति समतां गतम्' ऐसा कहकर युक्ति और शास्त्रद्वारा उपसंहार किया गया है । "हे गार्गि ! जो पुरुष इस अक्षर-ब्रह्मको बिना जाने ही इस लोकसे चला जाता है वह कृपण है" इस श्रुतिके अनुसार कृपणताका विषय तो इस आत्मसत्यके बोधसे भिन्न ही है । तात्पर्य यह है कि इस तत्त्वको प्राप्त कर लेनेपर तो हर कोई कृतकृत्य ब्राह्मण (ब्रह्मनिष्ठ) हो जाता है ॥ ३८ ॥

अस्पर्शयोगकी दुर्गमता

यद्यपीदमित्थं परमार्थतत्त्वम्

यद्यपि यह परमार्थ तत्त्व ऐसा है तथापि—

अस्पर्शयोगो वै नाम दुर्दर्शः सर्वयोगिभिः ।
योगिनो बिभ्यति ह्यस्मादभये भयदर्शिनः ॥ ३९ ॥

[सब प्रकारके स्पर्शसे रहित] यह अस्पर्शयोग निश्चय ही योगियोंके लिये कठिनतासे दिखायी देनेवाला है । इस अभय पदमें भय देखनेवाले योगीलोग इससे भय मानते हैं ॥ ३९ ॥

अस्पर्शयोगो नामायं सर्वसंबन्धाख्यस्पर्शवर्जितत्वादस्पर्शयोगो नाम वै स्मर्यते प्रसिद्धमुपनिषत्सु । दुःखेन दृश्यत इति दुर्दर्शः सर्वैर्योगिभिः वेदान्तविहितविज्ञानरहितैः सर्वयोगिभिः । आत्मसत्यानुबोधायासलभ्य एवेत्यर्थः ।

योगिनो बिभ्यति ह्यस्मात्सर्वभयवर्जितादप्यात्मनाशरूपमिमं योगं मन्यमाना भयं कुर्वन्ति अभयेऽस्मिन्भयदर्शिनो भयनिमित्तात्मनाशदर्शनशीला अविवेकिन इत्यर्थः ॥ ३९ ॥

यह अस्पर्शयोग नामवाला है अर्थात् सर्वसम्बन्धरूप स्पर्शसे रहित होनेके कारण यह उपनिषदोंमें स्पर्शयोग नामसे प्रसिद्ध होकर स्मरण किया गया है । यह वेदान्तप्रतिपादित विज्ञानसे रहित सभी योगियोंको कठिनतासे दिखायी देता है, इसलिये उसके लिये दुर्दर्श है । तात्पर्य यह है कि यह एकमात्र आत्मसत्यके अनुभव और [श्रवण-मनन एवं प्राणायामादि] आयासोंके द्वारा ही प्राप्त होने योग्य है ।

क्योंकि सम्पूर्ण भयसे रहित होनेपर भी इस योगको आत्मनाशरूप माननेके कारण इस अभय योगमें भय देखनेवाले—भयका निमित्तभूत आत्मनाश देखनेवाले अर्थात् अविवेकी योगीलोग इससे भय मानते हैं ॥ ३९ ॥

अन्य योगियोंकी शान्ति मनोनिग्रहके अधीन है

येषां पुनर्ब्रह्मस्वरूपव्यतिरेकेण रज्जुसर्पवत्कल्पितमेव मन इन्द्रियादि च न परमार्थतो

जिनकी दृष्टिमें ब्रह्मस्वरूपसे अतिरिक्त मन और इन्द्रिय आदि रज्जुमें सर्पके समान कल्पित ही

विद्यते तेषां ब्रह्मस्वरूपाणामभयं मोक्षाख्या चाक्षया शान्तिः स्वभावत एव सिद्धा नान्यायत्ता नोपचारः कथंचनेत्यवोचाम । ये त्वत्तोऽन्ये योगिनो मार्गगा हीनमध्यमदृष्टयो मनोऽन्यदात्मव्यतिरिक्तमात्मसंबन्धि पश्यन्ति तेषामात्मसत्यानुबोधरहितानाम्—

है—परमार्थतः हैं ही नहीं, उन ब्रह्मभूतोंकी निर्भयता और मोक्षसंज्ञक अक्षय शान्ति तो स्वभावसे ही सिद्ध है, किसी अन्यके अधीन नहीं है; जैसा कि 'उसके लिये कुछ भी कर्तव्य नहीं है' ऐसा हम पहले (छत्तीसवें श्लोकमें) कह चुके हैं। किन्तु जो इनसे अन्य परमार्थ-पथमें चलनेवाले हीन और मध्यम दृष्टिवाले योगी मनको आत्मासे भिन्न आत्माका सम्बन्धी मानते हैं, उन आत्मसत्यके बोधसे रहित—

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वयोगिनाम् ।
दुःखक्षयः प्रबोधश्चाप्यक्षया शान्तिरेव च ॥ ४० ॥

समस्त योगियोंके अभय, दुःखक्षय, प्रबोध और अक्षय शान्ति मनके निग्रहके ही अधीन हैं ॥ ४० ॥

मनसो निग्रहायत्तमभयं सर्वेषां योगिनाम् । किं च दुःखक्षयोऽपि, न ह्यात्मसंबन्धिनि मनसि प्रचलिते दुःखक्षयोऽस्ति अविवेकिनाम् । किं चात्मप्रबोधोऽपि मनोनिग्रहायत्त एव । तथाक्षयापि मोक्षाख्या शान्तिः तेषां मनोनिग्रहायत्तैव ॥ ४० ॥

समस्त योगियोंका अभय मनके निग्रहके अधीन है । यही नहीं, दुःखक्षय भी [मनोनिग्रहके ही अधीन है], क्योंकि आत्मासे सम्बन्ध रखनेवाले मनके चलायमान रहते हुए अविवेकी पुरुषोंका दुःखक्षय नहीं हो सकता । इसके सिवा उनका आत्मज्ञान भी मनके निग्रहके ही अधीन है तथा मोक्षनाम्नी उनकी अक्षय शान्ति भी मनोनिग्रहके ही अधीन है ॥ ४० ॥

मनोनिग्रह धैर्यपूर्वक ही हो सकता है

उत्सेक उदधेर्यद्वत्कुशाग्रेणैकबिन्दुना ।
मनसो निग्रहस्तद्वद्भवेदपरिखेदतः ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार [उद्विग्नता छोड़कर] कुशाके अग्रभागसे एक-एक बूँदद्वारा समुद्रको उलीचा जा सकता है उसी प्रकार सब प्रकारकी खिन्नताका त्याग कर देनेपर मनका निग्रह हो सकता है ॥ ४१ ॥

मनोनिग्रहोऽपि तेषामुदधेः कुशाग्रेणैकबिन्दुना उत्सेचनेन शोषणव्यवसायवद्व्यवसायवता-मनवसन्नान्तःकरणानामनिर्वेदा-दपरिखेदतो भवतीत्यर्थः ॥४१॥

कुशके अग्रभागसे एक-एक बूँदके द्वारा समुद्रके उत्सेचन अर्थात् सुखानेके प्रयत्नके समान अखिन्नचित्त और उद्यमशील रहनेवाले उन योगियोंके मनका निग्रह भी खेदशून्य रहनेसे ही होता है—यह इसका तात्पर्य है ॥ ४१ ॥

मनोनिग्रहके विघ्न

किमपरिखिन्नव्यवसायमात्र-मेव मनोनिग्रह उपायः ? न, इत्युच्यते ।

तो क्या खेदरहित उद्योग ही मनोनिग्रहका उपाय है ? इसपर कहते हैं—'नहीं'

उपायेन निगृह्णीयाद्विक्षिप्तं कामभोगयोः ।
सुप्रसन्नं लये चैव यथा कामो लयस्तथा ॥ ४२ ॥

काम्यविषय और भोगोंमें विक्षिप्त हुए चित्तका उपायपूर्वक निग्रह करे तथा लयावस्थामें अत्यन्त प्रसन्नताको प्राप्त हुए चित्तका भी संयम करे, क्योंकि जैसा [अनर्थकारक] काम है वैसा ही लय भी है ॥ ४२ ॥

अपरिखिन्नव्यवसायवान्सन् वक्ष्यमाणेनोपायेन कामभोग-विषयेषु विक्षिप्तं मनो निगृह्णी-

अथक उद्योगशील होकर आगे कहे जानेवाले उपायसे काम और भोगरूप विषयोंमें विक्षिप्त हुए चित्तका

यान्निरुन्ध्यादात्मन्येवेत्यर्थः । किं च लीयतेऽस्मिन्निति सुषुप्तो लयस्तस्मिँल्लये च सुप्रसन्नम् आयासवर्जितम् अपि इत्येतत्, निगृह्णीयादित्यनुवर्तते ।

सुप्रसन्नं चेत्कस्मान्निगृह्यत इत्युच्यते । यस्माद्यथा कामोऽनर्थहेतुस्तथा लयोऽपि । अतः कामविषयस्य मनसो निग्रहवल्लयादपि निरोद्धव्यमित्यर्थः॥४२॥

निग्रह करे, अर्थात् उसका आत्मामें ही निरोध करे । तथा, जिस अवस्थामें चित्त लीन हो जाता है उस सुषुप्तिका नाम लय है, उस लयावस्थामें अत्यन्त प्रसन्न अर्थात् आयासरहित स्थितिको प्राप्त हुए चित्तका भी निग्रह करे । यहाँ 'निगृह्णीयात्' इस पदकी अनुवृत्ति की जाती है ।

यदि उस अवस्थामें चित्त अत्यन्त प्रसन्न हो जाता है तो उसका निग्रह क्यों करना चाहिये ? इसपर कहा जाता है—क्योंकि जिस प्रकार काम अनर्थका कारण है उसी प्रकार लय भी है; इसलिये तात्पर्य यह है कि कामविषयक मनके निग्रहके समान उसका लयसे भी निरोध करना चाहिये ॥ ४२ ॥

कः स उपायः ? इत्युच्यते—

वह उपाय क्या है ? इस विषयमें कहा जाता है—

दुःखं सर्वमनुस्मृत्य कामभोगान्निवर्तयेत् ।
अजं सर्वमनुस्मृत्य जातं नैव तु पश्यति ॥ ४३ ॥

सम्पूर्ण द्वैत दुःखरूप है—ऐसा निरन्तर स्मरण करते हुए चित्तको कामजनित भोगोंसे हटावे । इस प्रकार निरन्तर सब वस्तुओंको अजन्मा ब्रह्मरूप स्मरण करता हुआ फिर कोई जात पदार्थ नहीं देखता ॥ ४३ ॥

सर्वं द्वैतमविद्याविजृम्भितं दुःखमेवेत्यनुस्मृत्य कामभोगा-

अविद्यासे प्रतीत होनेवाला सारा द्वैत दुःखरूप ही है—ऐसा निरन्तर

त्कामनिमित्तो भोग इच्छाविषयस्तस्माद्विप्रसृतं मनो निवर्तयेद्वैराग्यभावनयेत्यर्थः । अजं ब्रह्म सर्वमित्येतच्छास्त्राचार्योपदेशतोऽनुस्मृत्य तद्विपरीतं द्वैतजातं नैव तु पश्यति, अभावात् ॥ ४३ ॥

स्मरण करता हुआ कामभोगसे—कामनानिमित्तक भोगसे अर्थात् इच्छाजनित विषयसे उसमें फैले हुए चित्तको वैराग्यभावनाद्वारा निवृत्त करे—यह इसका तात्पर्य है । फिर 'यह सब अजन्मा ब्रह्म ही है' ऐसा शास्त्र और आचार्यके उपदेशानुसार निरन्तर स्मरण करता हुआ उससे विपरीत द्वैतजातको—उसका अभाव हो जानेके कारण—वह नहीं देखता ॥ ४३ ॥

लये संबोधयेच्चित्तं विक्षिप्तं शमयेत्पुनः ।
सकषायं विजानीयात्समप्राप्तं न चालयेत् ॥ ४४ ॥

चित्त [सुषुप्तिमें] लीन होने लगे तो उसे आत्मविवेकमें नियुक्त करे, यदि विक्षिप्त हो जाय तो उसे पुनः शान्त करे और [यदि इन दोनोंके बीचकी अवस्थामें रहे तो उसे] सकषाय—रागयुक्त समझे । तथा साम्यावस्थाको प्राप्त हुए चित्तको चञ्चल न करे ॥ ४४ ॥

एवमनेन ज्ञानाभ्यासवैराग्यद्वयोपायेन लये सुषुप्ते लीनं संबोधयेन्मन आत्मविवेकदर्शनेन योजयेत् । चित्तं मन इत्यनर्थान्तरम् । विक्षिप्तं च कामभोगेषु शमयेत्पुनः । एवं पुनः पुनरभ्यस्यतो लयात्संबोधितं

इस प्रकार ज्ञानाभ्यास और वैराग्य—इन दो उपायोंसे, लय अर्थात् सुषुप्तिमें लीन हुए चित्तको सम्बोधित अर्थात् आत्मविवेकदर्शनमें नियुक्त करे । चित्त और मन—ये कोई भिन्न पदार्थ नहीं हैं । तथा कामना और भोगोंमें विक्षिप्त हुए चित्तको पुनः शान्त करे । इस प्रकार बारंबार अभ्यासद्वारा लयावस्थासे सम्बोधित

विषयेभ्यश्च व्यावर्तितं नापि साम्यापन्नमन्तरालावस्थं सकषायं सरागं बीजसंयुक्तं मन इति विजानीयात् । ततोऽपि यत्नतः साम्यमापादयेत् । यदा तु समप्राप्तं भवति समप्राप्त्यभिमुखीभवतीत्यर्थः ततस्तन्न विचालयेद्विषयाभिमुखं न कुर्यादित्यर्थः ॥ ४४ ॥

और विषयोंसे निवृत्त किया हुआ चित्त जब अन्तरालावस्थामें स्थित होकर समताको भी प्राप्त न हो तो यह समझे कि इस समय मन सकषाय–रागयुक्त अर्थात् बीजावस्थासंयुक्त है । उस अवस्थासे भी उसे यत्नपूर्वक साम्यावस्थामें स्थित करे । किन्तु जिस समय वह समताको प्राप्त हो अर्थात् साम्यावस्थाप्राप्तिके अभिमुख हो उस समय उस अवस्थामें उसे विचलित न करे, अर्थात् विषयाभिमुख न करे ॥४४॥

नास्वादयेत्सुखं तत्र निःसङ्गः प्रज्ञया भवेत् ।
निश्चलं निश्चरच्चित्तमेकीकुर्यात्प्रयत्नतः ॥ ४५ ॥

उस साम्यावस्थामें [प्राप्त होनेवाले] सुखका आस्वादन न करे, बल्कि विवेकवती बुद्धिके द्वारा उससे निःसङ्ग रहे । फिर यदि चित्त बाहर निकलने लगे तो उसे प्रयत्नपूर्वक निश्चल और एकाग्र करे ॥ ४५ ॥

समाधित्सतो योगिनो यत्सुखं जायते तन्नास्वादयेत्, तत्र न रज्येतेत्यर्थः । कथं तर्हि ? निःसङ्गो निःस्पृहः प्रज्ञया विवेकबुद्ध्या यदुपलभ्यते सुखं तदविद्यापरिकल्पितं मृषैवेति विभावयेत् । ततोऽपि सुखरागान्निगृह्णीयादित्यर्थः ।

समाधिकी इच्छावाले योगीको जो सुख प्राप्त होता है उसका आस्वादन न करे अर्थात् उसमें राग न करे । तो फिर कैसे रहे ? निःसङ्ग अर्थात् निःस्पृह होकर प्रज्ञा—विवेकवती बुद्धिसे ऐसी भावना करे कि यह जो कुछ सुख अनुभव हो रहा है वह अविद्यापरिकल्पित और मिथ्या ही है । तात्पर्य यह कि उस सुखके रागसे भी चित्तका निग्रह करे ।

यदा पुनः सुखरागान्निवृत्तं निश्चलस्वभावं सन्निश्चरद्बहिर्निर्गच्छद्भवति चित्तं ततस्ततो नियम्योक्तोपायेनात्मन्येवैकीकुर्यात्प्रयत्नतः । चित्स्वरूपसत्तामात्रमेवापादयेदित्यर्थः ॥ ४५ ॥

जिस समय सुखके रागसे निवृत्त होकर निश्चलस्वभाव हुआ चित्त फिर बाहर निकलने लगे तब उसे उपर्युक्त उपायसे वहाँसे भी रोककर प्रयत्नपूर्वक आत्मामें एकाग्र करे । तात्पर्य यह है कि उसे चित् स्वरूप सत्तामात्र ही सम्पादित करे ॥ ४५ ॥

मन कब ब्रह्मरूप होता है ?

यदा न लीयते चित्तं न च विक्षिप्यते पुनः ।
अनिङ्गनमनाभासं निष्पन्नं ब्रह्म तत्तदा ॥ ४६ ॥

जिस समय चित्त सुषुप्तिमें लीन हो और फिर विक्षिप्त भी न हो तथा निश्चल और विषयाभाससे रहित हो जाय उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है ॥ ४६ ॥

यथोक्तोपायेन निगृहीतं चित्तं यदा सुषुप्ते न लीयते न च पुनर्विषयेषु विक्षिप्यते, अनिङ्गनमचलं निवातप्रदीपकल्पम्, अनाभासं न केनचित्कल्पितेन विषयभावेनावभासत इति, यदैवंलक्षणं चित्तं तदा निष्पन्नं ब्रह्म ब्रह्मस्वरूपेण निष्पन्नं चित्तं भवतीत्यर्थः ॥ ४६ ॥

उपर्युक्त उपायसे निग्रह किया हुआ चित्त जिस समय सुषुप्तिमें लीन नहीं होता और न फिर विषयोंमें ही विक्षिप्त होता है तथा वायुशून्य स्थानमें रखे हुए दीपकके समान निश्चल और अनाभास अर्थात् जो किसी भी कल्पित विषयभावसे प्रकाशित नहीं होता—ऐसा जिस समय यह चित्त हो जाता है उस समय वह ब्रह्म ही हो जाता है, अर्थात् उस अवस्थामें चित्त ब्रह्मरूपसे निष्पन्न हो जाता है ॥ ४६ ॥

स्वस्थं शान्तं सनिर्वाणमकथ्यं सुखमुत्तमम् ।
अजमजेन ज्ञेयेन सर्वज्ञं परिचक्षते ॥ ४७ ॥

[उस अवस्थामें जो आनन्द अनुभव होता है उसे ब्रह्मज्ञ लोग] स्वस्थ शान्त, निर्वाणयुक्त, अकथनीय, निरतिशयसुखस्वरूप, अजन्मा, अजन्मा ज्ञेय (ब्रह्म) से अभिन्न और सर्वज्ञ बतलाते हैं ॥ ४७ ॥

यथोक्तं परमार्थसुखमात्मसत्यानुबोधलक्षणं स्वस्थं स्वात्मनि स्थितम्, शान्तं सर्वानर्थोपशमरूपम्, सनिर्वाणं निर्वृतिर्निर्वाणं कैवल्यं सह निर्वाणेन वर्तते, तच्चाकथ्यं न शक्यते कथयितुम्, अत्यन्तासाधारणविषयत्वात्; सुखमुत्तमं निरतिशयं हि तद्योगिप्रत्यक्षमेव । न जातमित्यजं यथा विषयविषयम् । अजेनानुत्पन्नेन ज्ञेयेनाव्यतिरिक्तं सत्स्वेन सर्वज्ञरूपेण सर्वज्ञं ब्रह्मैव सुखं परिचक्षते कथयन्ति ब्रह्मविदः ॥ ४७ ॥

उपर्युक्त आत्मसत्यानुबोधरूप परमार्थ-सुख 'स्वस्थम्'—अपने आत्मामें ही स्थित, 'शान्तम्'—सब प्रकारके अनर्थकी निवृत्तिरूप, 'सनिर्वाणम्'—निर्वाण—निर्वृति अर्थात् कैवल्यको कहते हैं, उस निर्वाणके सहित, तथा 'अकथ्यम्'—जो कहा न जा सके, क्योंकि उसका विषय अत्यन्त असाधारण है, 'सुखमुत्तमम्'—योगियोंको ही प्रत्यक्ष होनेवाला होनेके कारण निरतिशय सुख है । तथा 'अजम्'—जो उत्पन्न न हो, जिस प्रकार कि विषयसम्बन्धी सुख हुआ करता है, और अज यानी उत्पन्न न होनेवाले ज्ञेयसे अभिन्न होनेके कारण अपने सर्वज्ञरूपसे स्वयं ब्रह्म ही वह सुख है—ऐसा ब्रह्मज्ञलोग [उसके विषयमें] कहते हैं ॥ ४७ ॥

परमार्थसत्य क्या है ?

सर्वोऽप्ययं मनोनिग्रहादिर्मृल्लोहादिवत्सृष्टिरुपासना चोक्ता

मृत्तिका और लोहादिके समान ये मनोनिग्रहादि, सम्पूर्ण सृष्टि तथा

परमार्थस्वरूपप्रतिपत्त्युपायत्वेन न परमार्थसत्येति । परमार्थसत्यं तु

उपासना परमार्थस्वरूपकी प्राप्तिके उपायरूपसे ही कहे गये हैं; ये परमार्थसत्य नहीं हैं । परमार्थसत्य तो यही है कि—

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किञ्चिन्न जायते ॥ ४८ ॥

कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता; क्योंकि उसका कोई कारण ही नहीं है । जिस अजन्मा ब्रह्ममें किसीकी उत्पत्ति नहीं होती वही सर्वोत्तम सत्य है ॥ ४८ ॥

न कश्चिज्जायते जीवः कर्ता भोक्ता च नोत्पद्यते केनचिदपि प्रकारेण । अतः स्वभावतोऽजस्यास्यैकस्यात्मनः संभवः कारणं न विद्यते नास्ति । यस्मान्न विद्यतेऽस्य कारणं तस्मान्न कश्चिज्जायते जीव इत्येतत् । पूर्वेषूपायत्वेनोक्तानां सत्यानामेतदुत्तमं सत्यं यस्मिन्सत्यस्वरूपे ब्रह्मण्यणुमात्रमपि किंचिन्न जायत इति ॥ ४८ ॥

कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता—अर्थात् किसी भी प्रकारसे कर्ता-भोक्ताकी उत्पत्ति नहीं होती । अतः स्वभावसे ही इस एक अजन्मा आत्माका कोई सम्भव—कारण नहीं है । और क्योंकि इसका कोई कारण नहीं है इसलिये किसी जीवकी उत्पत्ति भी नहीं होती—यही इसका तात्पर्य है । पहले उपायरूपसे बतलाये हुए सत्योंमें यही उत्तम सत्य है, जिस सत्यस्वरूप ब्रह्ममें कोई भी वस्तु अणुमात्र भी उत्पन्न नहीं होती ॥ ४८ ॥

इति श्रीगोविन्दभगवत्पूज्यपादशिष्यस्य परमहंसपरिव्राजकाचार्यस्य श्रीशङ्करभगवतः कृतौ गौडपादीयागमशास्त्रभाष्येऽद्वैताख्यं तृतीयं प्रकरणम् ॥ ३ ॥

ॐ तत्सत्

अलातशान्तिप्रकरण

प्रकरण-प्रयोजनम् ओङ्कारनिर्णयद्वारेणागमतः प्रतिज्ञातस्याद्वैतस्य बाह्यविषयभेदवैतथ्याच्च सिद्धस्य पुनरद्वैते शास्त्रयुक्तिभ्यां साक्षान्निर्धारितस्यैतदुत्तमं सत्यमित्युपसंहारः कृतोऽन्ते। तस्यैतस्यागमार्थस्याद्वैतदर्शनस्य प्रतिपक्षभूता द्वैतिनो वैनाशिकाश्च तेषां चान्योन्यविरोधाद्रागद्वेषादिक्लेशास्पदं दर्शनमिति मिथ्यादर्शनत्वं सूचितम्। क्लेशानास्पदत्वात्सम्यग्दर्शनमित्यद्वैतदर्शनं स्तूयते। तदिह विस्तरेणान्योन्यविरुद्धतयासम्यग्दर्शनत्वं प्रदर्श्य

ओङ्कारके निर्णयद्वारा आगमप्रकरणमें प्रतिज्ञा किये अद्वैतका— जिसे कि [वैतथ्यप्रकरणमें] बाह्य विषयभेदके मिथ्यात्वद्वारा सिद्ध किया है और फिर अद्वैतप्रकरणमें शास्त्र और युक्तियोंसे साक्षात् निश्चय किया है, [पिछले प्रकरणके] अन्तमें 'एतदुत्तमं सत्यम्' ऐसा कहकर उपसंहार किया गया। वेदके तात्पर्यभूत इस अद्वैतदर्शनके विरोधी जो द्वैतवादी और वैनाशिक (बौद्ध आदि) हैं उनके दर्शन परस्पर विरोधी होनेके कारण राग-द्वेषादि क्लेशोंके आश्रय हैं, अतः उनका मिथ्यादर्शनत्व सूचित होता है। और रागद्वेषादि क्लेशोंका आश्रय न होनेके कारण अद्वैतदर्शन ही सम्यग्दर्शन है–इस प्रकार उसकी स्तुति की जाती है। अब यहाँ, परस्पर विरोधी होनेके कारण विस्तारपूर्वक उन (द्वैतवादी आदि दार्शनिकोंके दर्शन) का मिथ्यादर्शनत्व प्रदर्शित कर उनके प्रतिषेधद्वारा आवीतन्यायसे* अद्वैतदर्शन-

* अनुमान दो प्रकारका है—अन्वयी और व्यतिरेकी। अन्वयी अनुमानमें एक वस्तुकी सत्तासे दूसरी वस्तुकी सत्ता सिद्ध की जाती है तथा व्यतिरेकीमें एक वस्तुके अभावसे दूसरी वस्तुका अभाव सिद्ध किया जाता है। इस व्यतिरेकी अनुमानका ही दूसरा नाम 'आवीत अनुमान' भी है।

तत्प्रतिषेधेनाद्वैतदर्शनसिद्धिरुपसंहर्तव्यावीतन्यायेनेत्यलातशान्तिरारभ्यते ।

तत्राद्वैतदर्शनसम्प्रदायकर्तुः अद्वैतस्वरूपेणैव नमस्कारार्थोऽयमाद्यश्लोकः । आचार्यपूजा ह्यभिप्रेतार्थसिद्ध्यर्थेष्यते शास्त्रारम्भे ।

की सिद्धिका उपसंहार करना है—इसी लिये अलातशान्तिप्रकरणका आरम्भ किया जाता है ।

उसमें अद्वैतदर्शनसम्प्रदायके कर्ताको अद्वैतरूपसे ही नमस्कार करनेके लिये यह पहला श्लोक है, क्योंकि शास्त्रके आरम्भमें आचार्यकी पूजा अभिप्रेत अर्थकी सिद्धिके लिये इष्ट ही है ।

नारायण-नमस्कार

ज्ञानेनाकाशकल्पेन धर्मान्यो गगनोपमान् ।
ज्ञेयाभिन्नेन संबुद्धस्तं वन्दे द्विपदां वरम् ॥ १ ॥

जिसने ज्ञेय (आत्मा) से अभिन्न आकाशसदृश ज्ञानसे आकाशसदृश धर्मों (जीवों) को जाना है उस पुरुषोत्तमको नमस्कार करता हूँ ॥ १ ॥

आकाशेनेषदसमाप्तमाकाशकल्पमाकाशतुल्यमेतत् । तेनाकाशकल्पेन ज्ञानेन, किम् ? धर्मानात्मनः, किंविशिष्टान्गगनोपमान्गगनमुपमा येषां ते गगनोपमास्तानात्मनो धर्मान् ।

जो आकाशकी अपेक्षा कुछ असम्पूर्ण हो*उसे आकाशकल्प अर्थात् आकाशतुल्य कहते हैं । उस आकाशसदृश ज्ञानसे—किसे ? आत्माके धर्मोंको । किस प्रकारके धर्मोंको ? गगनोपम धर्मोंको—गगन (आकाश) जिनकी उपमा हो उन्हें गगनोपम कहते हैं—ऐसे आत्मा-

* असम्पूर्णका यह भाव नहीं समझना चाहिये कि ब्रह्म आकाशकी अपेक्षा कुछ न्यून है । इसका केवल यही भाव है कि वह सर्वथा आकाशरूप ही नहीं है—आकाशसे कुछ मिलता-जुलता है ।

ज्ञानस्यैव पुनर्विशेषणम्—ज्ञेयैर्धर्मैरात्मभिरभिन्नमग्न्युष्णवत्सवितृप्रकाशवच्च ज्ञानं तेन ज्ञेयाभिन्नेन ज्ञानेनाकाशकल्पेन ज्ञेयात्मस्वरूपाव्यतिरिक्तेन गगनोपमान्धर्मान्यः संबुद्धः संबुद्धवानिति, अयमेवेश्वरो यो नारायणाख्यस्तं वन्देऽभिवादये द्विपदां वरं द्विपदोपलक्षितानां पुरुषाणां वरं प्रधानं पुरुषोत्तममित्यभिप्रायः ।

उपदेष्टृनमस्कारमुखेन ज्ञानज्ञेयज्ञातृभेदरहितं परमार्थतत्त्वदर्शनमिह प्रकरणे प्रतिपिपादयिषितं प्रतिपक्षप्रतिषेधद्वारेण प्रतिज्ञातं भवति ॥ १ ॥

के धर्मोंको । ज्ञानका ही फिर विशेषण देते हैं—अग्निसे उष्णता और सूर्यसे प्रकाशके समान जो ज्ञान ज्ञेय धर्मों अर्थात् आत्माओंसे अभिन्न है उस ज्ञेयाभिन्न अर्थात् ज्ञेय आत्माके स्वरूपसे अव्यतिरिक्त आकाशसदृश ज्ञानसे जिसने आकाशोपम धर्मोंको सदा ही सम्यक् प्रकार जाना है—ऐसा जो नारायण-संज्ञक* ईश्वर है उस द्विपदां वर—दो पदोंसे उपलक्षित पुरुषोंमें श्रेष्ठ यानी प्रधान पुरुषोत्तमकी वन्दना—अभिवादन करता हूँ ।

उपदेष्टाको नमस्कार करनेसे यह प्रतिज्ञा की जाती है कि इस प्रकरणमें विरुद्ध पक्षके प्रतिषेधद्वारा ज्ञान, ज्ञेय और ज्ञाताके भेदसे रहित परमार्थदर्शनका प्रतिपादन करना अभीष्ट है ॥ १ ॥

अद्वैतदर्शनकी वन्दना

अधुना अद्वैतदर्शनयोगस्य नमस्कारस्तत्स्तुतये—

अब अद्वैतदर्शनयोगको, उसकी स्तुतिके लिये, नमस्कार किया जाता है—

अस्पर्शयोगो वै नाम सर्वसत्त्वसुखो हितः ।
अविवादोऽविरुद्धश्च देशितस्तं नमाम्यहम् ॥ २ ॥

---

* यहाँ अद्वैतसम्प्रदायके आदि आचार्य बदरिकाश्रमाधीश्वर तापसाग्रगण्य श्रीनारायणकी वन्दना की गयी है ।

[शास्त्रोंमें] जिस सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये सुखकर, हितकारी, निर्विवाद और अविरोधी अस्पर्शयोगका उपदेश किया गया है, उसे मैं नमस्कार करता हूँ ॥ २ ॥

स्पर्शनं स्पर्शः सम्बन्धो न विद्यते यस्य योगस्य केनचित्कदाचिदपि सोऽस्पर्शयोगो ब्रह्मस्वभाव एव, वै नामेति ब्रह्मविदामस्पर्शयोग इत्येवं प्रसिद्ध इत्यर्थः । स च सर्वसत्त्वसुखः । भवति कश्चिदत्यन्तसुखसाधनविशिष्टोऽपि दुःखरूपः, यथा तपः । अयं तु न तथा । किं तर्हि सर्वसत्त्वानां सुखः ।

तथेह भवति कश्चिद्विषयोपभोगः सुखो न हितः अयं तु सुखो हितश्च नित्यमप्रचलितस्वभावत्वात् । किं चाविवादो विरुद्धवदनं विवादः पक्षप्रतिपक्षपरिग्रहेण यस्मिन्न विद्यते सोऽविवादः । कस्मात् ? यतोऽविरुद्धश्च । य ईदृशो योगो

जिस योगका किसीसे कभी स्पर्श यानी सम्बन्ध नहीं है उसे 'अस्पर्शयोग' कहते हैं; वह ब्रह्मस्वभाव ही है । 'वै' 'नाम' इन पदोंका यह तात्पर्य है कि वह 'ब्रह्मवेत्ताओंका अस्पर्शयोग' इस नामसे प्रसिद्ध है और वह समस्त प्राणियोंके लिये सुखकर होता है । कोई विषय तो अत्यन्त सुखसाधनविशिष्ट होनेपर भी दुःखरूप होता है, जैसा कि तप । किन्तु यह ऐसा नहीं है । तो फिर कैसा है ? यह सभी प्राणियोंके लिये सुखदायक है ।

इसी प्रकार इस लोकमें कोई-कोई विषयसामग्री सुखदायक तो होती है किन्तु हितकर नहीं होती । किन्तु यह तो सर्वदा अविचलस्वभाव होनेके कारण सुखदायक भी है और हितकर भी । यही नहीं, यह अविवाद भी है । जिसमें पक्ष-प्रतिपक्ष स्वीकार करके विरुद्ध कथनरूप विवाद नहीं होता उसे अविवाद कहते हैं । ऐसा यह क्यों है ? क्योंकि यह सबसे अविरुद्ध है । ऐसे जिस योगका शास्त्रने उपदेश

देशितः उपदिष्टः शास्त्रेण तं नमाम्यहं प्रणमामीत्यर्थः ॥ २ ॥

किया है, उसे मैं नमस्कार यानी प्रणाम करता हूँ ॥ २ ॥

द्वैतवादियोंका पारस्परिक विरोध

कथं द्वैतिनः परस्परं विरुध्यन्ते ? इत्युच्यते—

द्वैतवादियोंमें परस्पर किस प्रकार विरोध है ? सो बतलाया जाता है—

भूतस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि ।
अभूतस्यापरे धीरा विवदन्तः परस्परम् ॥ ३ ॥

उनमेंसे कोई-कोई वादी तो सत् पदार्थकी उत्पत्ति मानते हैं और कोई दूसरे बुद्धिशाली परस्पर विवाद करते हुए असत्पदार्थकी उत्पत्ति स्वीकार करते हैं ॥ ३ ॥

भूतस्य विद्यमानस्य वस्तुनो जातिमुत्पत्तिमिच्छन्ति वादिनः केचिदेव हि सांख्या न सर्व एव द्वैतिनः । यस्मादभूतस्याविद्यमानस्यापरे वैशेषिका नैयायिकाश्च धीरा धीमन्तः प्राज्ञाभिमानिन इत्यर्थो विवदन्तो विरुद्धं वदन्तो ह्यन्योन्यमिच्छन्ति जेतुमित्यभिप्रायः॥३॥

कोई-कोई वादी—केवल सांख्यमतावलम्बी, सम्पूर्ण द्वैतवादी नहीं—भूत यानी विद्यमान वस्तुकी जाति-उत्पत्ति मानते हैं; और क्योंकि दूसरे धीर—बुद्धिमान् यानी प्राज्ञाभिमानी वैशेषिक और नैयायिक-लोग अभूत अर्थात् अविद्यमान वस्तुका जन्म स्वीकार करते हैं, इसलिये परस्पर विवाद यानी विरुद्ध भाषण करते हुए वे एक-दूसरेको जीतनेकी इच्छा करते रहते हैं—यह इसका तात्पर्य है ॥ ३ ॥

तैरेव विरुद्धवदनेनान्योन्यपक्षप्रतिषेधं कुर्वद्भिः किं ख्यापितं भवत्युच्यते—

परस्पर विवाद करके एक-दूसरेके पक्षका खण्डन करनेवाले उन वादियोंद्वारा किस सिद्धान्तका प्रकाश किया जाता है सो बतलाते हैं—

भूतं न जायते किंचिद्भूतं नैव जायते ।
विवदन्तोऽद्वया ह्येवमजातिं ख्यापयन्ति ते ॥ ४ ॥

[किन्हींका मत है—] 'कोई सद्वस्तु उत्पन्न नहीं होती' और [कोई कहते हैं—] 'असद्वस्तुका जन्म नहीं होता'—इस प्रकार परस्पर विवाद करनेवाले ये अद्वैतवादी* अजाति (अजातवाद) को ही प्रकाशित करते हैं ॥ ४ ॥

भूतं विद्यमानं वस्तु न जायते किंचिद्विद्यमानत्वादेवात्मवदित्येवं वदन्नसद्वादी सांख्यपक्षं प्रतिषेधति सज्जन्म । तथाभूतमविद्यमानमविद्यमानत्वान्नैव जायते शशविषाणवदित्येवं वदन्सांख्योऽप्यसद्वादिपक्षमसज्जन्म प्रतिषेधति । विवदन्तो विरुद्धं वदन्तोऽद्वया अद्वैतिनो ह्येते अन्योन्यस्य पक्षौ सदसतोर्जन्मनी प्रतिषेधन्तोऽजातिमनुत्पत्तिमर्थात्ख्यापयन्ति प्रकाशयन्ति ते ॥ ४ ॥

कोई भी भूत अर्थात् विद्यमान वस्तु विद्यमान होनेके कारण ही उत्पन्न नहीं होती; जैसे कि आत्मा—इस प्रकार कहकर असद्वादी, सांख्यके पक्ष सद्वादका खण्डन करता है । तथा सांख्य भी 'अभूत—अविद्यमान वस्तु अविद्यमान होनेके कारण ही शशशृङ्गके समान उत्पन्न नहीं हो सकती'—ऐसा कहकर असद्वादीके पक्षमें असत्‌की उत्पत्तिका प्रतिषेध करता है । इस प्रकार परस्पर विवाद यानी विरुद्ध भाषण करनेवाले ये अद्वैतवादी—क्योंकि वस्तुतः ये अद्वैतवादी ही हैं—एक-दूसरेके पक्ष सज्जन्म और असज्जन्मका खण्डन करते हुए अर्थतः अजाति—अनुपपत्तिको ही प्रकाशित करते हैं ॥ ४ ॥

द्वैतवादियोंद्वारा प्रदर्शित अजातिका अनुमोदन

ख्याप्यमानामजातिं तैरनुमोदामहे वयम् ।
विवदामो न तैः सार्धमविवादं निबोधत ॥ ५ ॥

* यहाँ द्वैतवादियोंको ही व्यंगसे 'अद्वैतवादी' कहा है ।

उनके द्वारा प्रकाशित की हुई अजातिका हम भी अनुमोदन करते हैं। हम उनसे विवाद नहीं करते अतः तुम उस निर्विवाद [परमार्थ-दर्शन] को अच्छी तरह समझ लो ॥ ५ ॥

तैरेवं ख्याप्यमानामजातिमेवमस्त्वित्यनुमोदामहे केवलं न तैः सार्धं विवदामः पक्षप्रतिपक्षग्रहणेन; यथा तेऽन्योन्यमित्यभिप्रायः। अतस्तमविवादं विवादरहितं परमार्थदर्शनमनुज्ञातमस्माभिर्निबोधत हे शिष्याः ॥ ५ ॥

उनके द्वारा इस प्रकार प्रकाशित की गयी अजातिका हम 'ऐसा ही हो' इस प्रकार केवल अनुमोदन करते हैं। तात्पर्य यह है कि पक्ष-प्रतिपक्ष लेकर उनके साथ विवाद नहीं करते, जैसा कि वे आपसमें किया करते हैं। अतः हे शिष्यगण! हमारेद्वारा उपदेश किये हुए उस अविवाद—विवादरहित परमार्थदर्शन-को तुम अच्छी तरह समझ लो॥५॥

अजातस्यैव धर्मस्य जातिमिच्छन्ति वादिनः।
अजातो ह्यमृतो धर्मो मर्त्यतां कथमेष्यति ॥ ६ ॥

ये वादीलोग अजात वस्तुका ही जन्म होना स्वीकार करते हैं। किन्तु जो पदार्थ निश्चय ही अजात और अमृत है वह मरणशीलताको कैसे प्राप्त हो सकता है? ॥ ६ ॥

सदसद्वादिनः सर्वेऽपीति पुरस्तात्कृतभाष्यश्लोकः ॥ ६ ॥

यहाँ ['वादिनः' पदसे] सभी सद्वादी और असद्वादी अभिप्रेत हैं। इस श्लोकका भाष्य पहले* किया जा चुका है ॥ ६ ॥

स्वभावविपर्यय असम्भव है

न भवत्यमृतं मर्त्यं न मर्त्यममृतं तथा।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति ॥ ७ ॥

* देखिये अद्वैतप्रकरण श्लोक २० का अर्थ।

मरणरहित वस्तु कभी मरणशील नहीं हो सकती और मरणशील मरणहीन नहीं हो सकती, क्योंकि किसीके स्वभावका विपर्यय किसी प्रकार होनेवाला नहीं है ॥ ७ ॥

स्वभावेनामृतो यस्य धर्मो गच्छति मर्त्यताम् ।
कृतकेनामृतस्तस्य कथं स्थास्यति निश्चलः ॥ ८ ॥

जिसके मतमें स्वभावसे ही मरणहीन धर्म मरणशीलताको प्राप्त हो जाता है, उसके सिद्धान्तानुसार कृतक (जन्म) होनेके कारण वह अमृत पदार्थ निश्चल (चिरस्थायी) कैसे रह सकेगा ? ॥ ८ ॥

उक्तार्थानां श्लोकानामिहोपन्यासः परवादिपक्षाणामन्योन्यविरोधख्यापितानुत्पत्त्यनुमोदनप्रदर्शनार्थः ॥ ७-८ ॥

जिनका अर्थ पहले कहा जा चुका है ऐसे उपर्युक्त [तीन] श्लोकोंका उल्लेख यहाँ विपक्षी वादियोंके पक्षोंके पारस्परिक विरोधसे प्रकाशित अजातिका अनुमोदन प्रदर्शित करनेके लिये किया गया है ॥ ७-८ ॥

यस्माल्लौकिक्यपि प्रकृतिर्न विपर्येति, कासावित्याह—

क्योंकि लौकिक प्रकृतिका भी विपर्यय नहीं होता [फिर पारमार्थिकीका तो कैसे होगा ?] किन्तु वह प्रकृति है क्या ? इसपर कहते हैं—

सांसिद्धिकी स्वाभाविकी सहजा अकृता च या ।
प्रकृतिः सेति विज्ञेया स्वभावं न जहाति या ॥ ९ ॥

जो उत्तम सिद्धिद्वारा प्राप्त, स्वभावसिद्धा, सहजा और अकृता है तथा कभी अपने स्वभावका परित्याग नहीं करती वही 'प्रकृति' है—ऐसा जानना चाहिये ॥ ९ ॥

सम्यक्सिद्धिः संसिद्धिस्तत्र भवा सांसिद्धिकी यथा योगिनां

सम्यक् सिद्धिका नाम संसिद्धि है; उससे होनेवालीको 'सांसिद्धिकी'

सिद्धानाम् अणिमाद्यैश्वर्यप्राप्तिः प्रकृतिः। सा भूतभविष्यत्कालयोरपि योगिनां न विपर्येति तथैव सा। तथा स्वाभाविकी द्रव्यस्वभावत एव यथाग्न्यादीनाम् उष्णप्रकाशादिलक्षणा, सापि न कालान्तरे व्यभिचरति देशान्तरे च। तथा सहजा आत्मना सहैव जाता यथा पक्ष्यादीनामाकाशगमनादिलक्षणा।

अन्यापि या काचिदकृता केनचिन्न कृता यथापां निम्नदेशगमनादिलक्षणा। अन्यापि या काचित्स्वभावं न जहाति सा सर्वा प्रकृतिरिति विज्ञेया लोके। मिथ्याकल्पितेषु लौकिकेष्वपि वस्तुषु प्रकृतिर्नान्यथा भवति किमुताजस्वभावेषु परमार्थवस्तुष्वमृतत्वलक्षणा. प्रकृतिर्नान्यथा भवतीत्यभिप्रायः॥ ९॥

कहते हैं; जिस प्रकार कि सिद्ध योगियोंकी अणिमादि ऐश्वर्यकी प्राप्ति उनकी प्रकृति है। योगियोंकी उस प्रकृतिका भूत और भविष्यत् कालमें भी विपर्यय नहीं होता—वह जैसी-की-तैसी ही रहती है। तथा 'स्वाभाविकी' वस्तुके स्वभावसे सिद्ध; जैसी कि-अग्नि आदिकी उष्णता एवं प्रकाशादिरूपा प्रकृति होती है। उसका भी कालान्तर और देशान्तरमें व्यभिचार नहीं होता। तथा 'सहजा'—अपने साथ ही उत्पन्न होनेवाली; जैसे कि पक्षी आदिकी आकाशगमनादिरूपा प्रकृति होती है।

और भी जो कोई 'अकृता'—किसीके द्वारा सम्पादन न की हुई; जैसे कि जलोंकी प्रकृति निम्न प्रदेशकी ओर जानेकी है। तथा इसके सिवा अन्य भी जो कोई अपने स्वभावको नहीं छोड़ती उस सबको लोकमें 'प्रकृति' नामसे ही जानना चाहिये। मिथ्या कल्पना की हुई लौकिक वस्तुओंमें भी उनकी प्रकृति अन्यथा नहीं होती; फिर अजस्वभाव परमार्थवस्तुओंमें उनकी अमृतत्वलक्षणा प्रकृति अन्यथा नहीं हो सकती—इसमें तो कहना ही क्या है? यह इसका अभिप्राय है॥ ९॥

जीवका जरा-मरण माननेमें दोष

किंविषया पुनः सा प्रकृतिर्यस्या अन्यथाभावो वादिभिः कल्प्यते कल्पनायां वा को दोष इत्याह—

वादीलोग जिसके अन्यथाभावकी कल्पना करते हैं उस प्रकृतिका विषय क्या है ? और उनकी कल्पनामें क्या दोष है ? इसपर कहते हैं—

जरामरणनिर्मुक्ताः सर्वे धर्माः स्वभावतः ।
जरामरणमिच्छन्तश्च्यवन्ते तन्मनीषया ॥ १० ॥

समस्त जीव स्वभावसे ही जरा-मरणसे रहित हैं । उनके जरा-मरण स्वीकार करनेवाले लोग, इस विचारके कारण ही, स्वभावसे च्युत हो जाते हैं ॥ १० ॥

जरामरणनिर्मुक्ताः—जरामरणादिसर्वविक्रियावर्जिता इत्यर्थः । के ? सर्वे धर्माः सर्व आत्मान इत्येतत्स्वभावतः प्रकृतितः । एवंस्वभावाः सन्तो धर्मा जरामरणमिच्छन्त इच्छन्त इवेच्छन्तो रज्ज्वामिव सर्पमात्मनि कल्पयन्तश्च्यवन्ते स्वभावतश्चलन्तीत्यर्थः, तन्मनीषया जन्ममरणचिन्तया तद्भावभावितत्वदोषेणेत्यर्थः ॥ १० ॥

'जरामरणनिर्मुक्ताः' अर्थात् जरा-मरणादि सम्पूर्ण विकारोंसे रहित हैं । कौन ? सम्पूर्ण धर्म अर्थात् समस्त जीवात्मा, स्वभावतः यानी प्रकृतिसे ही । ऐसे स्वभाववाले होनेपर भी जरा-मरणके इच्छुकके समान इच्छा करनेवाले अर्थात् रज्जुमें सर्पकी भाँति आत्मामें जरा-मरणकी कल्पना करनेवाले जीव, उसकी मनीषा-जरामरणकी चिन्तासे अर्थात् उस भावसे भावित होनेके दोषवश अपने स्वभावसे च्युत --विचलित हो जाते हैं ॥ १० ॥

सांख्यमतपर वैशेषिककी आपत्ति

कथं सज्जातिवादिभिः सांख्यैरनुपपन्नमुच्यत इत्याह वैशेषिकः—

सज्जातिवादी सांख्यमतावलम्बियोंका कथन किस प्रकार असङ्गत है ? सो वैशेषिकमतावलम्बी बतलाते हैं—

कारणं यस्य वै कार्यं कारणं तस्य जायते ।
जायमानं कथमजं भिन्नं नित्यं कथं च तत् ॥ ११ ॥

जिस (सांख्यमतावलम्बी) के मतमें कारण ही कार्य है उसके सिद्धान्तानुसार कारण ही उत्पन्न होता है । किन्तु जब कि वह जन्म लेनेवाला है तो अजन्मा कैसे हो सकता है और भिन्न (विदीर्ण) होनेपर भी नित्य कैसे हो सकता है ॥ ११ ॥

कारणं मृद्वदुपादानलक्षणं यस्य वादिनो वै कार्यं कारणमेव कार्याकारेण परिणमते यस्य वादिन इत्यर्थः, तस्याजमेव सत्प्रधानादि कारणं महदादिकार्यरूपेण जायत इत्यर्थः । महदाद्याकारेण चेज्जायमानं प्रधानं कथमजमुच्यते तैर्विप्रतिषिद्धं चेदं जायतेऽजं चेति । नित्यं च तैरुच्यते प्रधानं भिन्नं विदीर्णं स्फुटितमेकदेशेन सत्कथं नित्यं भवेदित्यर्थः । न हि सावयवं घटादि एकदेशस्फुटनधर्मि नित्यं दृष्टं लोक

जिस वादीके मतमें मृत्तिकाके समान उपादान कारण ही कार्य है अर्थात् जिसके मतमें कारण ही कार्यरूपमें परिणत होता है उसके सिद्धान्तानुसार प्रधानादि कारण अजन्मा होता हुआ भी महदादि कार्यरूपसे उत्पन्न होता है ऐसा इसका तात्पर्य है । किन्तु यदि प्रधान महदादिरूपसे उत्पन्न होनेवाला है तो वे उसे अजन्मा कैसे बतलाते हैं ? उत्पन्न होता है और अजन्मा भी है—ऐसा कथन तो परस्पर विरुद्ध है ।

इसके सिवा वे प्रधानको नित्य भी बतलाते हैं । किन्तु वह भिन्न—विदीर्ण अर्थात् एक देशमें स्फुटित यानी विकृत होनेवाला* होकर भी नित्य कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह कि घटादि सावयव पदार्थ, जो एक देशमें स्फुटित होनेवाले हैं, लोकमें

* जैसे बीज अङ्कुररूपसे फूटता है ।

इत्यर्थः । विदीर्णं च स्यादेकदेशेनाजं नित्यं चेति एतद्विप्रतिषिद्धं तैरभिधीयत इत्यभिप्रायः ॥११॥

कभी नित्य नहीं देखे गये । वह अपने एक देशमें विदीर्ण होता है तथा अज और नित्य भी है—यह तो उनका विरुद्ध कथन ही है—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ ११ ॥

उक्तस्यैवार्थस्य स्पष्टीकरणार्थमाह—

उपर्युक्त अभिप्रायका ही स्पष्टीकरण करनेके लिये कहते हैं—

कारणाद्यद्यनन्यत्वमतः कार्यमजं यदि ।
जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणं ते कथं ध्रुवम् ॥ १२ ॥

यदि कारणसे कार्यकी अभिन्नता है तब तो तुम्हारे मतमें कार्य भी अजन्मा है; और यदि ऐसी बात है तो उत्पन्न होनेवाले कार्यसे अभिन्न होनेपर कारण भी किस प्रकार निश्चल रह सकता है ? ॥ १२ ॥

कारणादजात्कार्यस्य यद्यनन्यत्वमिष्टं त्वया ततः कार्यमजमिति प्राप्तम् । इदं चान्यद्विप्रतिषिद्धं कार्यमजं चेति तव किं चान्यत्कार्यकारणयोरनन्यत्वे जायमानाद्धि वै कार्यात्कारणमनन्यन्नित्यं ध्रुवं च ते कथं भवेत् । न हि कुक्कुट्या एकदेशः पच्यत एकदेशः प्रसवाय कल्प्यते ॥ १२ ॥

(कार्यकारणयोः अभिन्नत्वे विप्रतिपत्तिः)

यदि तुम्हें अजन्मा कारणसे कार्यकी अनन्यता इष्ट है तो [तुम्हारे मतमें] यह बात सिद्ध होती है कि कार्य भी अजन्मा है । किन्तु कार्य है और अजन्मा है यह तुम्हारे कथनमें एक दूसरा विरोध है । इसके सिवा, कार्य और कारणकी अनन्यता होनेपर उत्पत्तिशील कार्यसे अभिन्न उसका कारण नित्य और निश्चल कैसे रह सकता है ? ऐसा कभी नहीं हो सकता कि मुर्गीका एक अंश तो पकाया जाय और दूसरा सन्तानोत्पत्तिके योग्य बनाये रखा जाय ॥ १२ ॥

किं चान्यत्—

इसके सिवा और भी—

अजाद्वै जायते यस्य दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै ।
जाताच्च जायमानस्य न व्यवस्था प्रसज्यते ॥ १३ ॥

जिसके मतमें अजन्मा वस्तुसे ही किसी कार्यकी उत्पत्ति होती है उसके पास निश्चय ही इसका कोई दृष्टान्त नहीं है। और यदि जात पदार्थसे ही कार्यकी उत्पत्ति मानी जाय तो अनवस्था उपस्थित हो जाती है ॥ १३ ॥

जाताजातयोः उभयोरपि कारणत्वानुपपत्तिः

अजादनुत्पन्नाद्वस्तुनो जायते यस्य वादिनः कार्यं दृष्टान्तस्तस्य नास्ति वै, दृष्टान्ताभावेऽर्थादजान्न किंचिज्जायत इति सिद्धं भवतीत्यर्थः। यदा पुनर्जाताज्जायमानस्य वस्तुनः अभ्युपगमः तदप्यन्यस्मात् जातात्तदप्यन्यस्मादिति न व्यवस्था प्रसज्यते। अनवस्थानं स्यादित्यर्थः ॥ १३ ॥

जिस वादीके मतमें अज—अनुत्पन्न वस्तुसे कार्यकी उत्पत्ति होती है उसके पास निश्चय ही कोई दृष्टान्त नहीं है। अतः तात्पर्य यह हुआ कि दृष्टान्तका अभाव होनेके कारण यह बात स्वयं सिद्ध हो जाती है कि अज वस्तुसे किसीकी उत्पत्ति नहीं होती। और जब किसी जात—उत्पन्न होनेवाली वस्तुसे कार्यवर्गकी उत्पत्ति मानी जाती है तो वह भी किसी अन्य जात वस्तुसे उत्पन्न होनी चाहिये और वह किसी औरहीसे उत्पन्न होनी चाहिये—इस प्रकार कोई व्यवस्था ही नहीं रहती; अर्थात् अनवस्था उपस्थित हो जाती है ॥ १३ ॥

हेतु और फलके अन्योन्यकारणत्वमें दोष

"यत्र त्वस्य सर्वमात्मैवाभूत्" (बृ० उ० २ । ४ । १४) इति

"जिस अवस्थामें इसकी दृष्टिमें सब आत्मा ही हो गया है" इस

परमार्थतो द्वैताभावः श्रुत्योक्तस्तमाश्रित्याह—

श्रुतिने जो परमार्थतः द्वैतका अभाव बतलाया है, उसीको आश्रित करके कहते हैं—

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।
हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यते ॥ १४ ॥

जिनके मतमें हेतुका कारण फल है और फलका कारण हेतु है वे हेतु और फलके अनादित्वका प्रतिपादन कैसे करते हैं ? ॥ १४ ॥

हेतोर्धर्मादेरादिः कारणं देहादिसंघातः फलं येषां वादिनाम् । तथादिः कारणं हेतुर्धर्माधर्मादिः फलस्य च देहादिसंघातस्य । एवं हेतुफलयोरितरेतरकार्यकारणत्वेनादिमत्त्वं ब्रुवद्भिरेवं हेतोः फलस्य चानादित्वं कथं तैरुपवर्ण्यते ? विप्रतिषिद्धमित्यर्थः । न हि नित्यस्य कूटस्थस्यात्मनो हेतुफलात्मता संभवति ॥ १४ ॥

जिन वादियोंके मतमें हेतु अर्थात् धर्मादिका आदि—कारण देहादि संघातरूप फल है तथा देहादि संघातरूप फलका आदि—कारण धर्माधर्मादि हेतु है* इस प्रकार हेतु और फलका एक-दूसरेके कार्य-कारणरूपसे सकारणत्व बतलानेवाले उन लोगोंद्वारा हेतु और फलका अनादित्व किस प्रकार प्रतिपादन किया जाता है ? अर्थात् उनका यह कथन सर्वथा विरुद्ध है । नित्य कूटस्थ आत्माकी हेतुफलात्मकता तो किसी प्रकार भी सम्भव नहीं है ॥ १४ ॥

कथं तैर्विरुद्धमभ्युपगम्यत इत्युच्यते—

वे किस प्रकार विरुद्ध मतको मानते हैं, सो बतलाया जाता है—

हेतोरादिः फलं येषामादिर्हेतुः फलस्य च ।
तथा जन्म भवेत्तेषां पुत्राज्जन्म पितुर्यथा ॥ १५ ॥

* अर्थात् जो धर्मादिको शरीरादिकी प्राप्तिका कारण और शरीरको धर्मादि-सम्पादनका कारण मानते हैं ।

जिनके मतमें हेतुका कारण फल है और फलका कारण हेतु है उनकी [मानी हुई] उत्पत्ति ऐसी ही है जैसे पुत्रसे पिताका जन्म होना ॥ १५ ॥

हेतुजन्यादेव फलाद्धेतोर्जन्माभ्युपगच्छतां तेषामीदृशो विरोध उक्तो भवति यथा पुत्राज्जन्म पितुः ॥ १५ ॥

हेतुसे उत्पन्न होनेवाले फलसे ही हेतुका जन्म माननेवाले उन लोगोंके मतमें ऐसा ही विरोध कहा जाता है जैसे पुत्रसे पिताका जन्म बतलानेमें ॥ १५ ॥

यथोक्तो विरोधो न युक्तोऽभ्युपगन्तुमिति चेन्मन्यसे—

यदि तुम ऐसा मानते हो कि उपर्युक्त विरोध मानना उचित नहीं है तो—

संभवे हेतुफलयोरेषितव्यः क्रमस्त्वया ।
युगपत्संभवे यस्मादसंबन्धो विषाणवत् ॥ १६ ॥

तुम्हें हेतु और फलकी उत्पत्तिमें क्रम स्वीकार करना चाहिये, क्योंकि उनके साथ-साथ उत्पन्न होनेमें तो [दायें-बायें] सींगोंके समान परस्पर [कार्य-कारणरूप] सम्बन्ध ही नहीं हो सकता ॥ १६ ॥

संभवे हेतुफलयोरुत्पत्तौ क्रम एषितव्यस्त्वयान्वेष्टव्यो हेतुः पूर्वं पश्चात्फलं चेति । इतश्च युगपत्संभवे यस्माद्धेतुफलयोः कार्यकारणत्वेनासंबन्धः, यथा युगपत्संभवतोः सव्येतरगोविषाणयोः ॥ १६ ॥

तुम्हें हेतु और फलकी उत्पत्तिमें क्रम अर्थात् पहले हेतु होता है और फिर फल—इस प्रकार दोनोंका पौर्वापर्य खोजना चाहिये; क्योंकि जिस प्रकार गौके साथ-साथ उत्पन्न होनेवाले दायें और बायें सींगोंका परस्पर सम्बन्ध नहीं होता उसी प्रकार साथ-साथ उत्पन्न होनेपर तो हेतु और फलका परस्पर कार्य-कारणरूपसे सम्बन्ध ही नहीं होगा ॥ १६ ॥

कथमसंबन्धः ? इत्याह—

उनका किस प्रकार सम्बन्ध नहीं होगा ? सो बतलाते हैं—

फलादुत्पद्यमानः सन्न ते हेतुः प्रसिध्यति ।
अप्रसिद्धः कथं हेतुः फलमुत्पादयिष्यति ॥ १७ ॥

तुम्हारे मतमें यदि हेतु फलसे उत्पन्न होता है तो वह [हेतुरूपसे] सिद्ध ही नहीं हो सकता; और असिद्ध हेतु फलको उत्पन्न कैसे करेगा ? ॥ १७ ॥

जन्यात्स्वतोऽलब्धात्मकात् फलादुत्पद्यमानः सञ्शशविषाणादेरिवासतो न हेतुः प्रसिध्यति जन्म न लभते । अलब्धात्मकोऽप्रसिद्धः सञ्शशविषाणादिकल्पस्तव कथं फलमुत्पादयिष्यति ? न हीतरेतरापेक्षसिद्ध्योः शशविषाणकल्पयोः कार्यकारणभावेन संबन्धः क्वचिद्दृष्टः; अन्यथा वेत्यभिप्रायः ॥ १७ ॥

जन्य अर्थात् जो स्वतः प्राप्त नहीं है उस शशशृङ्गके समान असत् फलसे उत्पन्न होनेवाला होनेपर तो हेतु ही सिद्ध नहीं होता अर्थात् उसीका जन्म नहीं हो सकता । इस प्रकार शशशृङ्गके समान जिसकी स्वतः उपलब्धि नहीं है वह अप्रसिद्ध हेतु तुम्हारे मतमें किस प्रकार फल उत्पन्न कर देगा ? एक-दूसरेकी अपेक्षासे सिद्ध होनेवाले तथा शशशृङ्गके समान सर्वथा असत् पदार्थोंका कार्य-कारण-भावसे अथवा किसी और प्रकार कभी सम्बन्ध नहीं देखा गया—यह इसका अभिप्राय है ॥ १७ ॥

यदि हेतोः फलात्सिद्धिः फलसिद्धिश्च हेतुतः ।
कतरत्पूर्वनिष्पन्नं यस्य सिद्धिरपेक्षया ॥ १८ ॥

[तुम्हारे मतमें] यदि फलसे हेतुकी सिद्धि होती है और हेतुसे फलकी सिद्धि होती है तो उनमें पहले कौन हुआ ? जिसकी अपेक्षासे कि दूसरेका आविर्भाव माना जाय ? ॥ १८ ॥

असंबन्धतादोषेणापोदितेऽपि हेतुफलयोः कार्यकारणभावे यदि हेतुफलयोरन्योन्यसिद्धिरभ्युपगम्यत एव त्वया कतरत्पूर्वनिष्पन्नं हेतुफलयोर्यस्य पश्चाद्भाविनः सिद्धिः स्यात्पूर्वसिद्ध्यपेक्षया तद्ब्रूहीत्यर्थः ॥ १८ ॥

हेतु और फलके कार्यकारणभावका असम्बन्धतादोषसे निराकरण कर दिया जानेपर भी यदि तुम हेतु और फलकी एक-दूसरेसे सिद्धि मानते ही हो तो इन हेतु और फलमेंसे पहले कौन हुआ—सो बतलाओ; जिसकी पूर्वसिद्धिकी अपेक्षासे पीछे होनेवालेकी सिद्धि मानी जाय ?—यह इसका तात्पर्य है ॥ १८ ॥

अथैतन्न शक्यते वक्तुमिति मन्यसे—

और यदि तुम ऐसा मानते हो कि यह नहीं बतलाया जा सकता तो—

अशक्तिरपरिज्ञानं क्रमकोपोऽथ वा पुनः ।
एवं हि सर्वथा बुद्धैरजातिः परिदीपिता ॥ १९ ॥

यह अशक्ति (असामर्थ्य) अज्ञान है, अथवा फिर तो इससे उपर्युक्त क्रमका भी विपर्यय हो जाता है [क्योंकि इनके पूर्वापरत्वका ज्ञान न होनेसे इनमें जो पूर्ववर्ती है वह कारण है और पीछे होनेवाला कार्य है ऐसा कोई नियम भी नहीं रह सकता] । इस प्रकार उन बुद्धिमानोंने सर्वथा अजातिको ही प्रकाशित किया है ॥ १९ ॥

सेयमशक्तिरपरिज्ञानं तत्त्वाविवेको मूढतेत्यर्थः । अथ वा योऽयं त्वयोक्तः क्रमो हेतोः फलस्य सिद्धिः फलाच्च हेतोः सिद्धिरितीतरेतरानन्तर्यलक्षणस्तस्य कोपो विपर्यासोऽन्यथाभावः

यह अशक्ति [तुम्हारा] अपरिज्ञान-तत्त्वका अविवेक अर्थात् मूढ़ता ही है । अथवा तुमने जो एक-दूसरेका पौर्वापर्यरूप यह क्रम बतलाया है कि हेतुसे फलकी सिद्धि होती है और फलसे हेतुकी, उसका कोप—विपर्यास अर्थात् अन्यथाभाव

स्यादित्यभिप्रायः । एवं हेतुफलयोः कार्यकारणभावानुपपत्तेरजातिः सर्वस्यानुत्पत्तिः परिदीपिता प्रकाशितान्योन्यपक्षदोषं ब्रुवद्भिर्वादिभिर्बुद्धैः पण्डितैरित्यर्थः ॥ १९ ॥

हो जायगा—ऐसा इसका अभिप्राय है। इस प्रकार हेतु और फलका कार्य-कारणभाव असम्भव होनेके कारण एक-दूसरेके पक्षका दोष बतलानेवाले प्रतिपक्षी बुद्धिमानों अर्थात् पण्डितोंने सबकी अजाति—अनुत्पत्ति ही प्रकाशित की है ॥ १९ ॥

ननु हेतुफलयोः कार्यकारणभाव इत्यस्माभिरुक्तं शब्दमात्रमाश्रित्यच्छलमिदं त्वयोक्तं पुत्राज्जन्म पितुर्यथा, विषाणवच्चासंबन्ध इत्यादि । न ह्यस्माभिरसिद्धाद्धेतोः फलसिद्धिरसिद्धाद्वा फलाद्धेतुसिद्धिरभ्युपगता । किं तर्हि ? बीजाङ्कुरवत्कार्यकारणभावोऽभ्युपगम्यत इति ।

पूर्व०—हमने जो कहा कि हेतु और फलका परस्पर कार्य-कारणभाव है, सो तुमने हमारे शब्दमात्रको पकड़कर छलपूर्वक ऐसा कह दिया कि 'जैसे पुत्रसे पिताका जन्म होना है' '[दायें बायें] सींगोंके समान [उनका परस्पर] सम्बन्ध ही नहीं हो सकता' इत्यादि । हमने असिद्ध हेतुसे फलकी अथवा असिद्ध फलसे हेतुकी सिद्धि कभी नहीं मानी । तो फिर क्या माना है ? हम तो बीज और अङ्कुरके समान केवल उनका कार्य-कारणभाव मानते हैं ।

अत्रोच्यते—

सिद्धान्ती—इसपर हमें यह कहना है कि—

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तः सदा साध्यसमो हि सः ।
न हि साध्यसमो हेतुः सिद्धौ साध्यस्य युज्यते ॥ २० ॥

बीजाङ्कुर नामका जो दृष्टान्त है वह तो सदा साध्यके ही समान है। और जो हेतु साध्यके ही सदृश होता है वह साध्यकी सिद्धिमें योगी नहीं होता ॥ २० ॥

बीजाङ्कुराख्यो दृष्टान्तो यः स साध्येन तुल्यो ममेत्यभिप्रायः ।

बीजाङ्कुरदृष्टान्तस्य साध्यसमत्वम्

ननु प्रत्यक्षः कार्यकारणभावो बीजाङ्कुरयोरनादिः ? न, पूर्वस्य पूर्वस्यापरवदादिमत्त्वाभ्युपगमात् । यथेदानीमुत्पन्नोऽपरोऽङ्कुरो बीजादादिमान्बीजं चापरमन्यस्मादङ्कुरादिति क्रमेणोत्पन्नत्वादादिमत् । एवं पूर्वः पूर्वोऽङ्कुरो बीजं च पूर्वं पूर्वमादिमदेवेति प्रत्येकं सर्वस्य बीजाङ्कुरजातस्यादिमत्त्वात्कस्यचिदप्यनादित्वानुपपत्तिः । एवं हेतुफलानाम् ।

बीजाङ्कुर नामका जो दृष्टान्त है वह तो साध्यके ही समान है—ऐसा मेरा अभिप्राय है । यदि कहो कि बीज और अङ्कुरका कार्य-कारणभाव तो प्रत्यक्ष ही अनादि है, तो ऐसी बात नहीं है क्योंकि उनमेंसे पूर्व-पूर्व [अङ्कुर और फल] को परवर्तियोंके समान आदिमान् माना गया है । जिस प्रकार इस समय बीजसे उत्पन्न हुआ दूसरा अङ्कुर आदिमान् है उसी प्रकार क्रमशः दूसरे अङ्कुरसे उत्पन्न हुआ दूसरा बीज भी आदिमान् है । इस प्रकार पूर्व-पूर्व अङ्कुर और पूर्व-पूर्व बीज आदिमान् ही हैं । अतः सम्पूर्ण बीजाङ्कुरवर्गका प्रत्येक बीज और अङ्कुर आदिमान् होनेके कारण किसीका भी अनादि होना असम्भव है । यही न्याय हेतु और फलके विषयमें भी समझना चाहिये ।

बीजाङ्कुरसंततिनिरासः

अथ बीजाङ्कुरसन्ततेरनादिमत्त्वमिति चेत्? न, एकत्वानुपपत्तेः । न हि बीजाङ्कुरव्यतिरेकेण बीजाङ्कुरसन्ततिर्नामैकाभ्युपगम्यते हेतुफलसन्ततिर्वा तदनादित्ववादिभिः । तस्मात्सूक्तं

यदि कहो कि बीजाङ्कुरपरम्परा तो अनादि हो ही सकती है; तो ऐसा कहना ठीक नहीं; क्योंकि उसका एकत्व नहीं माना गया । हेतु-फलका अनादित्व प्रतिपादन करनेवालोंने बीज और अङ्कुरसे भिन्न बीजाङ्कुरपरम्परा अथवा हेतु-फलपरम्परा नामका कोई एक स्वतन्त्र पदार्थ नहीं माना । अतः

हेतोः फलस्य चानादिः कथं तैरुपवर्ण्यत इति । तथा चान्यदप्यनुपपत्तेर्नच्छलमित्यभिप्रायः। न च लोके साध्यसमो हेतुः साध्यसिद्धौ सिद्धिनिमित्तं प्रयुज्यते प्रमाणकुशलैरित्यर्थः । हेतुरिति दृष्टान्तोऽत्राभिप्रेतः, गमकत्वात् । प्रकृतो हि दृष्टान्तो न हेतुरिति ॥ २० ॥

'वे लोग हेतु और फलका अनादित्व किस प्रकार प्रतिपादन करते हैं' यह कथन बहुत ठीक है । इसके सिवा अनुपपत्ति होनेके कारण भी हमारा कथन छल नहीं है—ऐसा इसका तात्पर्य है । अभिप्राय यह है कि लोकमें प्रमाणकुशल पुरुषोंद्वारा साध्यकी सिद्धिके लिये साध्यके ही सदृश हेतुका प्रयोग नहीं किया जाता । यहाँ 'हेतु' शब्दका अभिप्राय दृष्टान्त है, क्योंकि वह उसीका ज्ञापक है; यहाँ दृष्टान्तका ही प्रकरण भी है—हेतुका नहीं ॥ २० ॥

अजातवाद-निरूपण

कथं बुद्धैरजातिः परिदीपितेत्याह—

पण्डितोंने अजातिको ही किस प्रकार प्रकाशित किया है ? इसपर कहते हैं—

पूर्वापरापरिज्ञानमजातेः परिदीपकम् ।
जायमानाद्धि वै धर्मात्कथं पूर्वं न गृह्यते ॥ २१ ॥

[हेतु और फलके] पौर्वापर्यका जो अज्ञान है वह अनुत्पत्तिका ही प्रकाशक है; क्योंकि यदि कार्य [सचमुच] उत्पन्न हुआ होता तो उसका कारण क्यों न ग्रहण किया जाता ॥ २१ ॥

यदेतद्धेतुफलयोःपूर्वापरापरिज्ञानं तच्चैतदजातेः परिदीपकमवबोधकमित्यर्थः । जायमानो हि

यह जो हेतु और फलके पौर्वापर्यका अज्ञान है वह अजातिका ही परिदीपक अर्थात् ज्ञापक है । यदि कार्य उत्पन्न होता ग्रहण किया

चेद्धर्मो गृह्यते, कथं तस्मात्पूर्वं कारणं न गृह्यते । अवश्यं हि जायमानस्य ग्रहीत्रा तज्जनकं ग्रहीतव्यम् । जन्यजनकयोः संबन्धस्यानपेतत्वात् । तस्माद्-जातिपरिदीपकं तदित्यर्थः॥२१॥

जाता है तो उससे पूर्ववर्ती कारण क्यों नहीं ग्रहण किया जाता ? उत्पन्न होनेवाली वस्तुको ग्रहण करनेवाले पुरुषद्वारा उसकी उत्पत्ति-का कारण भी अवश्य ही ग्रहण किया जाना चाहिये, क्योंकि जन्य और जनक पदार्थोंका सम्बन्ध अनिवार्य है । इसलिये तात्पर्य यह है कि यह अजातिका ही प्रकाशक है ॥ २१ ॥

सदसदादिवादोंकी अनुपपत्ति

इतश्च न जायते किंचित्, यज्जायमानं वस्तु—

इसलिये भी कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती क्योंकि उत्पन्न होनेवाली वस्तु—

स्वतो वा परतो वापि न किंचिद्वस्तु जायते ।
सदसत्सदसद्वापि न किंचिद्वस्तु जायते ॥ २२ ॥

स्वतः अथवा परतः [किसी भी प्रकार] कोई वस्तु उत्पन्न नहीं होती; क्योंकि सत्, असत् अथवा सदसत् ऐसी कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती ॥ २२ ॥

स्वतः परत उभयतो वा सदसत्सदसद्वा न जायते न तस्य केनचिदपि प्रकारेण जन्म संभवति । न तावत्स्वयमेवापरि-निष्पन्नात्स्वतः स्वरूपात्स्वयमेव जायते यथा घटस्तस्मादेव घटात् । नापि परतोऽन्यस्मादन्यो यथा

अपनेसे, दूसरेसे अथवा दोनोंहीसे सत्, असत् अथवा सदसद्रूपसे उत्पन्न नहीं होती—किसी भी प्रकार उसका जन्म होना सम्भव नहीं है । जिस प्रकार घड़ा उसी घड़ेसे उत्पन्न नहीं हो सकता उसी प्रकार कोई भी वस्तु स्वयं अपने अपरिनिष्पन्न (पूर्णतया तैयार न हुए) स्वरूपसे स्वतः ही उत्पन्न नहीं हो सकती । और न किसी अन्यसे ही अन्यकी

घटात्पटः पटात्पटान्तरम् । तथा नोभयतः, विरोधात्; यथा घटपटाभ्यां घटः पटो वा न जायते ।

उत्पत्ति हो सकती है; जैसे घटसे पटकी अथवा पटसे पटान्तरकी। तथा इसी तरह विरोध होनेके कारण दोनोंसे भी किसीकी उत्पत्ति नहीं हो सकती; जिस प्रकार कि घट और पट दोनोंसे घट या पट कोई उत्पन्न नहीं हो सकता ।

ननु मृदो घटो जायते पितुश्च पुत्रः । सत्यम्, अस्ति जायत इति प्रत्ययः शब्दश्च मूढानाम् । तावेव शब्दप्रत्ययौ विवेकिभिः परीक्ष्येते किं सत्यमेव तावुत मृषेति । यावता परीक्ष्यमाणे शब्दप्रत्ययविषयं वस्तु घटपुत्रादिलक्षणं शब्दमात्रमेव तत् । "वाचारम्भणम्" (छा० उ० ६ । १ । ४) इति श्रुतेः ।

यदि कहो कि मिट्टीसे घड़ा उत्पन्न होता है और पितासे पुत्रका जन्म होता है तो, ठीक है, परन्तु 'उत्पन्न होता है' ऐसा शब्द और उसकी प्रतीति मूर्खोंको ही हुआ करती है । विवेकी लोग तो उन शब्द और प्रतीतिकी—वे सत्य हैं अथवा मिथ्या—इस प्रकार परीक्षा किया करते हैं । किन्तु परीक्षा की जानेपर तो शब्द और उसकी प्रतीतिकी विषयभूत घट अथवा पुत्रादिरूप वस्तु केवल शब्दमात्र ही है; जैसा कि "वाचारम्भणम्" इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित होता है ।

सच्चेन्न जायते सत्त्वान्मृत्पित्रादिवत् । यद्यसत्तथापि न जायतेऽसत्त्वादेव शशविषाणादिवत् ।

यदि वस्तु सत् (विद्यमान) है तो मृत्तिका और पिता आदिके समान सत् होनेके कारण ही उत्पन्न नहीं हो सकती यदि असत् है, तो भी शशशृङ्गादिके समान असत् होनेके कारण ही उत्पन्न नहीं हो सकती । और यदि सदसत् है तो

अथ सदसत्तथापि न जायते विरुद्धस्यैकस्यासंभवात् । अतो न किंचिद्वस्तु जायत इति सिद्धम्।

येषां पुनर्जनिरेव जायत इति क्रियाकारकफलैकत्वम् अभ्युपगम्यते क्षणिकत्वं च वस्तुनः, ते दूरत एव न्यायापेताः । इदमित्थमित्यवधारणक्षणान्तरानवस्थानादननुभूतस्य स्मृत्यनुपपत्तेश्च ॥ २२ ॥

भी उत्पन्न नहीं हो सकता; क्योंकि एक ही वस्तु विरुद्ध स्वभाववाली होनी असम्भव है । अतः यही सिद्ध हुआ कि कोई भी वस्तु उत्पन्न नहीं होती ।

इसके विपरीत जिन (बौद्धों) के मतमें जन्मक्रियाका ही जन्म होता है—इस प्रकार जो क्रिया, कारक और फलकी एकता तथा वस्तुका क्षणिकत्व स्वीकार करते हैं वे तो बिल्कुल ही युक्तिशून्य हैं क्योंकि 'यह ऐसा है' इस प्रकार निश्चय करनेके क्षणसे दूसरे ही क्षणमें स्थिति न रहनेके कारण [पदार्थका अनुभव नहीं हो सकता]; और बिना अनुभव हुए पदार्थकी स्मृति होना असम्भव है ॥ २२ ॥

हेतु-फलका अनादित्व उनकी अनुत्पत्तिका सूचक है

किं च हेतुफलयोरनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया बलाद्धेतुफलयोरजन्मैवाभ्युपगतं स्यात् । तत्कथम् ?

यही नहीं, हेतु और फलका अनादित्व स्वीकार करनेवाले तुम्हारे द्वारा तो बलात्कारसे हेतु और फलकी अनुत्पत्ति ही स्वीकार कर ली गयी है । सो किस प्रकार ?—

हेतुर्न जायतेऽनादेः फलं चापि स्वभावतः ।
आदिर्न विद्यते यस्य तस्य ह्यादिर्न विद्यते ॥ २३ ॥

अनादि फलसे कोई हेतु उत्पन्न नहीं हो सकता और इसी प्रकार स्वभावसे ही [अनादि हेतुसे] फलकी भी उत्पत्ति नहीं हो सकती,

क्योंकि जिस वस्तुका कोई आदि (कारण) नहीं होता उसका आदि (जन्म) भी नहीं होता ॥ २३ ॥

अनादेरादिरहितात्फलाद्धेतुर्न जायते । न ह्यनुत्पन्नादनादेः फलाद्धेतोर्जन्मेष्यते त्वया । फलं चादिरहितादनादेर्हेतोरजात्स्वभावत एव निर्निमित्तं जायत इति नाभ्युपगम्यते ।

तस्मादनादित्वमभ्युपगच्छता त्वया हेतुफलयोरजन्मैवाभ्युपगम्यते । यस्मादादिः कारणं न विद्यते यस्य लोके तस्य ह्यादिः पूर्वोक्ता जातिर्न विद्यते । कारणवत एव ह्यादिरभ्युपगम्यते नाकारणवतः ॥ २३ ॥

अनादि अर्थात् आदिरहित फलसे हेतु उत्पन्न नहीं होता । जिसकी कभी उत्पत्ति नहीं हुई ऐसे अनादि फलसे तो तुम हेतुका जन्म मानते ही नहीं हो; और न ऐसा ही मानते हो कि अनादि—आदिरहित अर्थात् अजन्मा हेतुसे बिना किसी निमित्तके स्वभावतः ही फलकी उत्पत्ति हो जाती है ।

अतः हेतु और फलका अनादित्व माननेवाले तुम्हारे द्वारा उनकी अनुत्पत्ति ही स्वीकार कर ली जाती है, क्योंकि लोकमें जिस वस्तुका आदि—कारण नहीं होता उसका आदि अर्थात् पूर्वोक्त जन्म भी नहीं होता । जिसका कोई कारण होता है उसीका जन्म भी माना जाता है; कारणरहित पदार्थका नहीं ॥ २३ ॥

बाह्यार्थवाद-निरूपण

उक्तस्यैवार्थस्य दृढीकरणचिकीर्षया पुनराक्षिपति—

पूर्वोक्त अर्थको ही पुष्ट करनेकी इच्छासे फिर दोष प्रदर्शित करते हैं—

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमन्यथा द्वयनाशतः ।
संक्लेशस्योपलब्धेश्च परतन्त्रास्तिता मता ॥ २४ ॥

प्रज्ञप्ति (शब्दस्पर्शादि ज्ञान) को सनिमित्त (बाह्यविषययुक्त) मानना चाहिये; नहीं तो [शब्दस्पर्शादि] द्वैतका नाश हो जायगा ।

इसके सिवा [अग्निदाह आदि] क्लेशकी उपलब्धिसे भी अन्य मतावलम्बियोंके शास्त्रद्वारा प्रतिपादित द्वैतकी सत्ता मानी गयी है ॥ २४ ॥

प्रज्ञानं प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिस्तस्याः सनिमित्तत्वम्; निमित्तं कारणं विषय इत्येतत्सनिमित्तत्वं सविषयत्वं स्वात्मव्यतिरिक्तविषयतेत्येतत् प्रतिजानीमहे । न हि निर्विषया प्रज्ञप्तिः शब्दादिप्रतीतिः स्यात्, तस्याः सनिमित्तत्वात् । अन्यथा निर्विषयत्वे शब्दस्पर्शनीलपीतलोहितादिप्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य नाशतो नाशोऽभावः प्रसज्येतेत्यर्थः । न च प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्याभावोऽस्ति प्रत्यक्षत्वात् । अतः प्रत्ययवैचित्र्यस्य द्वयस्य दर्शनात्, परेषां तन्त्रं परतन्त्रमित्यन्यशास्त्रम्, तस्य परतन्त्रस्य परतन्त्राश्रयस्य बाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता मताभिप्रेता ।

न हि प्रज्ञप्तेः प्रकाशमात्रस्वरूपाया नीलपीतादिबाह्यालम्बन-

प्रज्ञान अर्थात् शब्दादि-प्रतीतिका नाम प्रज्ञप्ति है । वह सनिमित्त है । निमित्त—कारण अर्थात् विषयको कहते हैं; अतः सनिमित्त—सविषय यानी अपनेसे अतिरिक्त विषयके सहित है—ऐसी हम [उसके विषयमें] प्रतिज्ञा करते हैं । [अर्थात् हमारा कथन है कि] प्रज्ञप्ति यानी शब्दादि-प्रतीति निर्विषया नहीं हो सकती, क्योंकि वह सनिमित्ता है । अन्यथा उसे निर्विषय माननेपर तो शब्द, स्पर्श एवं नील, पीत और लोहित आदि प्रतीतिकी विचित्रतारूप द्वैतका नाश हो जायगा अर्थात् उसके नाश यानी अभावका प्रसंग उपस्थित हो जायगा और प्रत्यक्ष-सिद्ध होनेके कारण प्रत्ययवैचित्र्यरूप द्वैतका अभाव है नहीं । अतः प्रत्ययवैचित्र्यरूप द्वैतकी उपलब्धिसे, परतन्त्र यानी दूसरोंके शास्त्र; उन परकीय तन्त्रोंका अर्थात् परकीय तन्त्रोंके आश्रित जो प्रज्ञानके अतिरिक्त अन्य बाह्य पदार्थ हैं उनका अस्तित्व भी स्वीकार किया गया है ।

केवल प्रकाशमात्रस्वरूपा प्रज्ञप्तिकी यह विचित्रता नील-पीतादि

वैचित्र्यमन्तरेण स्वभावभेदेनैव वैचित्र्यं संभवति । स्फटिकस्येव नीलाद्युपाध्याश्रयैर्विना वैचित्र्यं न घटत इत्यभिप्रायः ।

इतश्च परतन्त्राश्रयस्य बाह्यार्थस्य ज्ञानव्यतिरिक्तस्यास्तिता । संक्लेशनं संक्लेशो दुःखमित्यर्थः। उपलभ्यते ह्यग्निदाहादिनिमित्तं दुःखम् । यद्यग्न्यादिबाह्यं दाहादिनिमित्तं विज्ञानव्यतिरिक्तं न स्यात्ततो दाहादिदुःखं नोपलभ्येत । उपलभ्यते तु । अतस्तेन मन्यामहेऽस्ति बाह्योऽर्थ इति । न हि विज्ञानमात्रे संक्लेशो युक्तः, अन्यत्रादर्शनादित्यभिप्रायः।२४।

बाह्य आलम्बनोंकी विचित्रताके सिवा केवल स्वभावभेदसे ही होनी सम्भव नहीं है । तात्पर्य यह है कि स्फटिकके समान, नील-पीतादि उपाधियोंको आश्रय किये बिना, यह विचित्रता नहीं हो सकती ।

इसके सिवा इसलिये भी दूसरोंके शास्त्रोंके आश्रित ज्ञानव्यतिरिक्त बाह्य पदार्थोंका अस्तित्व स्वीकार किया गया है कि अग्निदाहादिके कारणसे होनेवाला संक्लेश यानी दुःख उपलब्ध होता है । संक्लेशका अर्थ संक्लेशन अर्थात् दुःख है । यदि विज्ञानसे अतिरिक्त दाहादिका निमित्तभूत अग्नि आदि कोई बाह्य पदार्थ न होता तो दाहादिजनित दुःख उपलब्ध नहीं होना चाहिये था । किन्तु उपलब्ध होता ही है; इससे हम मानते हैं कि बाह्य पदार्थ अवश्य है । अभिप्राय यह है कि केवल विज्ञानमात्रमें क्लेश होना सम्भव नहीं है, क्योंकि अन्यत्र ऐसा नहीं देखा गया ॥ २४ ॥

विज्ञानवादिकर्तृक बाह्यार्थवादनिषेध

अत्रोच्यते—

इस विषयमें हमारा कथन है कि—

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमिष्यते युक्तिदर्शनात् ।
निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात् ॥ २५ ॥

पूर्वोक्त युक्तिके अनुसार तुम प्रज्ञप्तिका सविषयत्व स्वीकार करते हो। परन्तु तत्त्वदृष्टिसे हम उस विषयका अविषयत्व मानते हैं ॥ २५ ॥

बाढमेवं प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वं द्वयसंक्लेशोपलब्धियुक्तिदर्शनादिष्यते त्वया। स्थिरीभव तावत्त्वं युक्तिदर्शनं वस्तुनस्तथात्वाभ्युपगमे कारणमित्यत्र।

ठीक है, इस प्रकार दुःखमय द्वैतकी उपलब्धिरूप युक्तिके अनुसार तुम प्रज्ञप्तिका सविषयत्व स्वीकार करते हो; परन्तु 'युक्तिदर्शन वस्तुकी यथार्थताके ज्ञानमें कारण है'—अपने इस सिद्धान्तमें तुम स्थिर हो जाओ।

ब्रूहि किं तत इति।

बाह्यार्थवादी—कहिये, उससे क्या आपत्ति होती है?

उच्यते। निमित्तस्य प्रज्ञप्त्यालम्बनाभिमतस्य घटादेरनिमित्तत्वमनालम्बनत्वं वैचित्र्याहेतुत्वमिष्यतेऽस्माभिः। कथम्? भूतदर्शनात्परमार्थदर्शनादित्येतत्। न हि घटो यथाभूतमृद्रूपदर्शने सति तद्व्यतिरेकेणास्ति, यथाश्वान्महिषः पटो वा तन्तुव्यतिरेकेण, तन्तवश्चांशुव्यतिरेकेणेत्येवमुत्तरोत्तरभूतदर्शन आ शब्दप्रत्ययनिरोधान्नैव निमित्तमुपलभामह इत्यर्थः।

विज्ञानवादी—हमारा कथन है कि प्रज्ञप्तिके आश्रयरूपसे स्वीकार किये हुए घटादि विषयका हम अविषयत्व-प्रतीतिका अनाश्रयत्व अर्थात् विचित्रताका अहेतुत्व मानते हैं। कैसे मानते हैं? भूतदृष्टिसे अर्थात् परमार्थदृष्टिसे। जिस प्रकार अश्वसे महिष पृथक् है, उस प्रकार मृत्तिकाके यथार्थ स्वरूपका ज्ञान होनेपर, घट उससे पृथक् सिद्ध नहीं होता। इसी प्रकार तन्तुसे पृथक् पट और अंशुसे पृथक् तन्तु भी सिद्ध नहीं होते। तात्पर्य यह है कि इसी तरह उत्तरोत्तर यथार्थ तत्त्वको देखते-देखते शब्द-प्रतीतिका निरोध हो जानेपर हम कोई भी विषय नहीं देखते।

अथ वाभूतदर्शनाद्बाह्यार्थस्यानिमित्तत्वमिष्यते, रज्ज्वादाविव सर्पादेरित्यर्थः । भ्रान्तिदर्शनविषयत्वाच्च निमित्तस्यानिमित्तत्वं भवेत् । तदभावेऽभावात् न हि सुषुप्तसमाहितमुक्तानां भ्रान्तिदर्शनाभाव आत्मव्यतिरिक्तो बाह्योऽर्थ उपलभ्यते । न ह्युन्मत्तावगतं [illegible]त्तैरपि तथाभूतं गम्यते । एतेन द्वयदर्शनं संक्लेशोपलब्धिश्च प्रत्युक्ता ॥ २५ ॥

अथवा [यों समझो कि] जिस प्रकार रज्जु आदिमें आरोपित सर्पादि वस्तुतः प्रतीतिके आलम्बन नहीं हैं उसी प्रकार अभूतदर्शनके कारण हम बाह्यार्थोंको प्रतीतिका आलम्बन नहीं मानते । भ्रान्तिदृष्टिके विषय होनेके कारण इन निमित्तोंका अनिमित्तत्व है, क्योंकि उसका अभाव होनेपर इनकी भी उपलब्धि नहीं होती । सोये हुए, समाधिस्थ और मुक्त पुरुषोंको, उनकी भ्रान्तिदृष्टिका अभाव हो जानेपर, आत्मासे अतिरिक्त किसी बाह्य पदार्थकी उपलब्धि नहीं होती । उन्मत्त पुरुषको दिखायी देनेवाली वस्तु उन्मादशून्य मनुष्यको भी यथार्थ नहीं जान पड़ती । इस कथनसे द्वैतदर्शन और क्लेशकी उपलब्धि दोनोंहीका निराकरण किया गया है ॥ २५ ॥

यस्मान्नास्ति बाह्यं निमित्तमतः—

क्योंकि बाह्य विषय है ही नहीं, इसलिये—

चित्तं न संस्पृशत्यर्थं नार्थाभासं तथैव च ।
अभूतो हि यतश्चार्थो नार्थाभासस्ततः पृथक् ॥ २६ ॥

चित्त किसी पदार्थका स्पर्श नहीं करता और इसी प्रकार न किसी अर्थाभासका ही ग्रहण करता है । क्योंकि पदार्थ है ही नहीं इसलिये पदार्थाभास भी उस चित्तसे पृथक् नहीं है ॥ २६ ॥

चित्तं न स्पृशत्यर्थं बाह्यालम्बनविषयम्, नाप्यर्थाभासं चित्तत्वात्स्वप्नचित्तवत् । अभूतो हि जागरितेऽपि स्वप्नार्थवदेव बाह्यः शब्दाद्यर्थो यत उक्तहेतुत्वाच्च । नाप्यर्थाभासश्चित्तात्पृथक्चित्तमेव हि घटाद्यर्थवदवभासते यथा स्वप्ने ॥ २६ ॥

चित्त, चित्त होनेके कारण ही स्वप्नचित्तके समान, बाह्य आलम्बनके विषयभूत किसी पदार्थको स्पर्श नहीं करता और न अर्थाभासको ही ग्रहण करता है, क्योंकि उपर्युक्त हेतुसे ही स्वप्नगत पदार्थोंके समान जागरित अवस्थामें भी शब्दादि बाह्य पदार्थ हैं नहीं, और न चित्तसे पृथक् अर्थाभास ही है। घटादि पदार्थोंके समान चित्त ही भासता है, जैसा कि वह स्वप्नमें भासा करता है ॥ २६ ॥

ननु विपर्यासस्तर्ह्यसति घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य । तथा च सत्यविपर्यासः क्वचिद्वक्तव्य इति । अत्रोच्यते—

घटादिके न होनेपर भी चित्तको घटादिकी प्रतीति होना—यह तो विपरीत ज्ञान है । ऐसी अवस्थामें अविपरीत (सम्यक्) ज्ञान कब होगा ? यह बतलाना चाहिये । इसपर कहते हैं—

निमित्तं न सदा चित्तं संस्पृशत्यध्वसु त्रिषु ।
अनिमित्तो विपर्यासः कथं तस्य भविष्यति ॥ २७ ॥

[भूत, भविष्यत् और वर्तमान] तीनों अवस्थाओंमें चित्त कभी किसी विषयको स्पर्श नहीं करता । फिर उसे बिना निमित्तके ही विपरीत ज्ञान कैसे हो सकता है ? ॥ २७ ॥

निमित्तं विषयमतीतानागतवर्तमानाध्वसु त्रिष्वपि सदा चित्तं न स्पृशेदेव हि । यदि हि

अतीत, अनागत और वर्तमान—इन तीनों ही अवस्थाओंमें चित्त कभी निमित्त यानी विषयको स्पर्श नहीं

क्वचित् संस्पृशेत् सोऽविपर्यासः परमार्थ इति । अतस्तदपेक्षया-सति घटे घटाद्याभासता विपर्यासः स्यान्न तु तदस्ति कदाचिदपि चित्तस्यार्थसंस्पर्शनम् । तस्माद-निमित्तो विपर्यासः कथं तस्य चित्तस्य भविष्यति; न कथंचिद्वि-पर्यासोऽस्तीत्यभिप्रायः । अयमेव हि स्वभावश्चित्तस्य यदुतासति निमित्ते घटादौ तद्वदवभासनम् ॥ २७ ॥

करता । यदि वह कभी उसे स्पर्श करता तो 'वह अविपर्यास अर्थात् परमार्थ है' ऐसा माना जाता । अतः उसकी अपेक्षासे ही घटके न होनेपर भी घटका प्रतीत होना विपर्यास कहलाता । किन्तु चित्तका पदार्थके साथ कभी स्पर्श है ही नहीं । अतः बिना निमित्तके ही उस चित्तको विपरीत ज्ञान कैसे हो सकता है ? तात्पर्य यह है कि उसे किसी प्रकार विपरीत ज्ञान है ही नहीं । चित्तका यही स्वभाव है कि घटादि निमित्तके न होनेपर भी उनकी प्रतीति होती रहे ॥ २७ ॥

विज्ञानवादका खण्डन

प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वमित्याद्ये-तदन्तं विज्ञानवादिनो बौद्धस्य वचनं बाह्यार्थवादिपक्षप्रतिषेध-परमाचार्येणानुमोदितम् । तदेव हेतुं कृत्वा तत्पक्षप्रतिषेधाय तदिदमुच्यते—

'प्रज्ञप्तेः सनिमित्तत्वम्' इस (पचीसवें) श्लोकसे लेकर यहाँतक आचार्यने विज्ञानवादी बौद्धके बाह्यार्थवादीके पक्षका प्रतिषेध करने-वाले वचनका अनुमोदन किया । अब उसीको हेतु बनाकर उसीके पक्षका प्रतिषेध करनेके लिये इस प्रकार कहा जाता है—

तस्मान्न जायते चित्तं चित्तदृश्यं न जायते ।
तस्य पश्यन्ति ये जातिं खे वै पश्यन्ति ते पदम् ॥ २८ ॥

इसलिये चित्त भी उत्पन्न नहीं होता और न चित्तका दृश्य ही उत्पन्न होता है । जो लोग उसका जन्म देखते हैं वे निश्चय ही आकाशमें [पक्षी आदिके] चरण (चरण-चिह्न) देखते हैं ॥ २८ ॥

यस्मादसत्येव घटादौ घटाद्याभासता चित्तस्य विज्ञानवादिनाभ्युपगता तदनुमोदितम् अस्माभिरपि भूतदर्शनात्, तस्मात्तस्यापि चित्तस्य जायमानावभासतासत्येव जन्मनि युक्ता भवितुमित्यतो न जायते चित्तम्, यथा चित्तदृश्यं न जायते।

अतस्तस्य चित्तस्य ये जातिं पश्यन्ति विज्ञानवादिनः क्षणिकत्वदुःखित्वशून्यत्वानात्मत्वादि च, तेनैव चित्तेन चित्तस्वरूपं द्रष्टुमशक्यं पश्यन्तः खे वै पश्यन्ति ते पदं पक्ष्यादीनाम्। अत इतरेभ्योऽपि द्वैतिभ्योऽत्यन्तसाहसिका इत्यर्थः। येऽपि शून्यवादिनः पश्यन्त एव सर्वशून्यतां स्वदर्शनस्यापि शून्यतां प्रतिजानते ते ततोऽपि साहसिकतराः खं मुष्टिनापि जिघृक्षन्ति ॥ २८ ॥

क्योंकि विज्ञानवादीने घटादिके न होनेपर भी चित्तको घटादिकी प्रतीति होनी स्वीकार की है और यथार्थदृष्टि होनेके कारण उसका हमने भी अनुमोदन किया है, इसलिये उसकी मानी हुई चित्तकी उत्पत्तिकी प्रतीति भी उसकी उत्पत्तिके अभावमें ही होनी सम्भव है। अतः जिस प्रकार चित्तके दृश्यका जन्म नहीं होता उसी प्रकार चित्तकी भी उत्पत्ति नहीं होती।

इसलिये जो विज्ञानवादी उस चित्तकी उत्पत्ति तथा उसके क्षणिकत्व, दुःखित्व, शून्यत्व एवं अनात्मत्व आदि देखते हैं—उस चित्तसे ही, जिसका देखना सर्वथा असम्भव है ऐसे चित्तके स्वरूपको देखनेवाले वे निश्चय ही आकाशमें पक्षी आदिके चरण देखते हैं। अतः तात्पर्य यह है कि वे अन्य द्वैतवादियोंकी अपेक्षा भी अधिक साहसी हैं और जो शून्यवादी सबकी शून्यता देखते हुए अपने दर्शनकी भी शून्यताकी प्रतिज्ञा करते हैं वे तो उनसे भी बढ़कर साहसी हैं—वे आकाशको मुट्ठीसे ही पकड़ना चाहते हैं ॥ २८ ॥

उपक्रमका उपसंहार

उक्तैर्हेतुभिरजमेकं ब्रह्मेति सिद्धं यत्पुनरादौ प्रतिज्ञातं तत्फलोपसंहारार्थोऽयं श्लोकः—

पूर्वोक्त हेतुओंसे यह सिद्ध हुआ कि एक अजन्मा ब्रह्म ही है। अब, पहले जिसकी प्रतिज्ञा की है उसके फलका उपसंहार करनेके लिये यह श्लोक है—

अजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्ततः।
प्रकृतेरन्यथाभावो न कथंचिद्भविष्यति॥ २९॥

क्योंकि अजन्मा [चित्त] का ही जन्म होता है इसलिये अजाति ही उसका स्वभाव है; और स्वभावकी विपरीतता किसी प्रकार नहीं होगी॥ २९॥

अजातं यच्चित्तं ब्रह्मैव जायत इति वादिभिः परिकल्प्यते तदजातं जायते यस्मादजातिः प्रकृतिस्तस्य। ततस्तस्मादजातरूपायाः प्रकृतेरन्यथाभावो जन्म न कथंचिद्भविष्यति॥ २९॥

अजात जो ब्रह्मरूप चित्त है वही उत्पन्न होता है—ऐसी वादियोंद्वारा कल्पना की जाती है; क्योंकि उस अजातका ही जन्म होता है इसलिये अजाति उसका स्वभाव है। तब, इसीलिये उस अजातरूप स्वभावका जन्मरूप विपरीतभाव किसी प्रकार नहीं होगा॥ २९॥

अयं चापर आत्मनः संसारमोक्षयोः परमार्थसद्भाववादिनां दोष उच्यते—

आत्माके संसार और मोक्ष—दोनोंहीका पारमार्थिक अस्तित्व स्वीकार करनेवाले वादियोंके पक्षका यह एक दूसरा दोष बतलाया जाता है—

अनादेरन्तवत्त्वं च संसारस्य न सेत्स्यति ।
अनन्तता चादिमतो मोक्षस्य न भविष्यति ॥ ३० ॥

अनादि संसारका तो कभी अन्तवत्त्व सिद्ध नहीं हो सकेगा और सादि मोक्षकी कभी अनन्तता नहीं हो सकेगी ॥ ३० ॥

अनादेरतीतकोटिरहितस्य संसारस्यान्तवत्त्वं समाप्तिर्न सेत्स्यति युक्तितः सिद्धिं नोपयास्यति । न ह्यनादिः सन्नन्तवान्कश्चित्पदार्थो दृष्टो लोके । बीजाङ्कुरसंबन्धनैरन्तर्यविच्छेदो दृष्ट इति चेत्, न; एकवस्त्वभावेनापोदितत्वात् ।

अनादि—अतीतकोटिसे रहित संसारका अन्तवत्त्व अर्थात् समाप्त होना युक्तिसे सिद्ध नहीं होगा । लोकमें कोई भी पदार्थ अनादि होकर अन्तवान् होता नहीं देखा गया है । यदि कहो कि बीजाङ्कुरसम्बन्धकी निरन्तरताका विच्छेद होता देखा गया है ! तो ऐसा कहना ठीक नहीं, क्योंकि बीजाङ्कुरसन्तति कोई एक पदार्थ न होनेके कारण उसके अनादित्वका निराकरण तो पहले कर दिया गया है ।

तथानन्ततापि विज्ञानप्राप्तिकालप्रभवस्य मोक्षस्यादिमतो न भविष्यति, घटादिष्वदर्शनात् । घटादिविनाशवदवस्तुत्वाददोष इति चेत्, तथा च मोक्षस्य परमार्थसद्भावप्रतिज्ञाहानिः ।

इसी प्रकार विज्ञानप्राप्तिके समय होनेवाले सादि मोक्षकी अनन्तता भी नहीं होगी, क्योंकि घटादि [जन्य पदार्थों] में ऐसा देखा नहीं गया । यदि कहो कि घटादिनाशके समान अवस्तुरूप होनेसे [मोक्षमें] यह दोष नहीं आ सकता तो इससे मोक्षके पारमार्थिक सद्भावविषयक प्रतिज्ञाकी हानि होगी । इसके सिवा [यदि मोक्षको असद्रूप ही माना जाय तो भी] शशश्रृङ्गके समान असत्

असत्त्वादेव शशविषाणस्येवादि-मत्त्वाभावश्च ॥ ३० ॥ | होनेके कारण भी उसके आदिमत्त्व-का अभाव ही है ॥ ३० ॥

प्रपञ्चके असत्यत्वमें हेतु

आदावन्ते च यन्नास्ति वर्तमानेऽपि तत्तथा ।
वितथैः सदृशाः सन्तोऽवितथा इव लक्षिताः ॥ ३१ ॥

जो आदि और अन्तमें नहीं है वह वर्तमानमें भी वैसा [अर्थात् असद्रूप] ही है । ये पदार्थसमूह असत्के समान होकर भी सत्-जैसे दिखायी देते हैं ॥ ३१ ॥

सप्रयोजनता तेषां स्वप्ने विप्रतिपद्यते ।
तस्मादाद्यन्तवत्त्वेन मिथ्यैव खलु ते स्मृताः ॥ ३२ ॥

उन (जाग्रत्-पदार्थों) की सप्रयोजनता स्वप्नावस्थामें असिद्ध हो जाती है । अतः आदि-अन्तयुक्त होनेके कारण वे निश्चय ही मिथ्या माने गये हैं ॥ ३२ ॥

वैतथ्ये कृतव्याख्यानौ श्लोकाविह संसारमोक्षाभाव-प्रसङ्गेन पठितौ ॥३१-३२॥ | वैतथ्यप्रकरणमें इन दोनों श्लोकोंकी व्याख्या की जा चुकी है । यहाँ संसार और मोक्षके अभावके प्रसङ्गमें उन्हें फिर पढ़ दिया है ॥ ३१-३२ ॥

सर्वे धर्मा मृषा स्वप्ने कायस्यान्तर्निदर्शनात् ।
संवृतेऽस्मिन्प्रदेशे वै भूतानां दर्शनं कुतः ॥ ३३ ॥

जब कि शरीरके भीतर देखे जानेके कारण स्वप्नावस्थामें सभी पदार्थ मिथ्या हैं तो इस संकुचित स्थानमें (निरवकाश ब्रह्ममें) ही भूतोंका दर्शन कैसे हो सकता है ? ॥ ३३ ॥

निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनादित्ययमर्थः प्रपञ्च्यत एतैः श्लोकैः ॥ ३२ ॥

इन श्लोकोंद्वारा "निमित्तस्यानिमित्तत्वमिष्यते भूतदर्शनात्" (४ । २५) इस श्लोकके ही अर्थका विस्तार किया गया है ॥ ३३ ॥

स्वप्नका मिथ्यात्वनिरूपण

न युक्तं दर्शनं गत्वा कालस्यानियमाद्गतौ ।
प्रतिबुद्धश्च वै सर्वस्तस्मिन्देशे न विद्यते ॥ ३४ ॥

देशान्तरमें जानेमें जो समय लगता है, [स्वप्नावस्थामें] उसका नियम न होनेके कारण स्वप्नके पदार्थोंको उनके पास जाकर देखना तो सम्भव नहीं है । इसके सिवा जागनेपर भी कोई उस (स्वप्नदृष्ट) देशमें नहीं रहता ॥ ३४ ॥

जागरिते गत्यागमनकालो नियतो देशः प्रमाणतो यस्तस्यानियमान्नियमस्याभावात्स्वप्ने न देशान्तरगमनमित्यर्थः ॥ ३४ ॥

जागृतिमें जो आने-जानेके समय और प्रमाणसिद्ध देश नियत हैं उनका नियम न होनेके कारण स्वप्नावस्थामें देशान्तरमें जाना नहीं होता—यह इसका अभिप्राय है ॥ ३४ ॥

मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य संबुद्धो न प्रपद्यते ।
गृहीतं चापि यत्किंचित्प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥ ३५ ॥

[स्वप्नावस्थामें] मित्रादिके साथ मन्त्रणा कर [वह स्वप्नदर्शी पुरुष] जागनेपर उसे नहीं पाता; तथा उसने जो कुछ [स्वप्नावस्थामें] ग्रहण किया होता है उसे जागनेपर नहीं देखता ॥ ३५ ॥

मित्राद्यैः सह संमन्त्र्य तदेव मन्त्रणं प्रतिबुद्धो न प्रपद्यते

[स्वप्नमें] मित्रादिके साथ मन्त्रणा करके जाग पड़नेपर फिर उसी मन्त्रणाको नहीं पाता और

गृहीतं च यत्किंचिद्धिरण्यादि न प्राप्नोति । अतश्च न देशान्तरं गच्छति स्वप्ने ॥ ३५ ॥

[उस समय] उसने जो कुछ स्वर्णादि ग्रहण किया होता है उसे भी प्राप्त नहीं करता । इसलिये भी स्वप्नावस्थामें वह किसी देशान्तरको नहीं जाता ॥ ३५ ॥

स्वप्ने चावस्तुकः कायः पृथगन्यस्य दर्शनात् ।
यथा कायस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकम् ॥ ३६ ॥

स्वप्नमें जो शरीर होता है वह भी अवस्तु है, क्योंकि उससे भिन्न एक दूसरा शरीर [शय्यापर पड़ा हुआ] देखा जाता है । जैसा वह शरीर है वैसा ही संपूर्ण चित्तदृश्य अवस्तुरूप है ॥ ३६ ॥

स्वप्ने चाटन्दृश्यते यः कायः सोऽवस्तुकस्ततोऽन्यस्य स्वापदेशस्थस्य पृथक्कायान्तरस्य दर्शनात् । यथा स्वप्नदृश्यः कायोऽसंस्तथा सर्वं चित्तदृश्यमवस्तुकं जागरितेऽपि चित्तदृश्यत्वादित्यर्थः । स्वप्नसमत्वादसज्जागरितमपीति प्रकरणार्थः॥३६॥

स्वप्नमें घूमता हुआ जो शरीर देखा जाता है वह अवस्तु है, क्योंकि उस स्वप्नप्रदेशस्थ शरीरसे भिन्न एक और शरीर [शय्यापर पड़ा हुआ] देखा जाता है । जिस प्रकार स्वप्नमें दिखायी देनेवाला शरीर असत् है उसी प्रकार जागरित अवस्थामें सारा चित्तदृश्य, केवल चित्तका ही दृश्य होनेके कारण, असत् है—यह इसका तात्पर्य है । प्रकृत अर्थ यह हुआ कि स्वप्नके समान होनेके कारण जाग्रत्-अवस्था भी असत् ही है ॥ ३६ ॥

स्वप्न और जाग्रत्का कार्य-कारणत्व व्यावहारिक है

इतश्चासत्त्वं जाग्रद्वस्तुनः—

जाग्रत्पदार्थोंकी असत्ता इसलिये भी है कि—

ग्रहणाज्जागरितवत्तद्धेतुः स्वप्न इष्यते ।
तद्धेतुत्वात्तु तस्यैव सज्जागरितमिष्यते ॥ ३७ ॥

जाग्रत्‌के समान ग्रहण किया जानेके कारण स्वप्न उसका कार्य माना जाता है । किन्तु जाग्रत्‌का कार्य होनेके कारण स्वप्नद्रष्टाके लिये ही जाग्रत्-अवस्था सत्य मानी जाती है ॥ ३७ ॥

जागरितवज्जागरितस्य इव ग्रहणाद्ग्राह्यग्राहकरूपेण स्वप्नस्य तज्जागरितं हेतुरस्य स्वप्नस्य स स्वप्नस्तद्धेतुर्जागरितकार्यमिष्यते । तद्धेतुत्वाज्जागरितकार्यत्वात्तस्यैव स्वप्नदृश एव सज्जागरितं न त्वन्येषाम् । यथा स्वप्न इत्यभिप्रायः ।

जागरितके समान ही ग्राह्य-ग्राहकरूपसे स्वप्नका भी ग्रहण होनेसे इस स्वप्नावस्थाका जाग्रत् कारण है, इसलिये वह स्वप्नावस्था तद्धेतुक यानी जाग्रत्‌का कार्य मानी जाती है। तद्धेतुक अर्थात् जाग्रत्‌का कार्य होनेके कारण उस स्वप्नद्रष्टाके ही लिये जाग्रत्-अवस्था सत्य है, औरोंके लिये नहीं; जैसा कि स्वप्न—यह इसका तात्पर्य है ।

यथा स्वप्नः स्वप्नदृश एव सन्साधारणविद्यमानवस्तुवदवभासते तथा तत्कारणत्वात्साधारणविद्यमानवस्तुवदवभासमानं न तु साधारणं विद्यमानवस्तु स्वप्नवदेवेत्यभिप्रायः ॥ ३७ ॥

जिस प्रकार स्वप्न स्वप्नद्रष्टाको ही सत् अर्थात् साधारण विद्यमान वस्तुके समान भासता है उसी प्रकार उसका कारण होनेसे जाग्रत्‌की भी साधारण विद्यमान वस्तुके समान प्रतीति होती है । किन्तु वस्तुतः स्वप्नके समान ही वह साधारण विद्यमान वस्तु है नहीं—यह इसका अभिप्राय है ॥ ३७ ॥

ननु स्वप्नकारणत्वेऽपि जागरितवस्तुनो न स्वप्नवद-

शङ्का—स्वप्नके कारण होनेपर भी जाग्रत्पदार्थोंका स्वप्नके समान

वस्तुत्वम् । अत्यन्तचलो हि स्वप्नो जागरितं तु स्थिरं लक्ष्यते ।

अवस्तुत्व नहीं है, क्योंकि स्वप्न तो अत्यन्त चञ्चल है, किन्तु जाग्रत्-अवस्था स्थिर देखी जाती है ।

सत्यमेवमविवेकिनां स्यात् ।

समाधान—ठीक है, अविवेकियों-के लिये ऐसी बात हो सकती है;

विवेकिनां तु न कस्यचिद्वस्तुन उत्पादः प्रसिद्धोऽतः—

किन्तु विवेकियोंको तो किसी वस्तु-की उत्पत्ति सिद्ध ही नहीं है । अत:—

उत्पादस्याप्रसिद्धत्वादजं सर्वमुदाहृतम् ।
न च भूतादभूतस्य संभवोऽस्ति कथंचन ॥ ३८ ॥

उत्पत्तिके प्रसिद्ध न होनेके कारण सब कुछ अज ही कहा जाता है । इसके सिवा सत् वस्तुसे असत्की उत्पत्ति किसी प्रकार हो भी नहीं सकती ॥ ३८ ॥

अप्रसिद्धत्वादुत्पादस्यात्मैव सर्वमित्यजं सर्वमुदाहृतं वेदान्तेषु "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यजः" (मु० उ० २ । १ । २) इति । यदपि मन्यसे जागरितात्सतोऽसत्स्वप्नो जायत इति तदसत् । न भूताद्विद्यमानादभूतस्यासतः सम्भवोऽस्ति लोके । न ह्यसतः शशविषाणादेः सम्भवो दृष्टः कथञ्चिदपि ॥ ३८ ॥

उत्पत्तिके सिद्ध न होनेसे सब कुछ आत्मा ही है; इसलिये वेदान्तोंमें "सबाह्याभ्यन्तरो ह्यज:" इत्यादि रूपसे सबको अज ही कहा है । और तुम जो मानते हो कि सत् जाग्रत्से असत् स्वप्नकी उत्पत्ति होती है, सो भी ठीक नहीं; क्योंकि लोकमें भूत—विद्यमान वस्तुसे असत्-का जन्म नहीं हुआ करता । शश-शृङ्गादि असत्पदार्थोंका जन्म किसी भी प्रकार देखनेमें नहीं आता ॥ ३८ ॥

ननूक्तं त्वयैव स्वप्नो जागरित-

शङ्का—यह तो तुम्हींने कहा था कि स्वप्न जागरितका कार्य है; फिर

कार्यमिति तत्कथमुत्पादोऽप्रसिद्ध इत्युच्यते ?

शृणु तत्र यथा कार्यकारणभावोऽस्माभिरभिप्रेत इति—

ऐसा क्यों कहते हो कि उत्पत्ति सिद्ध ही नहीं होती ?

समाधान—हम जिस प्रकार उनका कार्य-कारणभाव मानते हैं, सो सुनो—

असज्जागरिते दृष्ट्वा स्वप्ने पश्यति तन्मयः ।
असत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यति ॥ ३९ ॥

[जीव] जाग्रत्-अवस्थामें असत्पदार्थोंको देखकर उन्हींके संस्कारसे युक्त हो उन्हें स्वप्नमें देखता है, किन्तु स्वप्नावस्थामें भी असत्पदार्थोंको ही देखकर जागनेपर उन्हें नहीं देखता ॥ ३९ ॥

असदविद्यमानं रज्जुसर्पवद्विकल्पितं वस्तु जागरिते दृष्ट्वा तद्भावभावितस्तन्मयः स्वप्नेऽपि जागरितवद्ग्राह्यग्राहकरूपेण विकल्पयन्पश्यति । तथासत्स्वप्नेऽपि दृष्ट्वा च प्रतिबुद्धो न पश्यत्यविकल्पयन् । चशब्दात्तथा जागरितेऽपि दृष्ट्वा स्वप्ने न पश्यति कदाचिदित्यर्थः । तस्माज्जागरितं स्वप्नहेतुरुच्यते न तु परमार्थसदिति कृत्वा ॥ ३९ ॥

जागरित अवस्थामें असत् अर्थात् रज्जुमें सर्पके समान कल्पना किये हुए अविद्यमान पदार्थोंको देखकर उनके भावसे भावित हो स्वप्नमें भी तन्मयभावसे जागरितके समान ग्राह्य-ग्राहकरूपसे विकल्प करता हुआ उन्हें देखता है । तथा स्वप्नमें भी असत्पदार्थोंको देखकर जागनेपर विकल्प न करनेके कारण उन्हें नहीं देखता । 'च' शब्दसे यह अभिप्राय है कि इसी प्रकार कभी जाग्रत्में देखकर भी उन पदार्थोंको स्वप्नमें नहीं देखता । इसीलिये यह कहा जाता है कि जाग्रत्-अवस्था स्वप्नका कारण है, उसे परमार्थ सत् मानकर ऐसा नहीं कहा जाता ॥ ३९ ॥

परमार्थतस्तु न कस्यचित्केनचिदपि प्रकारेण कार्यकारणभाव उपपद्यते । कथम् ?—

परमार्थतः तो किसीका किसी भी प्रकार कार्य-कारणभाव होना सम्भव नहीं है । किस प्रकार ? [सो बतलाते हैं—]

नास्त्यसद्धेतुकमसत्सदसद्धेतुकं तथा ।
सच्च सद्धेतुकं नास्ति सद्धेतुकमसत्कुतः ॥ ४० ॥

न तो असत्पदार्थ ही असत् कारणवाला है और न सत् पदार्थ ही असत् कारणवाला है । इसी प्रकार सत् पदार्थ भी सत् कारणवाला नहीं है; फिर असत् ही सत् कारणवाला कैसे हो सकता है ? ॥४०॥

नास्त्यसद्धेतुकमसच्छशविषाणादि हेतुः कारणं यस्यासत एव खकुसुमादेस्तदसद्धेतुकमसन्न विद्यते । तथा सदपि घटादिवस्तु असद्धेतुकं शशविषाणादिकार्यं नास्ति । तथा सच्च विद्यमानं घटादि विद्यमानघटादिवस्त्वन्तरकार्यं नास्ति । सत्कार्यमसत्कुत एव सम्भवति न चान्यः कार्यकारणभावः सम्भवति शक्यो वा कल्पयितुम् ? अतो विवेकिनामसिद्ध एव कार्यकारणभावः कस्यचिदित्यभिप्रायः ॥ ४० ॥

असत् कारणवाला असत्पदार्थ भी नहीं है—जिस आकाशपुष्प आदि असत्पदार्थका कोई शशशृङ्गादि असत् कारण हो ऐसा कोई असद्धेतुक असत् पदार्थ भी विद्यमान नहीं है । तथा घटादि सद्वस्तु भी असद्धेतुक अर्थात् शशविषाणादि [असत्पदार्थ] का कार्य नहीं है । इसी प्रकार सत् यानी विद्यमान घट आदि किसी अन्य सद्वस्तुका भी कार्य नहीं है । फिर सत्का कार्य असत् ही कैसे हो सकता है ? इनके सिवा किसी अन्य कार्य-कारणभावकी न तो सम्भावना है और न कल्पना ही की जा सकती है । अतः तात्पर्य यह है कि विवेकियोंके लिये तो किसी वस्तुका भी कार्य-कारणभाव सिद्ध है ही नहीं ॥ ४० ॥

पुनरपि जाग्रत्स्वप्नयोरसतोरपि कार्यकारणभावाशङ्कामपनयन् आह—

जाग्रत् और स्वप्न असत् होनेपर भी उनके कार्य-कारणभावके सम्बन्ध-में जो शङ्का है उसकी निवृत्ति करते हुए फिर भी कहते हैं—

विपर्यासाद्यथा जाग्रदचिन्त्यान्भूतवत्स्पृशेत् ।
तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धर्मांस्तत्रैव पश्यति ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार मनुष्य भ्रान्तिवश जाग्रत्कालीन अचिन्त्य पदार्थोंको यथार्थवत् ग्रहण करता है उसी प्रकार स्वप्नमें भी भ्रान्तिवश [स्वप्नकालीन] पदार्थोंको वहीं (उसी अवस्थामें) देखता है ॥ ४१ ॥

विपर्यासादविवेकतो यथा जाग्रज्जागरितेऽचिन्त्यान्भावान-शक्यचिन्तनीयान् रज्जुसर्पादीन् भूतवत्परमार्थवत्स्पृशन्निव वि-कल्पयेदित्यर्थः कश्चिद्यथा, तथा स्वप्ने विपर्यासाद्धस्त्यादीन्धर्मान् पश्यन्निव विकल्पयति; तत्रैव पश्यति न तु जागरितादुत्पद्य-मानानित्यर्थः ॥ ४१ ॥

जिस प्रकार कोई पुरुष विपर्यास अर्थात् अविवेकके कारण जाग्रत्-अवस्थामें रज्जु-सर्पादि अचिन्तनीय अर्थात् जिनका चिन्तन नहीं किया जा सकता ऐसे पदार्थोंको भूत—परमार्थवत् स्पर्श करते हुए-से कल्पना करता है । उसी प्रकार स्वप्नमें विपर्यासके कारण ही वह हाथी आदिको देखता हुआ-सा कल्पना करता है; अर्थात् उन्हें वह उसी अवस्थामें देखता है, न कि जाग्रत्से उत्पन्न होते हुए ॥ ४१ ॥

जगदुत्पत्तिका उपदेश किनके लिये है ?

उपलम्भात्समाचारादस्तिवस्तुत्ववादिनाम् ।
जातिस्तु देशिता बुद्धैरजातेस्त्रसतां सदा ॥ ४२ ॥

[वस्तुओंकी] उपलब्धि और [वर्णाश्रमादि] आचारके कारण जो पदार्थोंकी सत्ता स्वीकार करते हैं तथा अजातिसे भय मानते हैं, विद्वानोंने सर्वदा उन्हींके लिये जातिका उपदेश दिया है ॥ ४२ ॥

याऽपि बुद्धैरद्वैतवादिभिर्जातिर्देशितोपदिष्टा, उपलम्भनम् उपलम्भस्तस्मादुपलब्धेरित्यर्थः, समाचाराद्वर्णाश्रमादिधर्मसमाचरणात्, ताभ्यां हेतुभ्यामस्तिवस्तुत्ववादिनाम् अस्ति वस्तुभाव इत्येवं वदनशीलानां दृढाग्रहवतां श्रद्दधानानां मन्दविवेकिनामर्थोपायत्वेन सा देशिता जातिः। तां गृह्णन्तु तावत्। वेदान्ताभ्यासिनां तु स्वयमेवाजाद्वयात्मविषयो विवेको भविष्यतीति न तु परमार्थबुद्ध्या। ते हि श्रोत्रियाः स्थूलबुद्धित्वादजातेः अजातिवस्तुनः सदा त्रस्यन्त्यात्मनाशं मन्यमाना अविवेकिन इत्यर्थः। उपायः सोऽवतारायेत्युक्तम् ॥ ४२ ॥

तथा बुद्ध यानी अद्वैतवादी विद्वानोंने जो जाति (जगत्की उत्पत्ति) का उपदेश दिया है [उसका यह कारण है—] उपलम्भनका नाम उपलम्भ है उस उपलम्भ अर्थात् उपलब्धिसे और समाचार—वर्णाश्रमादि धर्मोंके सम्यक् आचरणसे—इन दोनों कारणोंसे वस्तुओंका अस्तित्व माननेवाले अर्थात् '[द्वैत-पदार्थोंका] वस्तुत्व है' ऐसा कहनेवाले दृढ आग्रही, श्रद्धालु और मन्द विवेकशील पुरुषोंको [ब्रह्मात्मैक्य-बोधकी प्राप्तिरूप] अर्थके उपायरूपसे उस जातिका उपदेश दिया है। [उसमें उनका यही तात्पर्य है कि] 'अभी वे भले ही उसे स्वीकार कर लें, परन्तु वेदान्तका अभ्यास करते-करते उन्हें स्वयं ही अजन्मा और अद्वितीय आत्मा-सम्बन्धी विवेक हो जायगा' उन्होंने परमार्थबुद्धिसे उसका उपदेश नहीं दिया; क्योंकि वे केवल श्रुति-परायण अविवेकी लोग स्थूलबुद्धि होनेके कारण अपना नाश मानते हुए अजाति अर्थात् जन्मरहित वस्तुसे सदा भय मानते हैं—यह इसका तात्पर्य है। यही बात हमने 'उपायः सोऽवताराय' इत्यादि श्लोकमें (अद्वैतप्रकरण श्लोक १५ में) कही है ॥ ४२ ॥

सन्मार्गगामी द्वैतवादियोंकी गति

अजातेस्त्रसतां तेषामुपलम्भाद्वियन्ति ये ।
जातिदोषा न सेत्स्यन्ति दोषोऽप्यल्पो भविष्यति ॥ ४३ ॥

द्वैतकी उपलब्धिके कारण जो विपरीत मार्गमें प्रवृत्त होते हैं अजातिसे भय माननेवाले उन लोगोंके लिये जातिसम्बन्धी दोष सिद्ध नहीं हो सकते [क्योंकि द्वैतवादी होनेपर भी वे सन्मार्गमें प्रवृत्त तो हुए ही रहते हैं] । [और यदि होगा भी तो] थोड़ा-सा ही दोष होगा ॥ ४३ ॥

ये चैवमुपलम्भात्समाचाराच्चाजातेरजातिवस्तुनस्त्रसन्तोऽस्तिवस्त्वित्यद्वयादात्मनो वियन्ति विरुद्धं यन्ति द्वैतं प्रतिपद्यन्त इत्यर्थः । तेषामजातेस्त्रसतां श्रद्दधानानां सन्मार्गावलम्बिनां जातिदोषा जात्युपलम्भकृता दोषा न सेत्स्यन्ति सिद्धिं नोपयास्यन्ति, विवेकमार्गप्रवृत्तत्वात् । यद्यपि कश्चिद्दोषः स्यात्सोऽप्यल्प एव भविष्यति । सम्यग्दर्शनाप्रतिपत्तिहेतुक इत्यर्थः ॥ ४३ ॥

जो लोग इस प्रकार [पदार्थोंकी]-उपलब्धि और [वर्णाश्रमादिके] आचारोंके कारण अजन्मा वस्तुसे डरनेवाले हैं और 'द्वैत पदार्थ है' ऐसा समझकर अद्वय आत्मासे विरुद्ध चलते हैं अर्थात् द्वैत स्वीकार करते हैं, उन अजातिसे भय माननेवाले श्रद्धालु और सन्मार्गावलम्बी पुरुषोंको जातिदोष—जातिकी उपलब्धिके कारण होनेवाले दोष सिद्ध नहीं होंगे, क्योंकि वे विवेकमार्गमें प्रवृत्त हैं । और यदि कुछ दोष होगा भी तो वह भी अल्प ही होगा; अर्थात् केवल सम्यग्दर्शनकी अप्राप्तिके कारण होनेवाला दोष ही होगा ॥ ४३ ॥

उपलब्धि और आचरणकी अप्रमाणता

ननूपलम्भसमाचारयोः प्रमाण-

यदि कहो कि उपलब्धि और आचरण तो प्रमाण हैं, इसलिये

त्वादस्त्येवं द्वैतं वस्त्विति, न उपलम्भसमाचारयोर्व्यभिचारात्। कथं व्यभिचार इत्युच्यते—

द्वैतवस्तु है ही, तो ऐसी बात नहीं है; क्योंकि उपलब्धि और आचरणका तो व्यभिचार भी होता है। किस प्रकार व्यभिचार होता है—सो बतलाया जाता है—

उपलम्भात्समाचारान्मायाहस्ती यथोच्यते ।
उपलम्भात्समाचारादस्ति वस्तु तथोच्यते ॥ ४४ ॥

उपलब्धि और आचरणके कारण जिस प्रकार मायाजनित हाथीको ['हाथी है'—इस प्रकार] कहा जाता है उसी प्रकार उपलब्धि और आचरणके कारण 'वस्तु है' ऐसा कहा जाता है ॥ ४४ ॥

उपलभ्यते हि मायाहस्ती हस्तीव हस्तिनमिवात्र समाचरन्ति, बन्धनारोहणादिहस्तिसम्बन्धिभिर्धर्मैर्हस्तीति चोच्यतेऽसन्नपि यथा तथैवोपलम्भात्समाचाराद्द्वैतं भेदरूपमस्ति वस्त्वित्युच्यते। तस्मान्नोपलम्भसमाचारौ द्वैतवस्तुसद्भावे हेतू भवत इत्यभिप्रायः ॥ ४४ ॥

हाथीके समान ही मायाजनित हाथी भी देखनेमें आता है। हाथीके समान ही यहाँ (मायाहस्तीके साथ) भी बन्धन-आरोहण आदि हस्तिसम्बन्धी धर्मोंद्वारा व्यवहार करते हैं। जिस प्रकार असत् होनेपर भी वह 'हाथी है' ऐसा कहा जाता है, उसी प्रकार उपलब्धि और आचरणके कारण भेदरूप द्वैतवस्तु है—ऐसा कहा जाता है। अतः अभिप्राय यह है कि उपलब्धि और आचरण द्वैत वस्तुके सद्भावमें कारण नहीं हैं ॥ ४४ ॥

परमार्थ वस्तु क्या है ?

किं पुनः परमार्थसद्वस्तु

अच्छा तो जिसके आश्रयसे जाति आदि असद्बुद्धियाँ होती हैं वह

यदास्पदा जात्याद्यसद्बुद्धय इत्याह—

परमार्थ वस्तु क्या है ? इसपर कहते हैं—

जात्याभासं चलाभासं वस्त्वाभासं तथैव च ।
अजाचलमवस्तुत्वं विज्ञानं शान्तमद्वयम् ॥ ४५ ॥

जो कुछ जातिके समान भासनेवाला; चलके समान भासनेवाला और वस्तुके समान भासनेवाला है वह अज, अचल और अवस्तुरूप शान्त एवं अद्वितीय विज्ञान ही है ॥ ४५ ॥

अजाति सज्जातिवदवभासत इति जात्याभासम् । तद्यथा देवदत्तो जायत इति । चलाभासं चलमिवाभासत इति । यथा स एव देवदत्तो गच्छतीति । वस्त्वाभासं वस्तु द्रव्यं धर्मि तद्वदवभासत इति वस्त्वाभासम् । यथा स एव देवदत्तो गौरो दीर्घ इति जायते देवदत्तः स्पन्दते दीर्घो गौर इत्येवमवभासते । परमार्थतस्त्वजमचलमवस्तुत्वमद्रव्यं च । किं तदेवंप्रकारम् ? विज्ञानं विज्ञप्तिः । जात्यादिरहितत्वाच्छान्तम् । अत एवाद्वयं च तदित्यर्थः ॥ ४५ ॥

जो अजाति होकर भी जातिवत् प्रतीत हो उसे जात्याभास कहते हैं; उसका उदाहरण, जैसे—देवदत्त उत्पन्न होता है । जो चलके समान प्रतीत हो उसे चलाभास कहते हैं; जैसे—वही देवदत्त जाता है । 'वस्त्वाभासम्'—वस्तु धर्मी द्रव्यको कहते हैं, जो उसके समान प्रतीत हो वह वस्त्वाभास है । जैसे—वही देवदत्त गौर और दीर्घ है । देवदत्त उत्पन्न होता है, चलता है तथा वह गौर और दीर्घ है—इस प्रकार भासता है, किन्तु परमार्थतः तो अज, अचल, अवस्तुत्व और अद्रव्यत्व ही है । ऐसा वह कौन है ? (इसपर कहते हैं—) विज्ञान अर्थात् विज्ञप्ति तथा वह जाति आदिसे रहित होनेके कारण शान्त है और इसीसे अद्वय भी है—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ४५ ॥

एवं न जायते चित्तमेवं धर्मा अजाः स्मृताः ।
एवमेव विजानन्तो न पतन्ति विपर्यये ॥ ४६ ॥

इस प्रकार चित्त उत्पन्न नहीं होता; इसीसे आत्मा अजन्मा माने गये हैं । ऐसा जाननेवाले लोग ही भ्रममें नहीं पड़ते ॥ ४६ ॥

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्यो न जायते चित्तमेवं धर्मा आत्मानोऽजाः स्मृता ब्रह्मविद्भिः । धर्मा इति बहुवचनं देहभेदानुविधायित्वादद्वयस्यैवोपचारतः ।

एवमेव यथोक्तं विज्ञानं जात्यादिरहितमद्वयमात्मतत्त्वं विजानन्तस्त्यक्तबाह्यैषणाः पुनर्न पतन्त्यविद्याध्वान्तसागरे विपर्यये । "तत्र को मोहः कः शोक एकत्वमनुपश्यतः" (ई० उ० ७) इत्यादिमन्त्रवर्णात् ॥ ४६ ॥

इस प्रकार उपर्युक्त हेतुओंसे ही चित्तका जन्म नहीं होता, और इसीसे ब्रह्मवेत्ताओंने धर्म यानी आत्माओंको अजन्मा माना है । भिन्न-भिन्न देहोंका अनुवर्तन करनेवाला होनेसे एक अद्वितीय आत्माके लिये ही उपचारसे 'धर्माः' इस बहुवचनका प्रयोग किया गया है ।

इसी प्रकार—उपर्युक्त विज्ञानको अर्थात् जाति आदिरहित अद्वितीय आत्मतत्त्वको जाननेवाले बाह्य एषणाओंसे मुक्त हुए लोग फिर विपर्यय अर्थात् अविद्यारूप अन्धकारके समुद्रमें नहीं गिरते । "उस अवस्थामें एकत्व देखनेवाले पुरुषको क्या मोह और क्या शोक हो सकता है ?" इत्यादि मन्त्रवर्णसे यही बात प्रमाणित होती है ॥ ४६ ॥

विज्ञानाभासमें अलातस्फुरणका दृष्टान्त

यथोक्तं परमार्थदर्शनं प्रपञ्चयिष्यन्नाह—

पूर्वोक्त परमार्थज्ञानका ही विस्तारसे निरूपण करेंगे, इसलिये कहते हैं—

ऋजुवक्रादिकाभासमलातस्पन्दितं यथा ।
ग्रहणग्राहकाभासं विज्ञानस्पन्दितं तथा ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार अलात (उल्का) का घूमना ही सीधे-टेढ़े आदि रूपोंमें भासित होता है, उसी प्रकार विज्ञानका स्फुरण ही ग्रहण और ग्राहक आदि रूपोंमें भास रहा है ॥ ४७ ॥

यथा हि लोके ऋजुवक्रादिप्रकाराभासमलातस्पन्दितमुल्काचलनं तथा ग्रहणग्राहकाभासं विषयिविषयाभासमित्यर्थः । किं तद्विज्ञानस्पन्दितम् । स्पन्दितमिव स्पन्दितमविद्यया । न ह्यचलस्य विज्ञानस्य स्पन्दनमस्ति । अजाचलमिति ह्युक्तम् ॥ ४७ ॥

जिस प्रकार लोकमें सीधे-टेढ़े आदि रूपोंमें भासमान होनेवाला अलातका स्पन्द अर्थात् उल्का (जलती हुई बनैती) का घूमना ही है, उसी प्रकार ग्रहण और ग्राहकरूपसे भासनेवाला अर्थात् इन्द्रिय और विषयरूपसे भासनेवाला भी है । वह कौन है ? विज्ञानका स्पन्द, जो अविद्याके कारण ही स्पन्दके समान स्पन्द-सा प्रतीत होता है, वस्तुतः अविचल विज्ञानका स्पन्दन नहीं हो सकता, क्योंकि [उपर्युक्त श्लोक ४५ में ही] 'वह अज और अचल है' ऐसा कहा जा चुका है ॥ ४७ ॥

अस्पन्दमानमलातमनाभासमजं यथा ।
अस्पन्दमानं विज्ञानमनाभासमजं तथा ॥ ४८ ॥

जिस प्रकार स्पन्दनरहित अलात आभासशून्य और अज है उसी प्रकार स्पन्दनरहित विज्ञान भी आभासशून्य और अज है ॥ ४८ ॥

अस्पन्दमानं स्पन्दनवर्जितं तदेवालातमृज्वाद्याकारेणाजाय-

जिस प्रकार वही अलात अस्पन्दमान—स्पन्दनसे रहित होनेपर ऋजु

मानमनाभासमजं यथा; तथाविद्यया स्पन्दमानमविद्योपरमेऽस्पन्दमानं जात्याद्याकारेणानाभासमजमचलं भविष्यतीत्यर्थः ॥ ४८ ॥

आदि आकारोंमें भासित न होनेके कारण अनायास और अज रहता है उसी प्रकार अविद्यासे स्पन्दित होनेवाला विज्ञान अविद्याकी निवृत्ति होनेपर जाति आदि रूपसे स्पन्दित न होकर अनाभास, अज और अचल हो जायगा—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ४८ ॥

किं च—

इसके सिवा—

अलाते स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः ।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्नालातं प्रविशन्ति ते ॥ ४९ ॥

अलातके स्पन्दित होनेपर भी वे आभास किसी अन्य कारणसे नहीं होते, तथा उसके स्पन्दरहित होनेपर भी कहीं अन्य नहीं चले जाते और न वे अलातमें ही प्रवेश करते हैं ॥ ४९ ॥

तस्मिन्नेवालाते स्पन्दमान ऋजुवक्राद्याभासा अलातादन्यतः कुतश्चिदागत्यालाते नैव भवन्ति इति नान्यतोभुवः । न च तस्मान्निस्पन्दादलातादन्यत्र निर्गताः । न च निस्पन्दमलातमेव प्रविशन्ति ते ॥ ४९ ॥

उस अलातके स्पन्दित होनेपर भी वे सीधे-टेढ़े आदि आभास अलातसे भिन्न कहीं अन्यत्रसे आकर अलातमें उपस्थित नहीं हो जाते; अतः वे किसी अन्यसे होनेवाले भी नहीं हैं । तथा निस्पन्द हुए उस अलातसे वे कहीं अन्यत्र नहीं चले जाते और न उस निस्पन्द अलातमें ही प्रवेश कर जाते हैं ॥ ४९ ॥

किं च—

इसके अतिरिक्त—

न निर्गता अलातात्ते द्रव्यत्वाभावयोगतः ।
विज्ञानेऽपि तथैव स्युराभासस्याविशेषतः ॥ ५० ॥

उनमें द्रव्यत्वके अभावका योग होनेके कारण वे अलातसे भी नहीं निकलते हैं। इसी प्रकार आभासत्वमें समानता होनेके कारण विज्ञानके विषयमें भी समझना चाहिये ॥ ५० ॥

न निर्गता अलातात्त आभासा गृहादिवद्द्रव्यत्वाभावयोगतः—द्रव्यस्य भावो द्रव्यत्वम्, तदभावो द्रव्यत्वाभावः, द्रव्यत्वाभावयोगतो द्रव्यत्वाभावयुक्तेर्वस्तुत्वाभावादित्यर्थः, वस्तुनो हि प्रवेशादि सम्भवति नावस्तुनः। विज्ञानेऽपि जात्याद्याभासास्तथैव स्युराभासस्याविशेषतस्तुल्यत्वात् ॥ ५० ॥

द्रव्यत्वाभावयोगके कारण—द्रव्यके भावका नाम द्रव्यत्व है। उसके अभावको द्रव्यत्वाभाव कहते हैं, उस द्रव्यत्वाभावयोग अर्थात् द्रव्यत्वाभावरूप युक्तिके कारण यानी वस्तुत्वका अभाव होनेसे वे आभास घर आदिसे निकलनेके समान अलातसे भी नहीं निकले; क्योंकि प्रवेशादि होने तो वस्तुके ही सम्भव हैं; अवस्तुके नहीं। विज्ञानमें [प्रतीत होनेवाले] जात्यादि आभास भी ऐसे ही समझने चाहिये, क्योंकि आभासकी सामान्यता होनेसे उनकी तुल्यता है ॥ ५० ॥

कथं तुल्यत्वमित्याह—

उनकी तुल्यता किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं—

विज्ञाने स्पन्दमाने वै नाभासा अन्यतोभुवः।
न ततोऽन्यत्र निस्पन्दान्न विज्ञानं विशन्ति ते ॥ ५१ ॥
न निर्गतास्ते विज्ञानाद्द्रव्यत्वाभावयोगतः।
कार्यकारणताभावाद्यतोऽचिन्त्याः सदैव ते ॥ ५२ ॥

विज्ञानके स्पन्दित होनेपर भी उसके आभास किसी अन्य कारणसे नहीं होते तथा उसके स्पन्दरहित होनेपर कहीं अन्यत्र नहीं चले जाते और न विज्ञानमें ही प्रवेश कर जाते हैं ॥ ५१ ॥ द्रव्यत्वके अभावका

योग होनेके कारण वे विज्ञानसे भी नहीं निकले, क्योंकि कार्य-कारणताका अभाव होनेके कारण वे सदा ही अचिन्तनीय (अनिर्वचनीय) हैं ॥ ५२ ॥

अलातेन समानं सर्वं विज्ञानस्य । सदाचलत्वं तु विज्ञानस्य विशेषः । जात्याद्याभासा विज्ञानेऽचले किंकृता इत्याह । कार्यकारणताभावाज्जन्यजनकत्वानुपपत्तेरभावरूपत्वादचिन्त्यास्ते यतः सदैव ।

यथासत्स्वृज्वाद्याभासेषु ऋज्वादिबुद्धिर्दृष्टालातमात्रे तथासत्स्वेव जात्यादिषु विज्ञानमात्रे जात्यादिबुद्धिर्मृषैवेति समुदायार्थः ॥ ५१-५२ ॥

विज्ञानके विषयमें भी सब कुछ अलातके ही समान है । नित्य अचल रहना—यही विज्ञानकी विशेषता है । अचल विज्ञानमें जाति आदि आभास किस कारणसे होते हैं ? इसपर कहते हैं—क्योंकि कार्य-कारणताका अभाव अर्थात् अभावरूप होनेके कारण जन्य-जनकत्वकी अनुपपत्ति होनेसे वे सदा ही अचिन्तनीय हैं ।

[इन दोनों श्लोकोंका] सम्मिलित अर्थ यह है कि जिस प्रकार ऋजु (सरल) आदि आभासोंके न होनेपर भी अलातमात्रमें ही ऋजु आदि बुद्धि होती देखी जाती है उसी प्रकार जाति आदिके न होनेपर भी केवल विज्ञानमात्रमें जाति आदि बुद्धि होना मिथ्या ही है ॥ ५१-५२ ॥

आत्मामें कार्य-कारणभाव क्यों असम्भव है ?

अजमेकमात्मतत्त्वमिति स्थितं तत्र यैरपि कार्यकारणभावः कल्प्यते तेषाम्—

यह निश्चय हुआ कि एक अजन्मा आत्मतत्त्व है । उसमें जो लोग कार्य-कारणभावकी कल्पना करते हैं उनके मतमें भी—

द्रव्यं द्रव्यस्य हेतुः स्यादन्यदन्यस्य चैव हि ।
द्रव्यत्वमन्यभावो वा धर्माणां नोपपद्यते ॥ ५३ ॥

द्रव्यका कारण द्रव्य ही हो सकता है और वह भी अन्य द्रव्यका अन्य ही द्रव्य कारण होना चाहिये, किन्तु आत्माओंमें द्रव्यत्व और अन्यत्व दोनों ही सम्भव नहीं हैं ॥ ५३ ॥

द्रव्यं द्रव्यस्यान्यस्यान्यद्धेतुः कारणं स्यान्न तु तस्यैव तत् । नाप्यद्रव्यं कस्यचित्कारणं स्वतन्त्रं दृष्टं लोके । न च द्रव्यत्वं धर्माणामात्मनामुपपद्यतेऽन्यत्वं वा कुतश्चिद्येनान्यस्य कारणत्वं कार्यत्वं वा प्रतिपद्येत । अतोऽद्रव्यत्वादनन्यत्वाच्च न कस्यचित्कार्यं कारणं वात्मेत्यर्थः ॥ ५३ ॥

अन्य द्रव्यका कारण अन्य द्रव्य ही हो सकता है, न कि उस द्रव्यका वही । और जो वस्तु द्रव्य नहीं है उसे लोकमें किसीका स्वतन्त्र कारण होता नहीं देखा । तथा आत्माओंका द्रव्यत्व अथवा अन्यत्व किसी भी प्रकार सम्भव नहीं है, जिससे कि वे किसी अन्य द्रव्यके कारणत्व अथवा कार्यत्वको प्राप्त हो सकें । अतः तात्पर्य यह है कि अद्रव्यत्व और अनन्यत्वके कारण आत्मा किसीका भी कार्य अथवा कारण नहीं है ॥ ५३ ॥

एवं न चित्तजा धर्माश्चित्तं वापि न धर्मजम् ।
एवं हेतुफलाजातिं प्रविशन्ति मनीषिणः ॥ ५४ ॥

इस प्रकार न तो बाह्य पदार्थ ही चित्तसे हुए हैं और न चित्त ही बाह्य पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ है । अतः मनीषी लोग कार्य-कारणकी अनुत्पत्ति ही निश्चित करते हैं ॥ ५४ ॥

एवं यथोक्तेभ्यो हेतुभ्य आत्मविज्ञानस्वरूपमेव चित्तमिति न चित्तजा बाह्यधर्मा नापि बाह्यधर्मजं चित्तम् । विज्ञानस्वरूपा-

इस प्रकार उपर्युक्त हेतुओंसे चित्त आत्मविज्ञानस्वरूप ही है; न तो बाह्य पदार्थ ही चित्तसे उत्पन्न हुए हैं और न चित्त ही बाह्य पदार्थोंसे उत्पन्न हुआ है; क्योंकि सारे ही

भासमात्रत्वात्सर्वधर्माणाम् । एवं न हेतोः फलं जायते नापि फलाद्धेतुरिति हेतुफलयोरजातिं हेतुफलाजातिं प्रविशन्त्यध्यवस्यन्ति आत्मनि हेतुफलयोरभावमेव प्रतिपद्यन्ते ब्रह्मविद इत्यर्थः।५४।

धर्म विज्ञानस्वरूपके आभासमात्र हैं। इस प्रकार न तो हेतुसे फलकी उत्पत्ति होती है और न फलसे हेतुकी। अतः मनीषी लोग हेतु और फलकी अनुत्पत्ति ही निश्चित करते हैं। तात्पर्य यह कि ब्रह्मवेत्ता लोग आत्मामें हेतु और फलका अभाव ही देखते हैं ॥ ५४ ॥

हेतु-फलभावके *अभिनिवेशका* फल

ये पुनर्हेतुफलयोरभिनिविष्टास्तेषां किं स्यादित्युच्यते—धर्माधर्माख्यस्य हेतोरहं कर्ता मम धर्माधर्मौ तत्फलं कालान्तरे क्वचित्प्राणिनिकाये जातो भोक्ष्य इति—

किन्तु जिनका हेतु और फलमें अभिनिवेश है उनका क्या होगा? इसपर कहा जाता है—धर्माधर्मसंज्ञक हेतुका मैं कर्ता हूँ, धर्म और अधर्म मेरे हैं, कालान्तरमें किसी प्राणीके शरीरमें उत्पन्न होकर उनका फल भोगूँगा—इस प्रकार—

यावद्धेतुफलावेशस्तावद्धेतुफलोद्भवः ।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥ ५५ ॥

जबतक हेतु और फलका आग्रह है तबतक ही हेतु और फलकी उत्पत्ति भी है। हेतु और फलका आवेश क्षीण हो जानेपर फिर हेतु और फलरूप संसारकी उत्पत्ति भी नहीं होती ॥ ५५ ॥

यावद्धेतुफलयोरावेशो हेतुफलाग्रह आत्मन्यध्यारोपणं तच्चित्ततेत्यर्थः, तावद्धेतुफलयोरुद्भवो धर्माधर्मयोस्तत्फलस्य

जबतक हेतु और फलका आवेश—हेतुफलाग्रह अर्थात् उन्हें आत्मामें आरोपित करना यानी तच्चित्तता है, तबतक हेतु और फलकी उत्पत्ति भी है अर्थात् तबतक धर्माधर्म और

चानुच्छेदेन प्रवृत्तिरित्यर्थः । यदा पुनर्मन्त्रौषधिवीर्येणेव ग्रहावेशो यथोक्ताद्वैतदर्शनेनाविद्योद्भूतहेतुफलावेशोऽपनीतो भवति तदा तस्मिन्क्षीणे नास्ति हेतुफलोद्भवः ॥ ५५ ॥

उनके फलकी अविच्छिन्न प्रवृत्ति भी है किन्तु जिस समय मन्त्र और ओषधिकी सामर्थ्यसे ग्रहके आवेशके समान उपर्युक्त अद्वैतबोधसे अविद्याजनित हेतु और फलका आवेश निवृत्त हो जाता है उस समय उसके क्षीण हो जानेपर हेतु और फलकी उत्पत्ति भी नहीं होती ॥ ५५ ॥

हेतु-फलके *अभिनिवेशमें दोष*

यदि हेतुफलोद्भवस्तदा को दोष इत्युच्यते—

यदि हेतु और फलकी उत्पत्ति रहे तो इनमें दोष क्या है ? सो बतलाते हैं—

यावद्धेतुफलावेशः संसारस्तावदायतः ।
क्षीणे हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते ॥ ५६ ॥

जबतक हेतु और फलका आग्रह है तबतक संसार बढ़ा हुआ है। हेतु और फलका आवेश नष्ट होनेपर विद्वान् संसारको प्राप्त नहीं होता ॥ ५६ ॥

यावत्सम्यग्दर्शनेन हेतुफलावेशो न निवर्ततेऽक्षीणः संसारस्तावदायतो दीर्घो भवतीत्यर्थः । क्षीणे पुनर्हेतुफलावेशे संसारं न प्रपद्यते कारणाभावात् ॥ ५६ ॥

जबतक सम्यग्ज्ञानसे हेतु और फलका आग्रह निवृत्त नहीं होता तबतक संसार क्षीण न होकर विस्तृत होता जाता है । किन्तु हेतुफलावेशके क्षीण होनेपर, कोई कारण न रहनेसे, विद्वान् संसारको प्राप्त नहीं होता ॥ ५६ ॥

नन्वजादात्मनोऽन्यन्नास्त्येव तत्कथं हेतुफलयोः संसारस्य चोत्पत्तिविनाशावुच्येते त्वया ? शृणु—

शङ्का—अजन्मा आत्मासे भिन्न तो और कोई है ही नहीं; फिर हेतु और फल तथा संसारके उत्पत्ति-विनाशका तुम कैसे वर्णन कर रहे हो ?

समाधान—अच्छा सुनो—

संवृत्या जायते सर्वं शाश्वतं नास्ति तेन वै ।
सद्भावेन ह्यजं सर्वमुच्छेदस्तेन नास्ति वै ॥ ५७ ॥

सारे पदार्थ व्यावहारिक दृष्टिसे उत्पन्न होते हैं, इसलिये वे नित्य नहीं हैं । परमार्थदृष्टिसे तो सब कुछ अज ही है, इसलिये किसीका विनाश भी नहीं है ॥ ५७ ॥

संवृत्या संवरणं संवृतिरविद्याविषयो लौकिको व्यवहारस्तया संवृत्या जायते सर्वम् । तेनाविद्याविषये शाश्वतं नित्यं नास्ति वै । अत उत्पत्तिविनाशलक्षणः संसार आयत इत्युच्यते । परमार्थसद्भावेन त्वजं सर्वमात्मैव यस्मात् । अतो जात्यभावादुच्छेदस्तेन नास्ति वै कस्यचिद्धेतुफलादेरित्यर्थः ॥ ५७ ॥

'संवृत्या'—संवरण अर्थात् अविद्याविषयक लौकिक व्यवहारका नाम संवृति है; उस संवृतिसे ही सबकी उत्पत्ति होती है । अतः उस अविद्याके अधिकारमें कोई भी वस्तु शाश्वत—नित्य नहीं है । इसीलिये उत्पत्ति-विनाशशील संसार विस्तृत है—ऐसा कहा जाता है, क्योंकि परमार्थसत्तासे तो सब कुछ अजन्मा आत्मा ही है । अतः जन्मका अभाव होनेके कारण किसी भी हेतु या फल आदिका उच्छेद नहीं होता—ऐसा इसका तात्पर्य है ॥ ५७ ॥

जीवोंका जन्म मायिक है

धर्मा य इति जायन्ते जायन्ते ते न तत्त्वतः ।
जन्म मायोपमं तेषां सा च माया न विद्यते ॥ ५८ ॥

धर्म (जीव) जो उत्पन्न होते कहे जाते हैं वे वस्तुतः उत्पन्न नहीं होते। उनका जन्म मायाके सदृश है और वह माया भी [वस्तुतः] है नहीं ॥ ५८ ॥

येऽप्यात्मानोऽन्ये च धर्मा जायन्त इति कल्प्यन्ते त इत्येवंप्रकारा यथोक्ता संवृतिर्निर्दिश्यत इति संवृत्यैव धर्मा जायन्ते; न ते तत्त्वतः परमार्थतो जायन्ते। यत्पुनस्तत्संवृत्या जन्म तेषां धर्माणां यथोक्तानां यथा मायया जन्म तथा तन्मायोपमं प्रत्येतव्यम्।

जो भी आत्मा तथा दूसरे धर्म 'उत्पन्न होते हैं'—इस प्रकार कल्पना किये जाते हैं वे इस प्रकारके सभी धर्म संवृतिसे ही उत्पन्न होते हैं। यहाँ 'इति' शब्दसे इससे पहले श्लोकमें कही हुई संवृतिका निर्देश किया गया है। वे तत्त्वतः—परमार्थतः उत्पन्न नहीं होते। क्योंकि उन पूर्वोक्त धर्मोंका जो संवृतिसे होनेवाला जन्म है वह ऐसा है जैसे मायासे होनेवाला जन्म होता है, इसलिये उसे मायाके सदृश समझना चाहिये।

माया नाम वस्तु तर्हि? नैवम्; सा च माया न विद्यते, मायेत्यविद्यमानस्याख्येत्यभिप्रायः॥५८॥

तब तो माया एक सत्य वस्तु सिद्ध होती है? नहीं, ऐसी बात नहीं है। वह माया भी है नहीं। तात्पर्य यह है कि 'माया' यह अविद्यमान वस्तुका ही नाम है ॥ ५८ ॥

कथं मायोपमं तेषां धर्माणां जन्मेत्याह—

उन धर्मोंका जन्म मायाके सदृश किस प्रकार है? सो बतलाते हैं—

यथा मायामयाद् बीजाज्जायते तन्मयोऽङ्कुरः।
नासौ नित्यो न चोच्छेदी तद्वद्धर्मेषु योजना ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार मायामय बीजसे मायामय अङ्कुर उत्पन्न होता है और वह न तो नित्य ही होता है और न नाशवान् ही, उसी प्रकार धर्मोंके विषयमें भी युक्ति समझनी चाहिये ॥ ५९ ॥

यथा मायामयादाम्रादिबीजाज्जायते तन्मयो मायामयोऽङ्कुरो नासावङ्कुरो नित्यो न चोच्छेदी विनाशी वाभूतत्वात्तद्वदेव धर्मेषु जन्मनाशादियोजना युक्तिः । न तु परमार्थतो धर्माणां जन्म नाशो वा युज्यत इत्यर्थः ॥ ५९ ॥

जिस प्रकार मायामय आम आदिके बीजसे तन्मय अर्थात् मायामय अङ्कुर उत्पन्न होता है और वह अङ्कुर न तो नित्य ही होता है और न नाशवान् ही, उसी प्रकार असत्य होनेके कारण धर्मोंमें भी जन्म-नाशादिकी योजना—युक्ति है । तात्पर्य यह है कि परमार्थतः धर्मोंका जन्म अथवा नाश होना सम्भव नहीं है ॥ ५९ ॥

आत्माकी अनिर्वचनीयता

नाजेषु सर्वधर्मेषु शाश्वताशाश्वताभिधा ।
यत्र वर्णा न वर्तन्ते विवेकस्तत्र नोच्यते ॥ ६० ॥

इन सम्पूर्ण अजन्मा धर्मोंमें नित्य-अनित्य नामोंकी प्रवृत्ति नहीं है । जहाँ शब्द ही नहीं है उस आत्मतत्त्वमें [नित्य-अनित्य] विवेक भी नहीं कहा जा सकता ॥ ६० ॥

परमार्थतस्त्वात्मस्वजेषु नित्यैकरसविज्ञप्तिमात्रसत्ताकेषु शाश्वतोऽशाश्वत इति वा नाभिधा नाभिधानं प्रवर्तत इत्यर्थः । यत्र येषु वर्ण्यन्ते यैरर्थास्ते वर्णाः शब्दा न प्रवर्तन्तेऽभिधातुं प्रकाशयितुं न प्रवर्तन्त इत्यर्थः ।

वास्तवमें तो नित्य एकरस विज्ञानमात्र सत्तास्वरूप अजन्मा आत्माओंमें नित्य-अनित्य—ऐसे अभिधान अर्थात् नामकी भी प्रवृत्ति नहीं है । जहाँ—जिन महात्माओंमें —जिनसे पदार्थोंका वर्णन किया जाता है वे वर्ण यानी शब्द भी नहीं हैं अर्थात् उसका वर्णन करनेके लिये प्रवृत्त नहीं होते हैं, उसमें

इदमेवमिति विवेको विविक्तता तत्र नित्योऽनित्य इति नोच्यते । "यतो वाचो निवर्तन्ते" (तै० उ० २ । ४ । १) इति श्रुतेः ॥६०॥

'यह ऐसा है अर्थात् नित्य है अथवा अनित्य है' इस प्रकारका विवेक भी नहीं कहा जाता; जैसा कि "जहाँसे वाणी लौट आती है" इस श्रुतिसे सिद्ध होता है ॥ ६० ॥

यथा स्वप्ने द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ।
तथा जाग्रद्द्वयाभासं चित्तं चलति मायया ॥ ६१ ॥

जिस प्रकार स्वप्नमें चित्त मायासे द्वैताभासरूपसे स्फुरित होता है उसी प्रकार जाग्रत्कालीन द्वैताभासरूपसे भी चित्त मायासे ही स्फुरित होता है ॥ ६१ ॥

अद्वयं च द्वयाभासं चित्तं स्वप्ने न संशयः ।
अद्वयं च द्वयाभासं तथा जाग्रन्न संशयः ॥ ६२ ॥

इसमें सन्देह नहीं, स्वप्नावस्थामें अद्वय चित्त ही द्वैतरूपसे भासनेवाला है; इसी प्रकार जाग्रत्कालमें भी अद्वय मन ही द्वैतरूपसे भासनेवाला है—इसमें कोई सन्देह नहीं ॥ ६२ ॥

यत्पुनर्वाग्गोचरत्वं परमार्थतोऽद्वयस्य विज्ञानमात्रस्य तन्मनसः स्पन्दनमात्रं न परमार्थत इति । उक्तार्थौ श्लोकौ ॥६१-६२॥

परमार्थतः अद्वय विज्ञानमात्रका जो वाणीका विषय होना है वह मनका स्फुरणमात्र ही है, वह परमार्थतः है नहीं—इस प्रकार इन श्लोकोंकी व्याख्या पहले (अद्वैत० २९-३० में) की जा चुकी है ॥६१-६२॥

द्वैताभावमें स्वप्नका दृष्टान्त

इतश्च वाग्गोचरस्याभावो द्वैतस्य—

वाणीके विषयभूत द्वैतका इसलिये भी अभाव है—

स्वप्नदृक्प्रचरन्स्वप्ने दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।
अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥ ६३ ॥

स्वप्नद्रष्टा स्वप्नमें घूमते-घूमते दशों दिशाओंमें स्थित जिन अण्डज अथवा स्वेदज जीवोंको सर्वदा देखा करता है [वे वस्तुतः उससे पृथक् नहीं होते] ॥ ६३ ॥

स्वप्नान्पश्यतीति स्वप्नदृक्प्रचरन्पर्यटन्स्वप्ने स्वप्नस्थाने दिक्षु वै दशसु स्थितान्वर्तमानाञ्जीवान्प्राणिनोऽण्डजान्स्वेदजान्वा यान्सदा पश्यति ॥ ६३ ॥

जो स्वप्नोंको देखता है उसे स्वप्नद्रष्टा कहते हैं, वह स्वप्न अर्थात् स्वप्नस्थानोंमें घूमता हुआ दशों दिशाओंमें स्थित जिन स्वेदज अथवा अण्डज प्राणियोंको सर्वदा देखता है [वे वस्तुतः उससे भिन्न नहीं होते] ॥ ६३ ॥

यद्येवं ततः किम् ? उच्यते—

यदि ऐसा है तो इससे सिद्ध क्या हुआ ? सो बतलाते हैं—

स्वप्नदृक्चित्तदृश्यास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।
तथा तद्दृश्यमेवेदं स्वप्नदृक्चित्तमिष्यते ॥ ६४ ॥

वे सब स्वप्नद्रष्टाके चित्तके दृश्य उससे पृथक् नहीं होते । इसी प्रकार उस स्वप्नद्रष्टाका यह चित्त भी उसीका दृश्य माना जाता है ॥६४॥

स्वप्नदृशश्चित्तं स्वप्नदृक्चित्तम्। तेन दृश्यास्ते जीवास्ततस्तस्मात्स्वप्नदृक्चित्तात्पृथङ्न विद्यन्ते न सन्तीत्यर्थः । चित्तमेव ह्यनेकजीवादिभेदाकारेण विकल्प्यते । तथा तदपि स्वप्नदृक्चित्तमिदं

स्वप्नद्रष्टाका चित्त 'स्वप्नदृक्चित्त' कहलाता है, उससे देखे जानेवाले वे जीव उस स्वप्नद्रष्टाके चित्तसे पृथक् नहीं हैं—यह इसका तात्पर्य है । अनेक जीवादिभेदरूपसे चित्त ही कल्पना किया जाता है । इसी प्रकार उस स्वप्नद्रष्टाका यह चित्त भी उसका दृश्य ही है ।

तद्दृश्यमेव, तेन स्वप्नदृशा दृश्यं तद्दृश्यम् । अतः स्वप्नदृग्व्यतिरेकेण चित्तं नाम नास्तीत्यर्थः ॥६४॥

उस स्वप्नद्रष्टासे देखा जाता है, इसलिये उसका दृश्य है। अतः तात्पर्य यह है कि स्वप्नद्रष्टासे भिन्न चित्त भी कुछ है नहीं ॥ ६४ ॥

चरञ्जागरिते जाग्रद्दिक्षु वै दशसु स्थितान् ।
अण्डजान्स्वेदजान्वापि जीवान्पश्यति यान्सदा ॥ ६५ ॥
जाग्रच्चित्तेक्षणीयास्ते न विद्यन्ते ततः पृथक् ।
तथा तद्दृश्यमेवेदं जाग्रतश्चित्तमिष्यते ॥ ६६ ॥

जाग्रत्-अवस्थामें घूमते-घूमते जाग्रत्-अवस्थाका साक्षी दशों दिशाओंमें स्थित जिन अण्डज अथवा स्वेदज जीवोंको सर्वदा देखता है ॥ ६५ ॥ वे जाग्रच्चित्तके दृश्य उससे पृथक् नहीं हैं। इसी प्रकार वह जाग्रच्चित्त भी उसीका दृश्य माना जाता है ॥ ६६ ॥

जाग्रतो दृश्या जीवास्तच्चित्ताव्यतिरिक्ताश्चित्तेक्षणीयत्वात्स्वप्नदृक्चित्तेक्षणीयजीववत् । तच्च जीवेक्षणात्मकं चित्तं द्रष्टुरव्यतिरिक्तं द्रष्टृदृश्यत्वात्स्वप्नचित्तवत् । उक्तार्थमन्यत् ॥ ६५-६६ ॥

जाग्रत् पुरुषको दिखलायी देनेवाले जीव उसके चित्तसे अपृथक् हैं, क्योंकि स्वप्नद्रष्टाके चित्तसे देखे जानेवाले जीवोंके समान वे उसके चित्तसे ही देखे जाते हैं। तथा जीवोंको देखनेवाला वह चित्त भी द्रष्टासे अभिन्न है, क्योंकि स्वप्नचित्तके समान वह भी जाग्रद्द्रष्टाका दृश्य है। शेष अर्थ पहले कहा जा चुका है ॥ ६५-६६ ॥

उभे ह्यन्योन्यदृश्ये ते किं तदस्तीति नोच्यते ।
लक्षणाशून्यमुभयं तन्मतेनैव गृह्यते ॥ ६७ ॥

वे [जीव और चित्त] दोनों एक-दूसरेके दृश्य हैं; वे हैं क्या वस्तु—सो कहा नहीं जा सकता। ये दोनों ही प्रमाणशून्य हैं और केवल तच्चित्तताके कारण ही ग्रहण किये जाते हैं ॥ ६७ ॥

जीवचित्ते उभे चित्तचैत्ये ते अन्योन्यदृश्ये इतरेतरगम्ये। जीवादिविषयापेक्षं हि चित्तं नाम भवति। चित्तापेक्षं हि जीवादि दृश्यम्। अतस्ते अन्योन्यदृश्ये। तस्मान्न किंचिदस्तीति चोच्यते चित्तं वा चित्तेक्षणीयं वा किं तदस्तीति विवेकिनोच्यते। न हि स्वप्ने हस्ती हस्तिचित्तं वा विद्यते तथेहापि विवेकिनामित्यभिप्रायः।

कथम्? लक्षणाशून्यं लक्ष्यतेऽनयेति लक्षणा प्रमाणं प्रमाणशून्यमुभयं चित्तं चैत्यं द्वयं यतस्तन्मतेनैव तच्चित्ततयैव तद् गृह्यते। न हि घटमतिं प्रत्याख्याय घटो गृह्यते नापि घटं प्रत्याख्याय घटमतिः। न हि

जीव और चित्त अर्थात् चित्त और चित्तके विषय—ये दोनों ही अन्योन्यदृश्य अर्थात् एक-दूसरेके विषय हैं। जीवादि विषयकी अपेक्षासे चित्त है और चित्तकी अपेक्षासे जीवादि दृश्य। अतः वे एक-दूसरेके दृश्य हैं। इसलिये ऐसा प्रश्न होनेपर कि वे हैं क्या? विवेकी लोग यही कहते हैं कि चित्त अथवा चित्तका दृश्य—इनमेंसे कोई भी वस्तु है नहीं। इससे उन विवेकी पुरुषोंका यही अभिप्राय है कि जिस प्रकार स्वप्नमें हाथी और हाथीको ग्रहण करनेवाला चित्त नहीं होता उसी प्रकार यहाँ (जाग्रत्-अवस्थामें) भी उनका अभाव है।

किस प्रकार नहीं हैं? क्योंकि वे चित्त और चैत्य दोनों ही लक्षणाशून्य—प्रमाणरहित हैं। जिससे कोई पदार्थ लक्षित होता है उसे 'लक्षणा' यानी 'प्रमाण' कहते हैं। और वे तन्मत—तच्चित्ततासे ही ग्रहण किये जाते हैं, क्योंकि न तो घटबुद्धिको त्यागकर घटका ही ग्रहण किया जाता है और न घटको त्यागकर घटबुद्धिका ही। तात्पर्य यह कि

तत्र प्रमाणप्रमेयभेदः शक्यते कल्पयितुमित्यभिप्रायः ॥ ६७ ॥

उनमें प्रमाण और प्रमेयके भेदकी कल्पना नहीं की जा सकती ॥ ६७ ॥

यथा स्वप्नमयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ ६८ ॥

जिस प्रकार स्वप्नका जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है, उसी प्रकार ये सब जीव भी उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं ॥ ६८ ॥

यथा मायामयो जीवो जायते म्रियतेऽपि च ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ ६९ ॥

जिस प्रकार मायामय जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है, उसी प्रकार ये सब जीव उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं ॥ ६९ ॥

यथा निर्मितको जीवो जायते म्रियतेऽपि वा ।
तथा जीवा अमी सर्वे भवन्ति न भवन्ति च ॥ ७० ॥

जिस प्रकार मन्त्रादिसे रचा हुआ जीव उत्पन्न होता है और मरता भी है उसी प्रकार ये सब जीव उत्पन्न होते हैं और मरते भी हैं ॥ ७० ॥

मायामयो मायाविना यः कृतो निर्मितको मन्त्रौषध्यादिभिर्निष्पादितः । स्वप्नमायानिर्मितका अण्डजादयो जीवा यथा जायन्ते म्रियन्ते च तथा मनुष्यादिलक्षणा अविद्यमाना एव चित्तविकल्पनामात्रा इत्यर्थः ॥ ६८—७० ॥

मायामय—जिसे मायावीने रचा हो, निर्मितक—मन्त्र और ओषधि आदिसे सम्पादन किया हुआ । स्वप्न, माया और मन्त्रादिसे निष्पन्न हुए अण्डज आदि जीव जिस प्रकार उत्पन्न होते और मरते भी हैं उसी प्रकार मनुष्यादिरूप जीव वर्तमान होते हुए भी चित्तके विकल्पमात्र ही हैं—यह इसका अभिप्राय है ॥ ६८—७० ॥

अजाति ही उत्तम सत्य है

न कश्चिज्जायते जीवः संभवोऽस्य न विद्यते ।
एतत्तदुत्तमं सत्यं यत्र किंचिन्न जायते ॥ ७१ ॥

[वस्तुतः] कोई जीव उत्पन्न नहीं होता, उसके जन्मकी सम्भावना ही नहीं है । उत्तम सत्य तो यही है कि जिसमें किसी वस्तुकी उत्पत्ति ही नहीं होती ॥ ७१ ॥

व्यवहारसत्यविषये जीवानां जन्ममरणादिः स्वप्नादिजीववदित्युक्तम् । उत्तमं तु परमार्थसत्यं न कश्चिज्जायते जीव इति । उक्तार्थमन्यत् ॥ ७१ ॥

व्यावहारिक सत्तामें भी जीवोंके जो जन्म-मरणादि हैं वे स्वप्नादिके जीवोंके ही समान हैं—ऐसा पहले कहा जा चुका है; किन्तु उत्तम सत्य तो यही है कि कोई भी जीव उत्पन्न नहीं होता । शेष अंशकी व्याख्या पहले की जा चुकी है ॥ ७१ ॥

चित्तकी असंगता

चित्तस्पन्दितमेवेदं ग्राह्यग्राहकवद्द्वयम् ।
चित्तं निर्विषयं नित्यमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥ ७२ ॥

विषय और इन्द्रियोंके सहित यह सम्पूर्ण द्वैत चित्तका ही स्फुरण है; किन्तु चित्त निर्विषय है; इसीसे उसे नित्य असंग कहा गया है ॥ ७२ ॥

सर्वं ग्राह्यग्राहकवच्चित्तस्पन्दितमेव द्वयं चित्तं परमार्थत आत्मैवेति निर्विषयं तेन निर्विषयत्वेन नित्यमसङ्गं कीर्तितम् । "असङ्गो ह्ययं पुरुषः" (बृ० उ०

विषय और इन्द्रियोंसे युक्त सम्पूर्ण द्वैत चित्तका ही स्फुरण है । किन्तु चित्त परमार्थतः आत्मा ही है, इसलिये वह निर्विषय है । उस निर्विषयताके कारण उसे सर्वदा असंग कहा गया है; जैसा कि "यह पुरुष

४ । ३ । १५, १६) इति श्रुतेः । सविषयस्य हि विषये सङ्गः । निर्विषयत्वाच्चित्तमसङ्गमित्यर्थः ॥ ७२ ॥

असंग ही है" इस श्रुतिसे प्रमाणित होता है । जो सविषय होता है उसीका अपने विषयसे संग हो सकता है । अतः तात्पर्य यह है कि निर्विषय होनेके कारण चित्त असंग है॥ ७२ ॥

ननु निर्विषयत्वेन चेदसङ्गत्वं चित्तस्य न निःसङ्गता भवति यस्माच्छास्ता शास्त्रं शिष्यश्चेत्येवमादेर्विषयस्य विद्यमानत्वात् । नैष दोषः; कस्मात्—

शंका—यदि निर्विषयताके कारण ही असंगता होती है तो चित्तकी असंगता तो हो ही नहीं सकती, क्योंकि शास्ता (गुरु), शास्त्र और शिष्य इत्यादि उसके विषय विद्यमान हैं ।

समाधान—यह दोष नहीं हो सकता, क्योंकि—

व्यावहारिक वस्तु परमार्थतः नहीं होती

योऽस्ति कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नास्त्यसौ ।
परतन्त्राभिसंवृत्या स्यान्नास्ति परमार्थतः ॥ ७३ ॥

जो पदार्थ कल्पित व्यवहारके कारण होता है वह परमार्थतः नहीं होता; और यदि अन्य मतावलम्बियोंके शास्त्रोंकी परिभाषाके अनुसार हो तो भी वह परमार्थतः नहीं हो सकता ॥ ७३ ॥

यः पदार्थः शास्त्रादिर्विद्यते स कल्पितसंवृत्या; कल्पिता च सा परमार्थप्रतिपत्त्युपायत्वेन संवृतिश्च सा, तया योऽस्ति परमार्थेन

जो भी शास्त्रादि पदार्थ हैं वे कल्पित व्यवहारसे ही हैं; अर्थात् जिस व्यवहारकी परमार्थतत्त्वकी उपलब्धिके उपायरूपसे कल्पना की गयी है उसके कारण जिस पदार्थकी सत्ता है वह परमार्थसे नहीं है । "ज्ञान हो जानेपर द्वैत नहीं रहता"

नास्त्यसौ न विद्यते । ज्ञाते द्वैतं न विद्यत इत्युक्तम् ।

यश्च परतन्त्राभिसंवृत्या परशास्त्रव्यवहारेण स्यात्पदार्थः स परमार्थतो निरूप्यमाणो नास्त्येव । तेन युक्तमुक्तमसङ्गं तेन कीर्तितमिति ॥ ७३ ॥

(आगम० श्लो० १८) ऐसा हम पहले कह ही चुके हैं ।

इसके सिवा जो पदार्थ परतन्त्रादिसंवृतिसे—अन्य मतावलम्बियोंके शास्त्रव्यवहारसे सिद्ध है वह परमार्थतः निरूपण किये जानेपर नहीं है । अतः 'इसीसे उसे असङ्ग कहा गया है'—यह कथन ठीक ही है ॥ ७३ ॥

आत्मा अज है—यह कल्पना भी व्यावहारिक है

ननु शास्त्रादीनां संवृतित्वेऽज इतीयमपि कल्पना संवृतिः स्यात् ?

सत्यमेवम् ।

शंका—शास्त्रादिको व्यावहारिक माननेपर तो 'अज है' ऐसी कल्पना भी व्यावहारिक ही सिद्ध होगी ?

समाधान—हाँ, बात तो ऐसी ही है ।

अजः कल्पितसंवृत्या परमार्थेन नाप्यजः ।
परतन्त्राभिनिष्पत्त्या संवृत्या जायते तु सः ॥ ७४ ॥

आत्मा 'अज' भी कल्पित व्यवहारके कारण ही कहा जाता है, परमार्थतः तो 'अज' भी नहीं है । अन्य मतावलम्बियोंके शास्त्रोंसे सिद्ध जो संवृति (भ्रमजनित व्यवहार) है उसके अनुसार उसका जन्म होता है । [अतः उसका निषेध करनेके लिये ही उसे 'अज' कहा गया है] ॥ ७४ ॥

शास्त्रादिकल्पितसंवृत्यैवाज इत्युच्यते । परमार्थेन नाप्यजः

शास्त्रादिकल्पित व्यवहारके कारण ही उसे 'अज' ऐसा कहा जाता है । परमार्थतः तो वह अज

यस्मात्परतन्त्राभिनिष्पत्त्या परशास्त्रसिद्धिमपेक्ष्य योऽज इत्युक्तः स संवृत्या जायते । अतोऽज इतीयमपि कल्पना परमार्थविषये नैव क्रमत इत्यर्थः ॥ ७४ ॥

भी नहीं है । क्योंकि यहाँ जिसे अन्य शास्त्रोंकी सिद्धिकी अपेक्षासे 'अज' ऐसा कहा है, वह संवृतिसे ही जन्म भी लेता है । 'अतः वह अज है' ऐसी कल्पनाका भी परमार्थ-राज्यमें प्रवेश नहीं हो सकता ॥७४॥

द्वैताभावसे जन्माभाव

यस्मादसद्विषयस्तस्मात्— । क्योंकि विषय असत् है, इसलिये—

अभूताभिनिवेशोऽस्ति द्वयं तत्र न विद्यते ।
द्वयाभावं स बुद्ध्वैव निर्निमित्तो न जायते ॥ ७५ ॥

लोगोंका असत्य [द्वैत] के विषयमें केवल आग्रह है । वहाँ [परमार्थतत्त्वमें] द्वैत है ही नहीं । जीव द्वैताभावका बोध प्राप्त करके ही, फिर कोई कारण न रहनेसे जन्म नहीं लेता ॥ ७५ ॥

मिथ्याभिनिवेश-निवृत्त्या जन्माभावः

असत्यभूते द्वैतेऽभिनिवेशोऽस्ति केवलम् । अभिनिवेश आग्रहमात्रम् । द्वयं तत्र न विद्यते । मिथ्याभिनिवेशमात्रं च जन्मनः कारणं यस्मात्तस्माद्द्वयाभावं बुद्ध्वा निर्निमित्तो निवृत्तमिथ्याद्वयाभिनिवेशो यः स न जायते ॥ ७५ ॥

असत्यभूत द्वैतमें लोगोंका केवल अभिनिवेश है । आग्रहमात्रका नाम अभिनिवेश है । वहाँ [परमार्थवस्तुमें] द्वैत है ही नहीं । क्योंकि मिथ्या अभिनिवेशमात्र ही जीवके जन्मका कारण है । अतः द्वैताभावको जानकर जो निर्निमित्त हो गया है अर्थात् जिसका मिथ्या द्वैतविषयक आग्रह निवृत्त हो गया है उस [अधिकारी जीव] का फिर जन्म नहीं होता ॥ ७५ ॥

यदा न लभते हेतूनुत्तमाधममध्यमान् ।
तदा न जायते चित्तं हेत्वभावे फलं कुतः ॥ ७६ ॥

जिस समय चित्त उत्तम, मध्यम और अधम हेतुओंको प्राप्त नहीं करता, उस समय उसका जन्म भी नहीं होता; क्योंकि हेतुका अभाव होनेपर फिर फल कहाँ हो सकता है ? ॥ ७६ ॥

हेतुत्रयाभावा- जन्माभावः जात्याश्रमविहिता आशीर्वर्जितैरनुष्ठीयमाना धर्मा देवत्वादिप्राप्तिहेतव उत्तमाः केवलाश्च धर्माः । अधर्मव्यामिश्रा मनुष्यत्वादिप्राप्त्यर्था मध्यमाः । तिर्यगादिप्राप्तिनिमित्ता अधर्मलक्षणाः प्रवृत्तिविशेषाश्चाधमाः । तानुत्तममध्यमाधमानविद्यापरिकल्पितान्यदैकमेवाद्वितीयमात्मतत्त्वं सर्वकल्पनावर्जितं जानन्न लभते न पश्यति यथा बालैर्दृश्यमानं गगने मलं विवेकी न पश्यति तद्वत्तदा न जायते नोत्पद्यते चित्तं देवाद्याकारैरुत्तमाधममध्यमफलरूपेण न ह्यसति हेतौ फलमुत्पद्यते बीजाद्यभाव इव सस्यादि ॥ ७६ ॥

निष्काम मनुष्योंद्वारा अनुष्ठान किये जाते हुए देवत्वादिकी प्राप्तिके हेतुभूत वर्णाश्रमविहित धर्म, जो केवल धर्म ही हैं, उत्तम हेतु हैं और मनुष्यत्वादिकी प्राप्तिके हेतुभूत जो अधर्ममिश्रित धर्म हैं वे मध्यम हेतु हैं तथा तिर्यगादि योनियोंकी प्राप्तिकी हेतुभूत अधर्ममयी विशेष प्रवृत्तियाँ अधम हेतु हैं । जिस समय सम्पूर्ण कल्पनासे रहित एकमात्र अद्वितीय आत्मतत्त्वका ज्ञान होनेपर उन उत्तम, मध्यम और अधम हेतुओंको मनुष्य इस प्रकार उपलब्ध नहीं करता, जैसे कि विवेकी पुरुष आकाशमें बालकोंको दिखायी देनेवाली मलिनताको नहीं देखता, उस समय चित्त उत्तम, मध्यम और अधम फलरूपसे देवादि शरीरोंमें उत्पन्न नहीं होता । बीजादिके अभावमें जैसे अन्नादि उत्पन्न नहीं होते उसी प्रकार हेतुके न होनेपर फलकी भी उत्पत्ति नहीं होती ॥ ७६ ॥

हेत्वभावे चित्तं नोत्पद्यत इति

हेतुका अभाव हो जानेपर चित्त उत्पन्न नहीं होता—ऐसा पहले कहा

ह्युक्तम् । सा पुनरनुत्पत्तिश्चित्तस्य कीदृशीत्युच्यते—

गया । किन्तु वह चित्तकी अनुत्पत्ति कैसी होती है? इसपर कहा जाता है—

अनिमित्तस्य चित्तस्य यानुत्पत्तिः समाद्वया ।
अजातस्यैव सर्वस्य चित्तदृश्यं हि तद्यतः ॥ ७७ ॥

[इस प्रकार] निमित्तशून्य चित्तकी जो अनुत्पत्ति है वह सर्वथा निर्विशेष और अद्वितीय है । [क्योंकि पहले भी] वह सर्वदा अजात [अर्थात् अद्वितीय] चित्तकी ही होती है, क्योंकि यह जो कुछ [प्रतीयमान द्वैतवर्ग] है, सब चित्तका ही दृश्य है ॥ ७७ ॥

परमार्थदर्शनेन निरस्तधर्माधर्माख्योत्पत्तिनिमित्तस्यानिमित्तस्य चित्तस्येति या मोक्षाख्यानुत्पत्तिः सा सर्वदा सर्वावस्थासु समा निर्विशेषाद्वया च । पूर्वमप्यजातस्यैवानुत्पन्नस्य चित्तस्य सर्वस्याद्वयस्येत्यर्थः । यस्मात्प्रागपि विज्ञानाच्चित्तदृश्यं तद्द्वयं जन्म च तस्मादजातस्य सर्वस्य सर्वदा चित्तस्य समाद्वयैवानुत्पत्तिर्न पुनः कदाचिद्भवति कदाचिद्वा न भवति । सर्वदैकरूपैवेत्यर्थः ॥७७॥

परमार्थज्ञानके द्वारा जिसका धर्माधर्मरूप उत्पत्तिका कारण निवृत्त हो गया है उस निमित्तशून्य चित्तकी जो मोक्षसंज्ञक अनुत्पत्ति है वह सर्वदा सब अवस्थाओंमें समान अर्थात् निर्विशेष और अद्वितीय है । वह पहलेसे ही अजात—अनुत्पन्न और सर्व अर्थात् अद्वय चित्तकी ही होती है । क्योंकि बोध होनेके पूर्व भी वह द्वैत और जन्म चित्तका ही दृश्य था, अतः सम्पूर्ण अजात चित्तकी अनुत्पत्ति सर्वदा समान और अद्वय ही होती है । ऐसी नहीं है कि कभी होती है और कभी नहीं होती । तात्पर्य यह है कि वह सर्वदा एकरूपा ही है ॥ ७७ ॥

विद्वान्की अभयपदप्राप्ति

यथोक्तेन न्यायेन जन्मनिमित्तस्य द्वयस्याभावात्—

उपर्युक्त न्यायसे जन्मके हेतुभूत द्वैतका अभाव होनेके कारण—

बुद्‌ध्वानिमित्ततां सत्यां हेतुं पृथगनाप्नुवन् ।
वीतशोकं तथाकाममभयं पदमश्नुते ॥ ७८ ॥

अनिमित्तताको ही सत्य जानकर और [देवादि योनिकी प्राप्तिके] किसी अन्य हेतुको न पाकर विद्वान् शोक और कामसे रहित अभयपद प्राप्त कर लेता है ॥ ७८ ॥

अनिमित्ततां च सत्यां परमार्थरूपां बुद्‌ध्वा हेतुं धर्मादिकारणं देवादियोनिप्राप्तये पृथगनाप्नुवन्ननुपाददानस्त्यक्तबाह्यैषणः सन्कामशोकादिवर्जितमविद्यादिरहितमभयं पदमश्नुते पुनर्न जायत इत्यर्थः ॥ ७८ ॥

अनिमित्तताको ही सत्य यानी परमार्थरूप जानकर तथा देवादि योनियोंकी प्राप्तिके लिये किसी अन्य धर्मादि कारणको न पाकर [विद्वान्] बाह्य एषणाओंसे मुक्त हो कामना एवं शोकादिसे रहित अविद्याशून्य अभयपदको प्राप्त कर लेता है; अर्थात् फिर जन्म नहीं लेता ॥ ७८ ॥

अभूताभिनिवेशाद्धि सदृशे तत्प्रवर्तते ।
वस्त्वभावं स बुद्‌ध्वैव निःसङ्गं विनिवर्तते ॥ ७९ ॥

चित्त असत्य [द्वैत] के अभिनिवेशसे ही तदनुरूप विषयोंमें प्रवृत्त होता है । तथा [द्वैत] वस्तुके अभावका बोध होनेपर ही वह उससे निःसंग होकर लौट आता है ॥ ७९ ॥

यस्मादभूताभिनिवेशादसति द्वये द्वयास्तित्वनिश्चयोऽभूताभिनिवेशस्तस्मादविद्याव्यामोहरूपाद्धि सदृशे तदनुरूपे तच्चित्तं प्रवर्तते । तस्य द्वयस्य वस्तुनो-

क्योंकि अभूताभिनिवेशसे जो द्वैत वस्तुतः असत् है उसके अस्तित्वका निश्चय करना 'अभूताभिनिवेश, है—उस अविद्याजनित मोहरूप असत्याभिनिवेशके कारण ही चित्त तदनुरूप विषयोंमें प्रवृत्त होता है । जिस समय वह उस द्वैत वस्तुका

ऽभावं यदा बुद्धवांस्तदा तस्मान्निःसङ्गं निरपेक्षं सद्विनिवर्ततेऽभूताभिनिवेशविषयात् ॥७९॥

अभाव जान लेता है उस समय उस मिथ्या अभिनिवेशजनित विषयसे निःसंग–निरपेक्ष होकर लौट आता है ॥ ७९ ॥

मनोवृत्तियोंकी सन्धिमें ब्रह्मसाक्षात्कार

निवृत्तस्याप्रवृत्तस्य निश्चला हि तदा स्थितिः ।
विषयः स हि बुद्धानां तत्साम्यमजमद्वयम् ॥ ८० ॥

इस प्रकार [द्वैतसे] निवृत्त और [विषयान्तरमें] प्रवृत्त न हुए चित्तकी उस समय निश्चल स्थिति रहती है । वह परमार्थदर्शी पुरुषोंका ही विषय है और वही परम साम्य, अज और अद्वय है ॥ ८० ॥

निवृत्तस्य द्वैतविषयाद्विषयान्तरे चाप्रवृत्तस्याभावदर्शनेन चित्तस्य निश्चला चलनवर्जिता ब्रह्मस्वरूपैव तदा स्थितिः । यैषा ब्रह्मस्वरूपा स्थितिश्चित्तस्याद्वयविज्ञानैकरसघनलक्षणा, स हि यस्माद्विषयो गोचरः परमार्थदर्शिनां बुद्धानां तस्मात्तत्साम्यं परं निर्विशेषमजमद्वयं च ॥८०॥

उस समय द्वैतविषयसे निवृत्त और विषयान्तरमें अप्रवृत्त चित्तकी अभावदर्शनके कारण निश्चला–चलनवर्जिता अर्थात् ब्रह्मस्वरूपा स्थिति रहती है । चित्तकी जो यह अद्वयविज्ञानैकरसघनस्वरूपा ब्रह्ममयी स्थिति है वह, क्योंकि परमार्थदर्शी ज्ञानियोंका विषय–गोचर है इसलिये, परमसाम्य–निर्विशेष अज और अद्वय है ॥ ८० ॥

पुनरपि कीदृशश्चासौ बुद्धानां विषय इत्याह—

वह ज्ञानियोंका विषय किस प्रकारका है ? सो फिर भी बतलाते हैं—

अजमनिद्रमस्वप्नं प्रभातं भवति स्वयम् ।
सकृद्विभातो ह्येवैष धर्मो धातुस्वभावतः ॥ ८१ ॥

वह अज, अनिद्र, अस्वप्न और स्वयं प्रकाश है। यह [आत्मा-नामक] धर्म अपने वस्तु-स्वभावसे ही नित्य प्रकाशमान है ॥ ८१ ॥

स्वयमेव तत्प्रभातं भवति, नादित्याद्यपेक्षम्; स्वयंज्योतिःस्वभावमित्यर्थः। सकृद्विभातः सदैव विभात इत्येतदेष एवंलक्षण आत्माख्यो धर्मो धातुस्वभावतो वस्तुस्वभावत इत्यर्थः ॥ ८१ ॥

वह स्वयं ही प्रकाशित होता है—आदित्य आदिकी अपेक्षासे नहीं अर्थात् वह स्वयं प्रकाशस्वभाव है। यह ऐसे लक्षणोंवाला आत्मानामक धर्म धातुस्वभाव—वस्तुस्वभावसे ही सकृद्विभात सदा भासमान है ॥ ८१ ॥

आत्माकी दुर्दर्शताका हेतु

एवमुच्यमानमपि परमार्थतत्त्वं कस्माल्लौकिकैर्न गृह्यत इत्युच्यते—

इस प्रकार कहे जानेपर भी लौकिक पुरुषोंको इस परमार्थतत्त्वका बोध क्यों नहीं होता ? इसपर कहते हैं—

सुखमाव्रियते नित्यं दुःखं विव्रियते सदा।
यस्य कस्य च धर्मस्य ग्रहेण भगवानसौ ॥ ८२ ॥

वे भगवान् जिस-किसी द्वैतवस्तुके आग्रहसे अनायास ही आच्छादित हो जाते हैं और सदा कठिनतासे प्रकट होते हैं ॥ ८२ ॥

यस्माद्यस्य कस्यचिद्द्वयवस्तुनो धर्मस्य ग्रहेण ग्रहणावेशेन मिथ्याभिनिविष्टतया सुखमाव्रियतेऽनायासेनाच्छाद्यत इत्यर्थः। द्वयोपलब्धिनिमित्तं हि तत्रावरणं न यत्नान्तरमपेक्षते। दुःखं च

क्योंकि जिस किसी धर्म—द्वैत वस्तुके ग्रहण—आग्रहसे मिथ्याभिनिवेशके कारण वे भगवान् अर्थात् अद्वय आत्मदेव सहज ही आवृत हो जाते हैं अर्थात् बिना आयासके ही आच्छादित हो जाते हैं—क्योंकि द्वैतोपलब्धिके निमित्तसे होनेवाला आवरण किसी अन्य यत्नकी अपेक्षा

विव्रियते प्रकटीक्रियते, परमार्थज्ञानस्य दुर्लभत्वात् । भगवानसावात्माद्वयो देव इत्यर्थः, अतो वेदान्तैराचार्यैश्च बहुश उच्यमानोऽपि नैव ज्ञातुं शक्य इत्यर्थः । "आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा" (क० उ० १ । २ । ७) इति श्रुतेः ॥८२॥

नहीं करता—और परमार्थज्ञान दुर्लभ होनेके कारण दुःखसे प्रकट किये जाते हैं; इसलिये वेदान्ताचार्योंके अनेक प्रकार निरूपण करनेपर भी जाननेमें नहीं आ सकते—यह इसका तात्पर्य है । "इसका वर्णन करनेवाला आश्चर्यरूप है तथा इसे ग्रहण करनेवाला भी कोई निपुण पुरुष ही होता है" इस श्रुतिसे भी यही सिद्ध होता है ॥ ८२ ॥

परमार्थका आवरण करनेवाले असदभिनिवेश

अस्ति नास्तीत्यादिसूक्ष्मविषया अपि पण्डितानां ग्रहा भगवतः परमात्मन आवरणा एव किमुत मूढजनानां बुद्धिलक्षणा इत्येवमर्थं प्रदर्शयन्नाह—

अस्ति-नास्ति इत्यादि सूक्ष्मविषय भी, जो पण्डितोंके आग्रह हैं, भगवान् परमात्माके आवरण ही हैं, फिर मूर्ख लोगोंके बुद्धिरूप आग्रहोंकी तो बात ही क्या है ? इसी बातको दिखलाते हुए कहते हैं—

अस्ति नास्त्यस्ति नास्तीति नास्ति नास्तीति वा पुनः ।
चलस्थिरोभयाभावैरावृणोत्येव बालिशः ॥८३॥

आत्मा है, नहीं है, है भी और नहीं भी है तथा नहीं है—नहीं है—इस प्रकार क्रमशः चल, स्थिर, उभयरूप और अभावरूप कोटियोंसे मूर्खलोग परमात्माको आच्छादित ही करते हैं ॥ ८३ ॥

अस्त्यात्मेति वादी कश्चित्प्रतिपद्यते । नास्तीत्यपरो वैनाशिकः । अस्ति नास्तीत्यपरोऽर्ध-

कोई वादी कहता है—'आत्मा है' । दूसरा वैनाशिक कहता है—'नहीं है' । तीसरा अर्द्धवैनाशिक सदसद्वादी दिगम्बर कहता है—'है

वैनाशिकः सदसद्वादी दिग्वासाः । नास्ति नास्तीत्यन्तशून्यवादी । तत्रास्तिभावश्चलः, घटाद्यनित्यविलक्षणत्वात् । नास्तिभावः स्थिरः सदाविशेषत्वात् । उभयं चलस्थिरविषयत्वात्सदसद्भावोऽभावोऽत्यन्ताभावः ।

भी और नहीं भी है' । तथा अत्यन्त शून्यवादीका कथन है कि 'नहीं है—नहीं है' । इनमें अस्तिभाव 'चल' है, क्योंकि वह घट आदि अनित्य पदार्थोंसे भिन्न है । [तात्पर्य यह है कि घटादिका प्रमाता सुखादि विशेष धर्मोंसे युक्त होनेके कारण परिणामी—चल है] । सदा अविशेषरूप होनेसे नास्तिभाव 'स्थिर' है । चल और स्थिरविषयक होनेसे सदसद्भाव उभयरूप है तथा अभाव अत्यन्ताभावरूप है ।

प्रकारचतुष्टयस्यापि तैरेतैश्चलस्थिरोभयाभावैः सदसदादिवादी सर्वोऽपि भगवन्तमावृणोत्येव बालिशोऽविवेकी । यद्यपि पण्डितो बालिश एव परमार्थतत्त्वानवबोधात्किमु स्वभावमूढो जन इत्यभिप्रायः ॥ ८३ ॥

इन चल, स्थिर, चलस्थिर और अभावरूप चार प्रकारके भावोंसे सभी मूर्ख अर्थात् विवेकहीन सदसदादि वादीगण भगवान्‌को आच्छादित ही करते हैं । वे यद्यपि पण्डित हैं, तो भी परमार्थतत्त्वका ज्ञान न होनेके कारण मूर्ख ही हैं । अतः तात्पर्य यह है कि फिर स्वभावसे ही मूर्खलोगोंकी तो बात ही क्या है ? ॥ ८३ ॥

कीदृक्पुनः परमार्थतत्त्वं यदवबोधादबालिशः पण्डितो भवतीत्याह—

तो फिर वह परमार्थतत्त्व कैसा है जिसका ज्ञान होनेपर मनुष्य अबालिश अर्थात् पण्डित हो जाता है ? इसपर कहते हैं—

कोट्यश्चतस्र एतास्तु ग्रहैर्यासां सदावृतः ।
भगवानाभिरस्पृष्टो येन दृष्टः स सर्वदृक् ॥ ८४ ॥

जिनके अभिनिवेशसे आत्मा सदा ही आवृत रहता है वे ये चार ही कोटियाँ हैं। इनसे असंस्पृष्ट (अछूते) भगवान्‌को जिसने देखा है वही सर्वज्ञ है ॥ ८४ ॥

चतुष्कोटिवर्जितात्मज्ञानस्य सार्वज्ञकारणत्वम्

कोटयः प्रावादुकशास्त्रनिर्णयान्ता एता उक्ता अस्ति नास्तीत्याद्याश्चतस्रो यासां कोटीनां ग्रहैर्ग्रहणैरुपलब्धिनिश्चयैः सदा सर्वदावृत आच्छादितस्तेषामेव प्रावादुकानां यः स भगवानाभिरस्तिनास्तीत्यादिकोटिभिश्चतसृभिरप्यस्पृष्टोऽस्त्यादिविकल्पनावर्जित इत्येतद्येन मुनिना दृष्टो ज्ञातो वेदान्तेष्वौपनिषदः पुरुषः स सर्वदृक्सर्वज्ञः परमार्थपण्डित इत्यर्थः ॥ ८४ ॥

उन प्रवाद करनेवाले वादियोंके शास्त्रोंद्वारा निर्णय की हुई ये अस्ति-नास्ति आदि चार ही कोटियाँ हैं। जिन कोटियोंके ग्रह—ग्रहणसे ही, अर्थात् उन प्रावादुकोंके इस उपलब्धि-जनित निश्चयसे ही जो भगवान् सदा आवृत है उसे जिस मुनिने इन अस्ति-नास्ति आदि चारों ही कोटियोंसे असंस्पृष्ट अर्थात् अस्ति-नास्ति आदि विकल्पसे सर्वदा रहित देखा है, यानी उसे वेदान्तोंमें [प्रतिपादित] औपनिषद पुरुषरूपसे जाना है वही सर्वदृक्—सर्वज्ञ अर्थात् परमार्थको जाननेवाला है ॥ ८४ ॥

ज्ञानीका नैष्कर्म्य

प्राप्य सर्वज्ञतां कृत्स्नां ब्राह्मण्यं पदमद्वयम् ।
अनापन्नादिमध्यान्तं किमतः परमीहते ॥ ८५ ॥

इस पूर्ण सर्वज्ञता और आदि, मध्य एवं अन्तसे रहित अद्वितीय ब्राह्मण्य पदको पाकर भी क्या [वह विवेकी पुरुष] फिर कोई चेष्टा करता है ? ॥ ८५ ॥

प्राप्यैतां यथोक्तां कृत्स्नां समस्तां सर्वज्ञतां ब्राह्मण्यं पदं "स ब्राह्मणः" (बृ० उ०

इस उपर्युक्त सम्पूर्ण सर्वज्ञता और "[जो इस अक्षरको जानकर इस लोकसे जाता है] वह ब्राह्मण

३ । ८ । १०) "एष नित्यो महिमा ब्राह्मणस्य" (बृ० उ० ४ । ४ । २३) इति श्रुतेः; आदिमध्यान्ता उत्पत्तिस्थितिलया अनापन्ना अप्राप्ता यस्याद्वयस्य पदस्य न विद्यन्ते तदनापन्नादिमध्यान्तं ब्राह्मण्यं पदम्, तदेव प्राप्य लब्ध्वा किमतः परमस्मादात्मलाभादूर्ध्वमीहते चेष्टते निष्प्रयोजनमित्यर्थः । "नैव तस्य कृतेनार्थः" (गीता ३।१८) इत्यादिस्मृतेः ॥ ८५ ॥

है" "यह ब्राह्मणकी शाश्वती महिमा है" इत्यादि श्रुतियोंके अनुसार ब्राह्मण्यपदको प्राप्तकर—जिस अद्वय पदके आदि, मध्य और अन्त अर्थात् उत्पत्ति, स्थिति और लय अनापन्न—अप्राप्त हैं अर्थात् नहीं हैं वह अनापन्नादिमध्यान्त ब्राह्मण्यपद है, उसीको पाकर इससे पीछे—इस आत्मलाभके अनन्तर कोई प्रयोजन न रहनेपर भी क्या [वह विद्वान्] कोई चेष्टा करता है ? [अर्थात् नहीं करता] जैसा कि "उसका किसी कार्यसे प्रयोजन नहीं रहता" इस स्मृतिसे प्रमाणित होता है ॥८५॥

विप्राणां विनयो ह्येष शमः प्राकृत उच्यते ।
दमः प्रकृतिदान्तत्वादेवं विद्वाञ्शमं व्रजेत् ॥ ८६ ॥

[आत्मस्वरूपमें स्थित रहना] यह उन ब्राह्मणोंका विनय है, यही उनका स्वाभाविक शम कहा जाता है तथा स्वभावसे ही दान्त (जितेन्द्रिय) होनेके कारण यही उनका दम भी है । इस प्रकार विद्वान् शान्तिको प्राप्त हो जाता है ॥ ८६ ॥

विप्राणां ब्राह्मणानां विनयो विनीतत्वं स्वाभाविकं यदेतदात्मस्वरूपेणावस्थानम् । एष विनयः शमोऽप्येष एव प्राकृतः स्वाभाविकोऽकृतक उच्यते । दमोऽप्येष

ब्राह्मणोंका जो यह आत्मस्वरूपसे स्थित होनारूप विनय—विनीतत्व है वह स्वाभाविक है । उनका यह विनय और यही प्राकृत—स्वाभाविक अर्थात् अकृतक शम भी कहा जाता है । ब्रह्मस्वभावसे ही उपशान्तरूप

एव प्रकृतिदान्तत्वात्स्वभावत एव चोपशान्तरूपत्वाद्ब्रह्मणः । एवं यथोक्तं स्वभावोपशान्तं ब्रह्म विद्वाञ्शममुपशान्तिं स्वाभाविकीं ब्रह्मस्वरूपां व्रजेद्ब्रह्मस्वरूपेणावतिष्ठत इत्यर्थः ॥ ८६ ॥

है, अतः प्रकृतितः दान्त होनेके कारण यही उनका दम भी है । इस प्रकार उपर्युक्त स्वभावतः शान्त ब्रह्मको जाननेवाला पुरुष शम—ब्रह्मस्वरूपा स्वाभाविकी उपशान्तिको प्राप्त हो जाता है, अर्थात् ब्रह्मरूपसे स्थित हो जाता है ॥ ८६ ॥

त्रिविध ज्ञेय

एवमन्योन्यविरुद्धत्वात्संसारकारणानि रागद्वेषदोषास्पदानि प्रावादुकानां दर्शनानि । अतो मिथ्यादर्शनानि तानीति तद्युक्तिभिरेव दर्शयित्वा चतुष्कोटिवर्जितत्वाद्रागादिदोषानास्पदं स्वभावशान्तमद्वैतदर्शनमेव सम्यग्दर्शनमित्युपसंहृतम् । अथेदानीं स्वप्रक्रियाप्रदर्शनार्थ आरम्भः—

इस प्रकार एक-दूसरेसे विरुद्ध होनेके कारण प्रावादुकों (वादियों) के दर्शन संसारके कारणस्वरूप राग-द्वेषादि दोषोंके आश्रय हैं । अतः वे मिथ्या दर्शन हैं—यह बात उन्हींकी युक्तियोंसे दिखलाकर चारों कोटियोंसे रहित होनेके कारण रागादि दोषोंका अनाश्रयभूत स्वभावतः शान्त अद्वैतदर्शन ही सम्यग्दर्शन है—इस प्रकार उपसंहार किया गया । अब यहाँसे अपनी प्रक्रिया दिखलानेके लिये आरम्भ किया जाता है—

सवस्तु सोपलम्भं च द्वयं लौकिकमिष्यते ।
अवस्तु सोपलम्भं च शुद्धं लौकिकमिष्यते ॥ ८७ ॥

वस्तु और उपलब्धि दोनोंके सहित जो द्वैत है उसे लौकिक (जाग्रत्) कहते हैं तथा जो द्वैत वस्तुके बिना केवल उपलब्धिके सहित है उसे शुद्ध लौकिक (स्वप्न) कहते हैं ॥ ८७ ॥

लौकिकम् सवस्तु संवृतिसता वस्तुना सह वर्तत इति सवस्तु, तथा चोपलब्धिरुपलम्भस्तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च शास्त्रादिसर्वव्यवहारास्पदं ग्राह्यग्राहकलक्षणं द्वयं लौकिकं लोकादनपेतं लौकिकं जागरितमित्येतत् । एवंलक्षणं जागरितमिष्यते वेदान्तेषु ।

सवस्तु—व्यावहारिक सत् वस्तुके सहित रहता है, इसलिये जो सवस्तु है तथा उपलम्भ यानी उपलब्धिके सहित है, इसलिये जो 'सोपलम्भ' है ऐसा शास्त्रादि सम्पूर्ण व्यवहारका आश्रयभूत ग्राह्य-ग्रहणरूप जो द्वैत है वह 'लौकिक'—लोकसे दूर न रहनेवाला अर्थात् जाग्रत् कहलाता है । वेदान्तोंमें जागरितको ऐसे लक्षणोंवाला माना है ।

शुद्धलौकिकम् अवस्तु संवृतेरप्यभावात् सोपलम्भं वस्तुवदुपलम्भनमुपलम्भोऽसत्यपि वस्तुनि तेन सह वर्तत इति सोपलम्भं च । शुद्धं केवलं प्रविभक्तं जागरितात्स्थूलाल्लौकिकं सर्वप्राणिसाधारणत्वादिष्यते स्वप्न इत्यर्थः ॥ ८७ ॥

संवृतिका भी अभाव होनेके कारण जो 'अवस्तु' है—किन्तु 'सोपलम्भ' है—वस्तुके न होनेपर भी वस्तुके समान उपलब्ध होना 'उपलम्भ' कहलाता है उसके सहित होनेके कारण जो 'सोपलम्भ' है वह सम्पूर्ण प्राणियोंके लिये साधारण होनेके कारण शुद्ध-केवल अर्थात् जागरितरूप स्थूल लौकिकसे भिन्न लौकिक माना जाता है; अर्थात् वह स्वप्नावस्था है ॥ ८७॥

अवस्त्वनुपलम्भं च लोकोत्तरमिति स्मृतम् ।
ज्ञानं ज्ञेयं च विज्ञेयं सदा बुद्धैः प्रकीर्तितम् ॥ ८८ ॥

जो वस्तु और उपलब्धि दोनोंसे रहित है वह अवस्था लोकोत्तर (सुषुप्ति) मानी गयी है । इस प्रकार विद्वानोंने सर्वदा ही [अवस्थात्रयरूप] ज्ञान और ज्ञेय तथा [तुरीयरूप] विज्ञेयका निरूपण किया है ॥ ८८ ॥

लोकोत्तरम्

अवस्त्वनुपलम्भं च ग्राह्यग्रहणवर्जितमित्येतत्, लोकोत्तरम् अत एव लोकातीतम्। ग्राह्यग्रहणविषयो हि लोकस्तदभावात्सर्वप्रवृत्तिबीजं सुषुप्तमित्येतदेवं स्मृतम्।

सोपायं परमार्थतत्त्वं लौकिकं शुद्धलौकिकं लोकोत्तरं च क्रमेण येन ज्ञानेन ज्ञायते तज्ज्ञानम्। ज्ञेयमेतान्येव त्रीणि। एतद्व्यतिरेकेण ज्ञेयानुपपत्तेः सर्वप्रावादुककल्पितवस्तुनोऽत्रैवान्तर्भावात्। विज्ञेयं परमार्थसत्यं तुर्याख्यमद्वयमजमात्मतत्त्वमित्यर्थः। सदा सर्वदा एतल्लौकिकादिविज्ञेयान्तं बुद्धैः परमार्थदर्शिभिर्ब्रह्मविद्भिः प्रकीर्तितम्॥ ८८॥

अवस्तु और अनुपलम्भ अर्थात् ग्राह्य और ग्रहणसे रहित जो अवस्था है वह 'लोकोत्तर' अतएव 'लोकातीत' कहलाती है, क्योंकि ग्राह्य और ग्रहणका विषय ही लोक है। उसका अभाव होनेके कारण वह सुषुप्त-अवस्था सम्पूर्ण प्रवृत्तियोंकी बीजभूता है—ऐसा माना गया है।

उपायके सहित परमार्थतत्त्व तथा लौकिक, शुद्ध लौकिक और लोकोत्तर अवस्थाओंका जिस ज्ञानके द्वारा क्रमशः बोध होता है उसे 'ज्ञान' कहते हैं तथा ये तीनों अवस्थाएँ ही 'ज्ञेय' हैं, क्योंकि समस्त वादियोंकी कल्पना की हुई वस्तुओंका इन्हींमें अन्तर्भाव होनेके कारण इनके सिवा किसी अन्य ज्ञेयका होना सम्भव नहीं है। जो परमार्थ सत्य तुरीयसंज्ञक अद्वय अजन्मा आत्मतत्त्व है वही 'विज्ञेय' है। ऐसा इसका अभिप्राय है। उन लौकिकसे लेकर विज्ञेयपर्यन्त सम्पूर्ण वस्तुओंका परमार्थदर्शी विद्वानोंने सदा—सर्वदा ही निरूपण किया है॥ ८८॥

त्रिविध ज्ञेय और ज्ञानका ज्ञाता सर्वज्ञ है

ज्ञाने च त्रिविधे ज्ञेये क्रमेण विदिते स्वयम्।
सर्वज्ञता हि सर्वत्र भवतीह महाधियः॥ ८९॥

ज्ञान और तीन प्रकारके ज्ञेयको क्रमशः जान लेनेपर इस लोकमें उस महाबुद्धिमान्‌को स्वयं ही सर्वत्र सर्वज्ञता हो जाती है ॥ ८९ ॥

ज्ञाने च लौकिकादिविषये, ज्ञेये च लौकिकादौ त्रिविधे— पूर्वं लौकिकं स्थूलम्, तदभावेन पश्चाच्छुद्धं लौकिकम्, तदभावेन लोकोत्तरमित्येवं क्रमेण स्थानत्रयाभावेन परमार्थसत्ये तुर्येऽद्वयेऽजेऽभये विदिते स्वयमेवात्मस्वरूपमेव सर्वज्ञता सर्वश्चासौ ज्ञश्च सर्वज्ञस्तद्भावः सर्वज्ञता, इहास्मिँल्लोके भवति महाधियो महाबुद्धेः । सर्वलोकातिशयवस्तुविषयबुद्धित्वादेवंविदः सर्वत्र सर्वदा भवति । सकृद्विदिते स्वरूपे व्यभिचाराभावादित्यर्थः । न हि परमार्थविदो ज्ञानोद्भवाभिभवौ स्तो यथान्येषां प्रावादुकानाम् ॥ ८९ ॥

लौकिकादिविषयक ज्ञान और लौकिकादि तीन प्रकारके ज्ञेयको जान लेनेपर, अर्थात् पहले स्थूल लौकिकको, फिर उसके अभावमें शुद्ध लौकिकको तथा उसके भी अभावमें लोकोत्तरको-इस प्रकार क्रमशः तीनों अवस्थाओंके अभावद्वारा परमार्थसत्य अद्वय, अजन्मा और अभयरूप तुरीयको जान लेनेपर, इस लोकमें उस महाबुद्धिको सर्वत्र यानी सर्वदा स्वयं आत्मस्वरूप ही सर्वज्ञता—जो सर्वरूप ज्ञ (ज्ञानी) हो उसे 'सर्वज्ञ' कहते हैं, उसीकी भावरूपा सर्वज्ञता प्राप्त होती है, क्योंकि ऐसा जाननेवालेकी बुद्धि सम्पूर्ण लोकसे बढ़ी हुई वस्तुको विषय करनेवाली होती है । तात्पर्य यह है कि स्वरूपका एक बार ज्ञान हो जानेपर उसका कभी व्यभिचार न होनेके कारण [उसकी सर्वज्ञता सर्वदा रहती है], क्योंकि जिस प्रकार अन्य वादियोंके ज्ञानके उदय और अस्त होते रहते हैं उस प्रकार परमार्थवेत्ता ज्ञानीके ज्ञानके उदय और अस्त नहीं होते ॥ ८९ ॥

लौकिकादीनां क्रमेण ज्ञेयत्वेन निर्देशादस्तित्वाशङ्का परमार्थतो मा भूदित्याह—

[उपर्युक्त श्लोकमें] लौकिकादिको क्रमशः ज्ञेयरूपसे बतलाये जानेके कारण उनके परमार्थतः अस्तित्वकी आशङ्का न हो जाय—इसलिये कहते हैं—

हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञेयान्यग्रयाणतः ।
तेषामन्यत्र विज्ञेयादुपलम्भस्त्रिषु स्मृतः ॥ ९० ॥

[जाग्रदादि] हेय, [सत्यब्रह्मस्वरूप] ज्ञेय, [पाण्डित्यादि] प्राप्तव्य साधन और [राग-द्वेषादि] प्रशमनीय दोष—ये सबसे पहले जानने योग्य हैं । इनमेंसे ज्ञेय (ब्रह्म) को छोड़कर शेष तीनोंमें तो केवल उपलम्भ (अविद्याकल्पितत्व) ही माना गया है ॥ ९० ॥

हेयानि च लौकिकादीनि त्रीणि जागरितस्वप्नसुषुप्तान्यात्मन्यसत्त्वेन रज्ज्वां सर्पवद्धातव्यानीत्यर्थः । ज्ञेयमिह चतुष्कोटिवर्जितं परमार्थतत्त्वम् । आप्यान्याप्तव्यानि त्यक्तबाह्यैषणात्रयेण भिक्षुणा पाण्डित्यबाल्यमौनाख्यानि साधनानि । पाक्यानि रागद्वेषमोहादयो दोषाः कषायाख्यानि पक्तव्यानि । सर्वाण्येतानि हेयज्ञेयाप्यपाक्यानि विज्ञे-

लौकिकादि तीन हेय हैं । तात्पर्य यह है कि जागरित, स्वप्न और सुषुप्ति—ये तीनों अवस्थाएँ रज्जुमें सर्पके समान आत्मामें असत् होनेके कारण त्यागने योग्य हैं । चारों कोटियोंसे रहित परमार्थतत्त्व ही यहाँ ज्ञेय माना गया है । बाह्य तीनों एषणाओंको त्याग देनेवाले मुमुक्षुके लिये पाण्डित्य, बाल्य और मौन नामक तीन साधन ही आप्य—प्राप्तव्य हैं; तथा राग, द्वेष और मोह आदि कषायसंज्ञक दोष ही [उसके लिये] पाक्य—पाक (जीर्ण) करने योग्य हैं । तात्पर्य यह है कि मुमुक्षुको हेय, ज्ञेय, आप्य और पाक्य इन सबको ही अग्रयाणतः—

यानि भिक्षुणोपायत्वेनेत्यर्थः, अग्रयाणतः प्रथमतः ।

तेषां हेयादीनामन्यत्र विज्ञेयात्परमार्थसत्यं विज्ञेयं ब्रह्मैकं वर्जयित्वा, उपलम्भनमुपलम्भोऽविद्याकल्पनामात्रम् । हेयाप्यपाक्येषु त्रिष्वपि स्मृतो ब्रह्मविद्भिर्न परमार्थसत्यता त्रयाणामित्यर्थः ॥ ९० ॥

सबसे पहले अपने साधनरूपसे जानना चाहिये ।

उन हेय आदिमेंसे केवल एक परमार्थ सत्य ज्ञेय ब्रह्मको छोड़कर शेष हेय, आप्य और पाक्य—इन तीनोंमें ब्रह्मवेत्ताओंने केवल उपलम्भ—उपलम्भन यानी अविद्यामय कल्पनामात्र ही माना है, अर्थात् इन तीनोंकी परमार्थसत्यता स्वीकार नहीं की है ॥ ९० ॥

जीव आकाशके समान अनादि और अभिन्न हैं

परमार्थतस्तु—

वास्तवमें तो—

प्रकृत्याकाशवज्ज्ञेयाः सर्वे धर्मा अनादयः ।
विद्यते न हि नानात्वं तेषां क्वचन किंचन ॥ ९१ ॥

सम्पूर्ण जीवोंको स्वभावसे ही आकाशके समान और अनादि जानना चाहिये । उनका नानात्व कहीं कुछ भी नहीं है ॥ ९१ ॥

प्रकृत्या स्वभावत आकाशवदाकाशतुल्याः सूक्ष्मनिरञ्जनसर्वगतत्वैः सर्वे धर्मा आत्मानो ज्ञेया मुमुक्षुभिरनादयो नित्याः । बहुवचनकृतभेदाशङ्कां निराकुर्वन्नाह—क्वचन किंचन किंचि-

मुमुक्षुओंको सूक्ष्मत्व, निरञ्जनत्व और सर्वगतत्व आदिके कारण सभी धर्मों—जीवोंको प्रकृतिसे अर्थात् स्वभावतः आकाशवत्—आकाशके समान और अनादि यानी नित्य जानना चाहिये । यहाँ बहुवचनके कारण होनेवाले जीवात्माओंके भेदकी आशङ्काका निराकरण करते हुए कहते हैं—उनका क्वचन—कहीं,

दणुमात्रमपि तेषां न विद्यते नानात्वमिति ॥ ९१ ॥

किञ्चन कुछ भी अर्थात् अणुमात्र भी नानात्व नहीं है ॥ ९१ ॥

आत्मतत्त्वनिरूपण

ज्ञेयतापि धर्माणां संवृत्यैव न परमार्थत इत्याह—

आत्माओंकी जो ज्ञेयता है वह भी व्यावहारिक ही है परमार्थतः नहीं—इसी अभिप्रायसे कहते हैं—

आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव सर्वे धर्माः सुनिश्चिताः ।
यस्यैवं भवति क्षान्तिः सोऽमृतत्वाय कल्पते ॥ ९२ ॥

सम्पूर्ण आत्मा स्वभावसे ही बोधस्वरूप और सुनिश्चित हैं—जिसे ऐसा समाधान हो जाता है वह अमरत्व (मोक्ष) प्राप्तिमें समर्थ होता है ॥ ९२ ॥

यस्मादादौ बुद्धा आदिबुद्धाः प्रकृत्यैव स्वभावत एव यथा नित्यप्रकाशस्वरूपः सवितैवं नित्यबोधस्वरूपा इत्यर्थः सर्वे धर्माः सर्व आत्मानः । न च तेषां निश्चयः कर्तव्यो नित्यनिश्चितस्वरूपा इत्यर्थः । न संदिह्यमानस्वरूपा एवं नैवं चेति ।

क्योंकि जिस प्रकार सूर्य नित्य प्रकाशस्वरूप है उसी प्रकार सम्पूर्ण धर्म यानी आत्मा प्रकृति—स्वभावसे ही आदि बुद्ध—आरम्भमें ही जाने हुए अर्थात् नित्यबोधस्वरूप हैं । उनका निश्चय भी नहीं करना है; अर्थात् वे नित्यनिश्चितस्वरूप हैं—'ऐसे हैं अथवा नहीं हैं' इस प्रकार सन्दिग्धस्वरूप नहीं हैं ।

यस्य मुमुक्षोरेवं यथोक्तप्रकारेण सर्वदा बोधनिश्चयनिरपेक्षतात्मार्थं परार्थं वा यथा सविता नित्यं प्रकाशान्तरनिरपेक्षः स्वार्थं

जिस मुमुक्षुको इस तरह—उपर्युक्त प्रकारसे अपने अथवा परायेलिये सर्वदा बोधनिश्चय-सम्बन्धिनी निरपेक्षता है; जिस प्रकार सूर्य अपने अथवा परायेलिये सदा ही

परमार्थं चेत्येवं भवति क्षान्ति-बोधकर्तव्यतानिरपेक्षता सर्वदा स्वात्मनि सोऽमृतत्वायामृत-भावाय कल्पते मोक्षाय समर्थो भवतीत्यर्थः ॥ ९२ ॥

प्रकाशान्तरकी अपेक्षा नहीं करता उसी प्रकार जिसे सर्वदा अपने आत्मामें शान्ति-बोधकर्तव्यताकी निरपेक्षता रहती है वह अमृतत्व—अमृतभाव अर्थात् मोक्षके लिये समर्थ होता है ॥ ९२ ॥

तथा नापि शान्तिकर्तव्यतात्मनीत्याह—

इसी प्रकार आत्मामें शान्ति-कर्तव्यता भी नहीं है—इसी आशयसे कहते हैं—

आदिशान्ता ह्यनुत्पन्नाः प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः ।
सर्वे धर्माः समाभिन्ना अजं साम्यं विशारदम् ॥ ९३ ॥

सम्पूर्ण आत्मा नित्यशान्त, अजन्मा स्वभावसे ही अत्यन्त उपरत तथा सम और अभिन्न हैं। [इस प्रकार क्योंकि] आत्मतत्त्व अज, समतारूप और विशुद्ध है [इसलिये उसकी शान्ति अथवा मोक्ष कर्तव्य नहीं है] ॥ ९३ ॥

यस्मादादिशान्ता नित्यमेव शान्ता अनुत्पन्ना अजाश्च प्रकृत्यैव सुनिर्वृताः सुष्ठूपरतस्वभावा इत्यर्थः, सर्वे धर्माः समाश्चाभिन्नाश्च समाभिन्नाः, अजं साम्यं विशारदं विशुद्धमात्मतत्त्वं यस्मात्तस्माच्छान्तिर्मोक्षो वा नास्ति कर्तव्य इत्यर्थः, न हि नित्यैक-

क्योंकि सम्पूर्ण धर्म आदिशान्त—सर्वदा ही शान्तस्वरूप, अनुत्पन्न—अजन्मा, स्वभावसे ही सुनिर्वृत अर्थात् अत्यन्त उपरत स्वभाववाले हैं; तथा सम और अभिन्न हैं; इस प्रकार, क्योंकि आत्मतत्त्व अजन्मा, समतारूप और विशुद्ध है, इसलिये उसकी शान्ति अथवा मोक्ष कर्तव्य नहीं है—यह इसका अभिप्राय है, क्योंकि उस नित्य एकस्वभावके लिये

स्वभावस्य कृतं किंचिदर्थवत्स्यात् ॥ ९३ ॥

कुछ भी करना सार्थक नहीं हो सकता ॥ ९३ ॥

आत्मज्ञ ही अकृपण है

ये यथोक्तं परमार्थतत्त्वं प्रतिपन्नास्ते एवाकृपणा लोके कृपणा एवान्य इत्याह—

जो लोग उपर्युक्त परमार्थतत्त्वको समझते हैं लोकमें वे ही अकृपण हैं, उनके सिवा और सब तो कृपण ही हैं—इसी भावको लेकर कहते हैं—

वैशारद्यं तु वै नास्ति भेदे विचरतां सदा ।
भेदनिम्नाः पृथग्वादास्तस्मात्ते कृपणाः स्मृताः ॥ ९४ ॥

जो लोग सर्वदा भेदमें ही विचरते रहते हैं, निश्चय ही उनकी विशुद्धि नहीं होती । द्वैतवादी लोग भेदकी ही ओर प्रवृत्त होनेवाले हैं; इसलिये वे कृपण (दीन) माने गये हैं ॥ ९४ ॥

यस्माद्भेदनिम्ना भेदानुयायिनः संसारानुगा इत्यर्थः; के ? पृथग्वादाः पृथङ्नाना वस्त्वित्येवं वदनं येषां ते पृथग्वादा द्वैतिन इत्यर्थः, तस्मात्ते कृपणाः क्षुद्राः स्मृताः; यस्माद्वैशारद्यं विशुद्धिर्नास्ति तेषां भेदे विचरतां द्वैतमार्गेऽविद्याकल्पिते सर्वदा वर्तमानानामित्यर्थः । अतो युक्तमेव तेषां कार्पण्यमित्यभिप्रायः ॥ ९४ ॥

क्योंकि वे भेदनिम्न—भेदानुयायी अर्थात् संसारके अनुगामी हैं, कौन लोग ? पृथक्वादी—'पृथक् अर्थात् नाना वस्तु है'—ऐसा जिनका कथन है वे पृथक्वादी अर्थात् द्वैतीलोग, इसलिये वे कृपण—क्षुद्र माने गये हैं; क्योंकि भेद अर्थात् अविद्यापरिकल्पित द्वैतमार्गमें सर्वदा विचरनेवाले उन लोगोंका वैशारद्य अर्थात् विशुद्धि नहीं होती । अतः उनका कृपण होना ठीक ही है—ऐसा इसका अभिप्राय है ॥ ९४ ॥

आत्मज्ञका महाज्ञानित्व

यदिदं परमार्थतत्त्वममहात्मभिरपण्डितैर्वेदान्तबहिःष्ठैः क्षुद्रैरल्पप्रज्ञैरनवगाह्यमित्याह—

यह जो परमार्थतत्त्व है वह क्षुद्रचित्त अविवेकी तथा वेदान्तके अनधिकारी क्षुद्र और मन्दबुद्धि पुरुषोंकी समझमें नहीं आ सकता—इस आशयसे कहते हैं—

अजे साम्ये तु ये केचिद्भविष्यन्ति सुनिश्चिताः ।
ते हि लोके महाज्ञानास्तच्च लोको न गाहते ॥ ९५ ॥

जो कोई उस अज और साम्यरूप परमार्थतत्त्वमें अत्यन्त निश्चित होंगे वे ही लोकमें परम ज्ञानी हैं । उस तत्त्वका सामान्य लोक अवगाहन नहीं कर सकता ॥ ९५ ॥

अजे साम्ये परमार्थतत्त्व एवमेवेति ये केचित्स्त्र्यादयोऽपि सुनिश्चिता भविष्यन्ति चेत्त एव हि लोके महाज्ञाना निरतिशयतत्त्वविषयज्ञाना इत्यर्थः ।

उस अज और साम्यरूप परमार्थतत्त्वमें जो कोई—स्त्री आदि भी 'यह ऐसा ही है' इस प्रकार पूर्णतया निश्चित होंगे वे ही लोकमें महाज्ञानी अर्थात् निरतिशय तत्त्वविषयक ज्ञानवाले हैं ।

तच्च तेषां वर्त्म तेषां विदितं परमार्थतत्त्वं सामान्यबुद्धिरन्यो लोको न गाहते नावतरति न विषयीकरोतीत्यर्थः । "सर्वभूतात्मभूतस्य सर्वभूतहितस्य च । देवा अपि मार्गे मुह्यन्त्यपदस्य पदैषिणः । शकुनीनामिवाकाशे

उस—उनके मार्ग अर्थात् उन्हें विदित हुए परमार्थतत्त्वमें अन्य साधारण बुद्धिवाला मनुष्य अवगाहन—अवतरण नहीं करता अर्थात् उसे विषय नहीं कर सकता । "जो सम्पूर्ण भूतोंका आत्मभूत और सब प्राणियोंका हितकारी है उस पदरहित (प्राप्य पुरुषार्थहीन) महात्माके पदको जाननेकी इच्छावाले देवता भी उसके मार्गमें मोहको प्राप्त हो जाते हैं तथा आकाशमें

गतिर्नैवोपलभ्यते" (महा० शा० २३९ । २३, २४) इत्यादिस्मरणात् ॥ ९५ ॥

जैसे पक्षियोंका मार्ग नहीं मिलता उसी प्रकार उसकी गतिका पता नहीं चलता" इत्यादि स्मृतिसे भी यही प्रमाणित होता है ॥ ९५ ॥

कथं महाज्ञानत्वमित्याह—

उनका महाज्ञानित्व किस प्रकार है ? सो बतलाते हैं—

अजेष्वजमसंक्रान्तं धर्मेषु ज्ञानमिष्यते ।
यतो न क्रमते ज्ञानमसङ्गं तेन कीर्तितम् ॥ ९६ ॥

अजन्मा आत्माओंमें स्थित अज (नित्य) ज्ञान असंक्रान्त (अन्य विषयोंसे न मिलनेवाला) माना जाता है । क्योंकि वह ज्ञान अन्य विषयोंमें संक्रमित नहीं होता इसलिये उसे असंग बतलाया गया है ॥ ९६ ॥

अजेष्वनुत्पन्नेष्वचलेषु धर्मेष्वात्मस्वजमचलं च ज्ञानमिष्यते सवितरीवौष्ण्यं प्रकाशश्च यतस्तस्मादसंक्रान्तमर्थान्तरे ज्ञानमजमिष्यते । यस्मान्न क्रमतेऽर्थान्तरे ज्ञानं तेन कारणेनासङ्गं तत्कीर्तितमाकाशकल्पमित्युक्तम् ॥९६॥

क्योंकि अज-अनुत्पन्न यानी अचल धर्मों—आत्माओंमें सूर्यमें उष्णता और प्रकाशके समान अज अर्थात् अचल ज्ञान माना जाता है अतः अर्थान्तरमें असंक्रान्त (अननुप्रविष्ट) ज्ञानको अजन्मा (नित्य) स्वीकार किया जाता है । क्योंकि वह ज्ञान दूसरे विषयोंमें संक्रमित नहीं होता इसलिये उसे असंग कहा गया है; अर्थात् वह आकाशके समान है—ऐसा कहा है ॥ ९६ ॥

जातवादमें दोषप्रदर्शन

अणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये जायमानेऽविपश्चितः ।
असङ्गता सदा नास्ति किमुतावरणच्युतिः ॥ ९७ ॥

[अन्य वादियोंके मतानुसार] किसी अणुमात्र भी विधर्मी वस्तुकी उत्पत्ति माननेपर तो अविवेकी पुरुषकी असंगता भी कभी नहीं हो सकती; फिर उसके आवरणनाशके विषयमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ९७ ॥

इतोऽन्येषां वादिनामणुमात्रेऽपि वैधर्म्ये वस्तुनि बहिरन्तर्वा जायमान उत्पाद्यमानेऽविपश्चितोऽविवेकिनोऽसङ्गता असङ्गत्वं सदा नास्ति किमुत वक्तव्यमावरणच्युतिर्बन्धनाशो नास्तीति ॥ ९७ ॥

इससे भिन्न जो अन्य वादी हैं उनके मतानुसार अणुमात्र अर्थात् थोड़ी-सी भी विधर्मी वस्तुके बाहर या भीतर उत्पन्न होनेपर तो अविपश्चित्—अविवेकी पुरुषकी कभी असङ्गता भी नहीं हो सकती फिर उसकी आवरणच्युति अर्थात् बन्धनाश नहीं होता—इसके सम्बन्धमें तो कहना ही क्या है ? ॥ ९७ ॥

आत्माका स्वाभाविक स्वरूप

तेषामावरणच्युतिर्नास्तीति ब्रुवतां स्वसिद्धान्तेऽभ्युपगतं तर्हि धर्माणामावरणम् । नेत्युच्यते ।

उनकी आवरणच्युति नहीं होती—ऐसा कहकर तो तुमने अपने सिद्धान्तमें भी आत्माओंका आवरण स्वीकार कर लिया [—ऐसा यदि कोई कहे तो] इसपर हमारा कहना है—नहीं,

अलब्धावरणाः सर्वे धर्माः प्रकृतिनिर्मलाः ।
आदौ बुद्धास्तथा मुक्ता बुध्यन्त इति नायकाः ॥ ९८ ॥

समस्त आत्मा आवरणशून्य, स्वभावसे ही निर्मल तथा नित्य बुद्ध और मुक्त हैं । तथापि स्वामीलोग (वेदान्ताचार्यगण) 'वे जाने जाते हैं' ऐसा [उनके विषयमें कहते हैं] ॥ ९८ ॥

अलब्धावरणाः—अलब्धमप्राप्तमावरणमविद्यादिबन्धनं येषां

'अलब्धावरणाः'—जिन्हें आवरण अर्थात् अविद्यादिरूप बन्धन लाभ

न्मृत्योरशुद्धेर्वियुक्तः पुरुषः संस्कृतः स्यादतो मृत्योरतितरणार्था देवतादर्शनकर्मसमुच्चयलक्षणा ह्यविद्या ।

सम्भूत्यपवादे हेतुः

एवमेव एषणालक्षणाविद्याया मृत्योरतितीर्णस्य विरक्तस्योपनिषच्छास्त्रार्थालोचनपरस्य नान्तरीयकी परमात्मैकत्वविद्योत्पत्तिरिति पूर्वभाविनीमविद्यामपेक्ष्य पश्चाद्भाविनी ब्रह्मविद्यामृतत्वसाधनैकेन पुरुषेण सम्बध्यमानाविद्यया समुच्चीयत इत्युच्यते । अतोऽन्यार्थत्वादमृतत्वसाधनं ब्रह्मविद्यामपेक्ष्य निन्दार्थ एव भवति संभूत्यपवादः । यद्यप्यशुद्धिवियोगहेतुः अतन्निष्ठत्वात् । अत एव संभूतेः अपवादात्संभूतेरापेक्षिकमेव सत्त्वमिति परमार्थसदात्मैकत्वमपेक्ष्य अमृताख्यः संभवः प्रतिषिध्यते

लिये है । इस प्रकार एषणाद्वयरूप मृत्युकी अशुद्धिसे मुक्त हुआ पुरुष ही संस्कारसम्पन्न हो सकता है । अतः देवतादर्शन और कर्मसमुच्चयलक्षणा अविद्या मृत्युसे पार होनेके लिये ही है ।

इसी प्रकार एषणाद्वयलक्षणा अविद्यारूप मृत्युसे पार हुए तथा उपनिषच्छास्त्रके अर्थकी आलोचनामें तत्पर विरक्त पुरुषको ब्रह्मात्मैक्यरूप विद्याकी उत्पत्ति दूर नहीं है; इसीलिये ऐसा कहा जाता है कि पहले होनेवाली अविद्याकी अपेक्षासे पीछे प्राप्त होनेवाली ब्रह्मविद्या, जो अमृतत्वका साधन है, एक ही पुरुषसे सम्बन्ध रखनेके कारण अविद्यासे समुच्चित की जाती है । अतः अमृतत्वके साक्षात् साधन ब्रह्मविद्याकी अपेक्षा अन्य प्रयोजनवाला होनेसे सम्भूतिका अपवाद निन्दाहीके लिये किया गया है । वह यद्यपि अशुद्धिके क्षयका कारण है, तो भी अतन्निष्ठ (मोक्षका साक्षात् हेतु न) होनेके कारण [उसकी निन्दा ही की गयी है] । इसलिये सम्भूतिका अपवाद किया जानेके कारण उसका सत्त्व आपेक्षिक ही है; इसी आशयसे परमार्थ सत् आत्मैकत्वकी अपेक्षासे अमृतसंज्ञक सम्भूतिका प्रतिषेध किया गया है ।

विद्योत्पत्त्यनन्तरं जीवभावस्य अनुपपत्ति-प्रतिपादनम्

एवं मायानिर्मितस्यैव जीवस्याविद्यया प्रत्युपस्थापितस्याविद्यानाशे स्वभावरूपत्वात्परमार्थतः को न्वेनं जनयेत् । न हि रज्ज्वामविद्यारोपितं सर्पं पुनर्विवेकतो नष्टं जनयेत्कश्चित् । तथा न कश्चिदेनं जनयेदिति को न्वित्याक्षेपार्थत्वात्कारणं प्रतिषिध्यते । अविद्योद्भूतस्य नष्टस्य जनयितृकारणं न किंचिदस्तीत्यभिप्रायः "नायं कुतश्चिन्न बभूव कश्चित्" (क० उ० १ । २ । १८) इति श्रुतेः ॥ २५ ॥

इस प्रकार अविद्याद्वारा खड़ा किया गया मायारचित जीव जब अविद्याका नाश होनेपर अपने स्वरूपसे स्थित हो जाता है तब उसे परमार्थतः कौन उत्पन्न कर सकता है ? रज्जुमें अविद्यासे आरोपित सर्पको, विवेकसे नष्ट हो जानेपर, फिर कोई उत्पन्न नहीं कर सकता । उसी प्रकार इसे भी कोई उत्पन्न नहीं कर सकता । 'को न्वेनम्' इत्यादि श्रुति आक्षेपार्थक है [प्रश्नार्थक नहीं] इसलिये इससे कारणका प्रतिषेध किया जाता है । इसका तात्पर्य यह है कि अविद्यासे उत्पन्न हुए इस जीवका विद्याद्वारा नाश हो जानेपर फिर इसे उत्पन्न करनेवाला कोई भी कारण नहीं है, जैसा कि "यह कहींसे (किसी कारणसे) किसी रूपमें उत्पन्न नहीं हुआ" इत्यादि श्रुतिसे प्रमाणित होता है ॥ २५ ॥

अनात्मप्रतिषेधसे अजन्मा आत्मा प्रकाशित होता है

स एष नेति नेतीति व्याख्यातं निह्नुते यतः ।
सर्वमग्राह्यभावेन हेतुनाजं प्रकाशते ॥ २६ ॥

क्योंकि 'स एष नेति नेति' (वह यह आत्मा यह नहीं है, यह नहीं है) इत्यादि श्रुति आत्माके अग्राह्यत्वके कारण [उसके विषयमें] पहले बतलाये हुए सभी भावोंका निषेध करती है, अतः इस [निषेधरूप] हेतुके द्वारा ही अजन्मा आत्मा प्रकाशित होता है ॥ २६ ॥